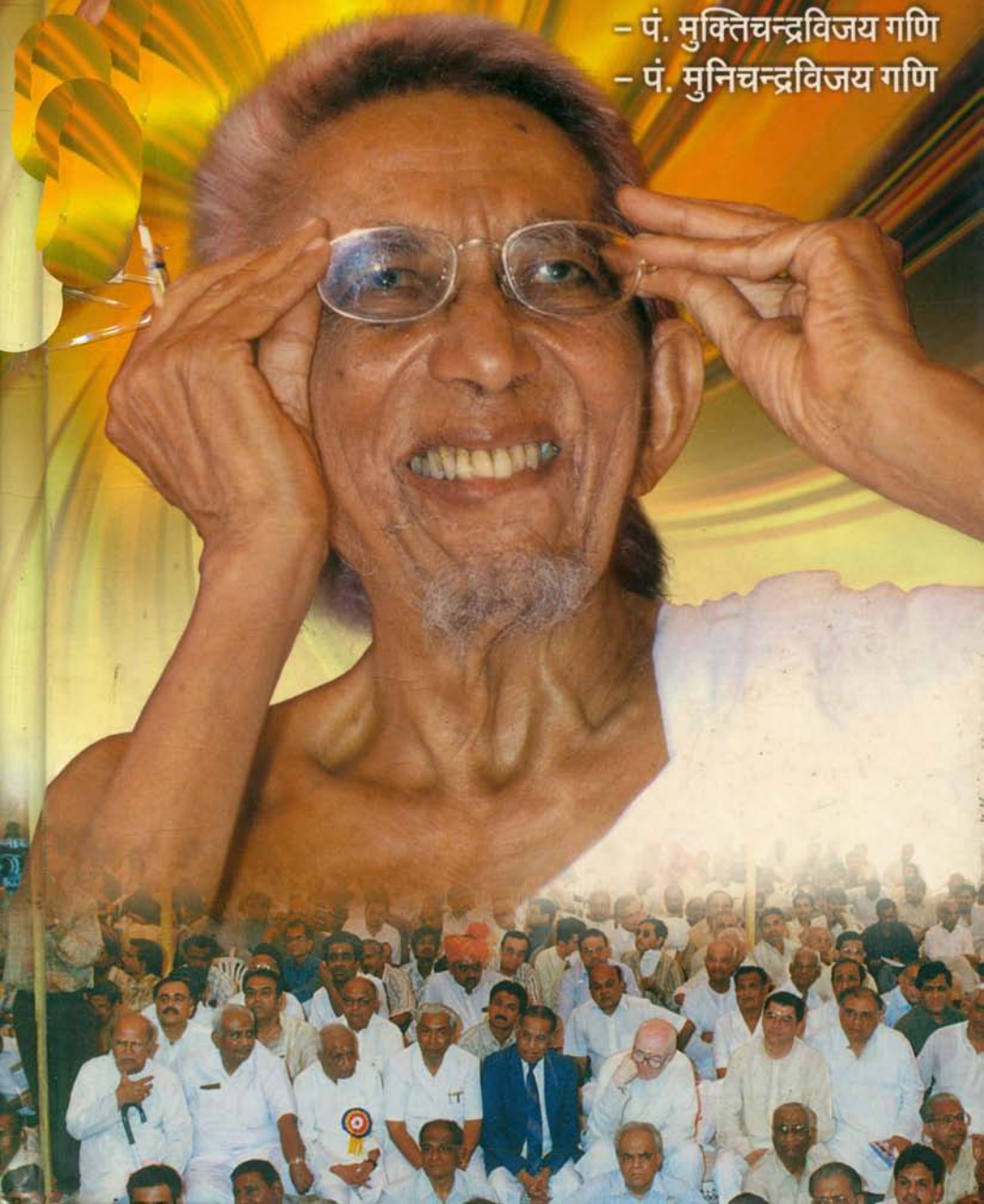


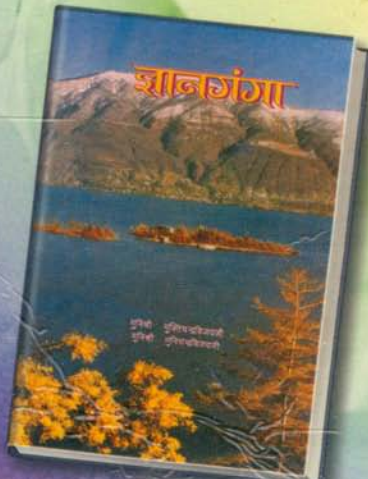
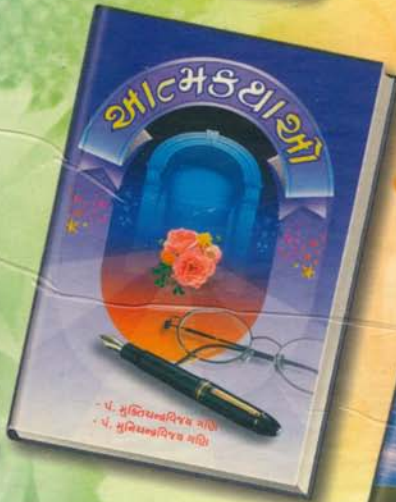
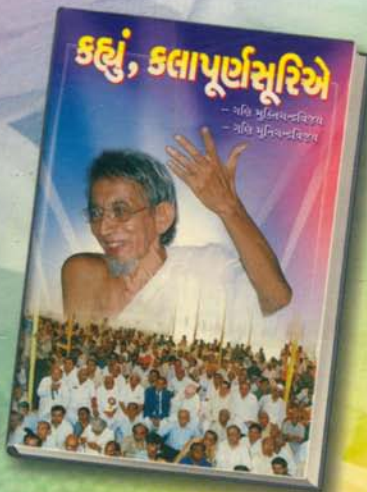
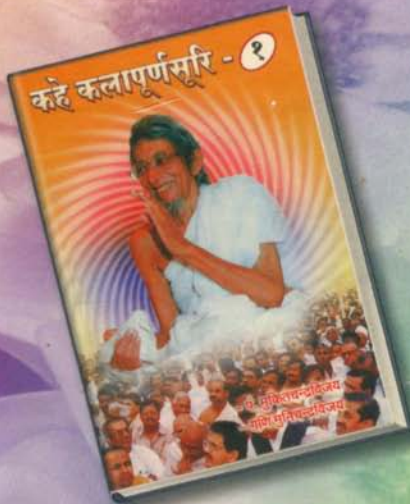
कहे कलापूर्णस्मृति-२

- पं. मुक्तिचन्द्रविजय गणि

- पं. मुनिचन्द्रविजय गणि



પૂજ્ય બંધુ-ચુ



2008





कहे कलापूर्णसूरि - २

(अध्यात्मयोगी पू. आचार्यश्री की साधनापूत वाचना - जश)
(दि. २०-१-२०००, गुरुवार से दि. १८-७-२०००, मंगलवार)

— वाचना —

पूज्य आचार्यश्री विजयकलापूर्णसूरिश्वरजी म.सा.

— आलंबन —

पूज्यश्री के गुरुमंदिर की प्रतिष्ठा
वि.सं. २०६२, फाल्गुन वद ६,
दि. १९-०२-२००६, रविवार, शंखेश्वर महातीर्थ

— प्रेरणा —

पूज्य आचार्यश्री विजयकलाप्रभसूरिश्वरजी म.सा.
पू.पं.श्री कल्पतरुविजयजी गणिवर

— अवतरण - सम्पादन —

पंन्यास मुक्तिचन्द्रविजय गणि
पंन्यास मुनिचन्द्रविजय गणि

— हिन्दी-अनुवाद —

श्रीयुत नैनमलजी सुराणा
(एम.ए., बी.एड., साहित्यरत्न)

— प्रकाशक —

श्री कलापूर्णसूरि साधना स्मारक ट्रस्ट

आगम मंदिर के पीछे, पो. शंखेश्वर, जि. पाटण (उ.गु.), पीन : ३८४ २४६.

श्री शान्ति जिन आराधक मंडल

P.O. मनफरा (शान्तिनिकेतन), ता. भचराऊ, जी. कच्छ, Pin : 370 140.

पुस्तक :

कहे कलापूर्णसूरि-२

(पू. आचार्यश्री की साधना-पूत वाणी)

प्रथम आवृत्ति : वि.सं. २०६२

अवतार-संपादन :

पंन्यास मुक्तिचन्द्रविजय गणि

पंन्यास मुनिचन्द्रविजय गणि

मूल्य : रु. १४०/-

प्रत : १०००

संपर्क सूत्र :

❀ कवरलाल एन्ड कां.

२७, रघुनायकुलु स्ट्रीट, चेन्नई - ३.

❀ टीकु आर. सावला

POPULAR PLASTIC HOUSE

39, D. N. Road, Sitaram Building, 'B' Block, Near Crawford Market,
MUMBAI - 400 001. • Ph. : (022) 23436369, 23436807, 23441141
Mobile : 9821406972

❀ **SHANTILAL / CHAMPAK B. DEDHIA**

20, Pankaj 'A', Plot No. 171, L.B.S. Marg, Ghatkopar (W),
MUMBAI - 400 086. • Ph. : (022) 25101990

❀ **B. F. JASRAJ LUNKED**

N. 3, Balkrishna Nagar, P.O. MANNARGUDI - 614 001 (T.N.)
Ph. (04367) 252479

मुद्रक :

Tejas Printers

403, Vimal Vihar Apartment, 22, Saraswati Society, Nr. Jain Merchant
Society, Paldi, **AHMEDABAD - 380 007. • Ph. : (079) 26601045**

पुनः प्रकाशन के प्रसंग पर

सुविद्यांजन-स्पर्शथी आंख ज्यारे,
अविद्यानुं अंधारुं भारे विदारे;
जुए ते क्षणे योगीओ ध्यान-तेजे,
निजात्मा विषे श्रीपरात्मा सहेजे ।

- ज्ञानसार १४/८ (गुर्जर पद्यानुवाद)

ज्ञानसार में इस प्रकार आते वर्णन के मुताबिक ही पूज्यश्री का जीवन था, यह सब लोग अच्छी तरह से जानते हैं। ये महायोगी अपने हृदय में भगवान को देखते थे, जब कि लोग उनमें भगवान को देखते थे।

ऐसे सिद्धयोगी की वाणी सुनने-पढ़ने के लिए लोग लालायित हों - यह स्वाभाविक है।

पूज्यश्री की उपस्थिति में ही 'कहे कलापूर्णसूरि' गुजराती पुस्तक के चारों भाग प्रकाशित हो चुके थे, जिज्ञासु आराधक लोग द्वारा अप्रतिम प्रशंसा भी पाये हुए थे। विगत बहुत समय से आराधकों की ओर से इन पुस्तकों की बहुत डीमांड थी, किन्तु प्रतियां खतम हो जाने पर हम उस डीमांड को सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे। हिन्दी प्रथम भाग प्रकाशित होने पर हिन्दीभाषी लोगों की डीमांड आगे के भागों के लिए भी बहुत ही थी।

शंखेश्वर तीर्थ में वि.सं. २०६२, फा.व. ६, दि. १९-०२-२००६ को पूज्यश्री के गुरुमंदिर की प्रतिष्ठा के पावन प्रसंग के उपलक्ष में प्रस्तुत पुस्तक के चारों भाग हिन्दी और गुजराती में एकसाथ प्रकाशित हो रहे हैं, यह बहुत ही आनंदप्रद घटना है। इस ग्रंथ के पुनः प्रकाशन के मुख्य प्रेरक परम शासन प्रभावक वर्तमान समुदाय-नायक पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयकलाप्रभसूरीश्वरजी म.सा., विद्वद्भ्यं पू. पंन्यासप्रवरश्री कल्पतरुविजयजी गणिवर एवं प्रवक्ता पू. पंन्यासप्रवरश्री कीर्तिचन्द्रविजयजी गणिवर - आदि को हम वंदन करते हैं।

इन ग्रंथों का बहुत ही प्रयत्नपूर्वक अवतरण-संपादन व पुनः



संपादन करनेवाले पू. पंन्यासजी श्री मुक्तिचन्द्रविजयजी गणिवर एवं पू. पंन्यासजी श्री मुनिचन्द्रविजयजी गणिवर का हम बहुत-बहुत आभार मानते हैं ।

१ से ३ भाग तक हिन्दी-अनुवाद करनेवाले श्रीयुत नैनमलजी सुराणा और चौथे भाग का हिन्दी अनुवाद करनेवाले पू. मुनिश्री मुक्तिश्रमणविजयजी म. के हम बहुत-बहुत आभारी हैं ।

दिवंगत पू. मुनिवर्यश्री मुक्तानंदविजयजी का भी इसमें अपूर्व सहयोग रहा है, जिसे याद करते हम गद्गद् बन रहे हैं ।

इसके प्रूफ-रीडिंग में २६९ वर्धमान तप की ओली के तपस्वी पू.सा. हंसकीर्तिश्रीजी के शिष्या पू.सा. हंसबोधिश्रीजी का तथा हमारे मनफरा गांव के ही रत्न पू.सा. सुवर्णरेखाश्रीजी के शिष्या पू.सा. सम्यग्दर्शनाश्रीजी के शिष्या पू.सा. स्मितदर्शनाश्रीजी का सहयोग मिला है । हम उनके चरणों में वंदन करते हैं ।

आज तक मनफरा में से ऐसे अनेक व्यक्ति दीक्षित बने हैं, जिनके पुण्य से ही मानो भूकंप के बाद हमारा पूरा गांव शान्तिनिकेतन के रूप में अद्वितीय रूप से बना है । एक ही संकुल में एक समान ६०० जैन बंगले हो - ऐसा शायद पूरे विश्व में यही एक उदाहरण होगा । लोकार्पण विधि के बाद उसी वर्ष वागड समुदाय नायक पूज्य आचार्यश्री का चातुर्मास होना भी सौभाग्य की निशानी है ।

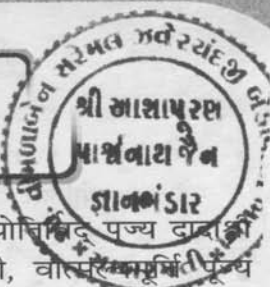
हिन्दी प्रकाशन में आर्थिक सहयोग देनेवाले फलोदी चातुर्मास-समिति एवं फलोदी निवासी (अभी चेन्नई) कवरलाल चेरीटेबल ट्रस्ट व चेन्नई के अन्य दाताओं को विशेषतः अभिनंदन देते हैं ।

श्रीयुत धनजीभाइ गेलाभाइ गाला परिवार (लाकडीया) द्वारा निर्मित गुरु-मंदिर की प्रतिष्ठा के पावन प्रसंग के उपलक्ष में प्रकाशित होते इन ग्रंथरत्नों को पाठकों के कर-कमल में रखते हम अत्यंत हर्ष का अनुभव करते हैं ।

अत्यंत सावधानीपूर्वक चारों भागों को हिन्दी-गुजराती में मुद्रित कर देनेवाले तेजस प्रिन्टर्स वाले तेजस हसमुखभाइ शाह (अमदावाद) को भी कैसे भूल सकते हैं ?

- प्रकाशक

प्रकाशवर्तीय... (गुजराती प्रथमावृत्ति में से)



वागड़ समुदाय की उज्ज्वल परम्परा के वाहक ज्योतिषिद पूज्य दादाश्री पद्मविजयजी, संयममूर्ति पूज्य दादाश्री जीतविजयजी, वात्सल्यमूर्ति पूज्य आचार्यश्री विजयकनकसूरिजी, परम क्रियारुचि ओसवाल समाजोद्धारक पूज्य आचार्यश्री विजयदेवेन्द्रसूरिजी आदि महात्माओं का हम पर अनेक उपकार हैं।

उक्त उज्ज्वल परम्परा के वाहक पुन्य पुरुष पूज्य आचार्यश्री विजयकलापूर्णसूरीश्वरजी म.सा. को जैन जगत् में कौन नहीं जानता? अखिल भारत वर्ष के जैनों में अभूतपूर्व ख्याति प्राप्त पूज्य आचार्यश्री आज वागड़ समुदाय के नायक के रूप में हैं, जिसके लिए हम अत्यन्त गौरवान्वित हैं।

पूज्यश्री के दर्शनार्थ सैकड़ों की संख्या में लोग निरन्तर आते रहते हैं। वे वन्दन, वासक्षेप, वार्तालाप, व्याख्यान-श्रवण आदि के अभिलाषी होते हैं, परन्तु उन सबकी ये समस्त अभिलाषाएं पूर्ण नहीं हों पातीं।

व्याख्यान श्रवण करने को मिले तो भी दूर बैठने के कारण तथा पूज्यश्री की आवाज मन्द होने के कारण अच्छी तरह सुना नहीं जाता। पूज्यश्री की वाणी का लाभ सभी लोग प्राप्त कर सकें, उस उद्देश्य से प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

इससे पूर्व, 'कहे कलापूर्णसूरि-१' नामक ग्रन्थ का हम प्रकाशन कर चुके हैं, जिसमें वांकी तीर्थ में दी गई वाचना का संग्रह था। लोगों की अत्यन्त मांग को देखते हुए और उनकी विशेष आतुरता को देखकर इस ग्रन्थ का भी हम प्रकाशन कर रहे हैं। आशा है, श्रद्धालु लाभ उठायेंगे।

वांकी तीर्थ में चातुर्मास के बाद पूज्यश्री खचाखच कार्यक्रम में व्यस्त रहे, यद्यपि पूज्यश्री की निश्रा में हमेशा ऐसे ही खचाखच कार्यक्रम रहते हैं।

वांकी चातुर्मास बाद पालीताना तक के कार्यक्रमों की तनिक झलक :
वि.सं. २०५६ :

- मार्ग. व. १२-१३ : भुज नगर में अंजनशलाका एवं प्रतिष्ठा और नीताबहन की दीक्षा।
- मार्ग. व. ३० : माधापर पू.सा.श्री अनन्तकिरणाश्रीजी की वर्धमानतप की १०० ओली का पारणा।
- मार्ग. सु. ३ : वांकी तीर्थ में, श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिष्ठा।

- मार्ग. सु. ५ : वांकी तीर्थ में, श्रीमती पन्नाबेन दिनेशभाई खजी महेता आयोजित उपधानतप की माला ।
- पो. व. ३ : मुन्द्रा, उपाश्रय-उद्घाटन ।
- पो. व. ११ : मांडवी, सा.श्री अमीवर्षाश्रीजी की वर्धमानतप की १०० ओली का पारणा ।
- माघ व. ६ : नया अंजार, प्रतिष्ठा एवं रुपेशकुमार, रीट, रंजन, ममता, शर्मिष्ठा, मंजुला, तारा, सरला, हंसा, दर्शना, सुनीता आदि १२ की दीक्षा (१ भाई + ११ बहनें)
- माघ व. ८ : धमडका, प्रतिष्ठा ।
- माघ सु. ६ : वांकी तीर्थ में, आचार्य-पंन्यास-गणि-पद-प्रदान प्रसंग ।
- माघ सु. १३ : गांधीधाम, प्रतिष्ठा महोत्सव.
- माघ व. २ से फा. व. ५ : मनफरा, मातुश्री वेजीबेन गांगजी लधा देढीया परिवार द्वारा निर्मित गुरुमंदिर में पू. दादाश्री जीतविजयजी, पू. कनकसूरिजी तथा पू. देवेन्द्रसूरिजी - ये तीन गुरुमूर्ति की प्रतिष्ठा तथा पू.सा.श्री प्रभंजनाश्रीजी, पू.सा.श्री सौम्यज्योतिश्रीजी, पू.सा.श्री सौम्यकीर्तिश्रीजी के वर्धमानतप की २०० (१०० + १००) एवं १०० ओली का पारणा ।
- फा. व. ६ से फा. व. प्र. १२ : मातुश्री नांगलबेन मणसी लखधीर कारिया - परिवार आयोजित मनफरा-कटारिया छ'री पालक संघ ।
- फा. व. द्वि. १२ से चै.सु. ५ : मातुश्री पालइबेन गेलाभाइ गाला परिवार आयोजित लाकडिया से पालीताना छ'री पालक संघ ।

वांकी के बाद लाकडिया तक कार्यक्रमों की व्यस्तता के कारण पूज्यश्री की वाचनाएं खास कर हो न सकी । हमारे मनफरा गांव में पूज्यश्री पधारे, पर कार्यक्रम इतने खचाखच थे के एक भी वाचना हो न सकी ।

प्रस्तुत पुस्तक में चंदाविज्जय पयन्ना पर पूज्यश्री ने दी हुई वाचना संपूर्णरूप से (फा. सु. ५ से श्रा. व. २) प्रकाशित हुई है । जिसका अवतरण-संपादन पू. गणिश्री मुक्तिचंद्रविजयजी (अभी पंन्यासजी) तथा पू. गणिश्री मुनिचन्द्रविजयजी (अभी पंन्यासजी) द्वारा किया गया है ।

गुजराती प्रेस कोपी कर देने वाले हमारे ही गांव के रत्न पू.सा. कल्पज्ञाश्रीजी के शिष्या पू.सा.श्री कल्पनंदिताश्रीजी का हम कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं ।

पूज्यश्री की दुर्लभवाणी का सब जिज्ञासुओ अपने अंतःकरण के उमंग से सत्कार करेंगे - ऐसी अपेक्षा है ।



सम्पादक की कलम से...

(गुजराती प्रथमावृत्ति में से)

जिन के अन्तरघट में अध्यात्म का भानु उदय हो चुका हो वैसे योगी की जीवन-क्रिया कैसी होगी ? वाणी कैसी होगी ? विचार धारा कैसी होगी ? उनके अस्तित्व का प्रभाव कैसा होगा ? यह जानने के लिए अध्यात्मयोगीश्री का जीवन आदर्श स्वरूप है ।

पूज्यश्री की अत्यन्त अमूर्च्छित दशा में अत्यन्त धैर्य एवं अनुद्विग्नता से होती प्रत्येक क्रिया सूचित करती है कि भीतर कुछ घटित हुआ है ।

चेहरे पर आच्छादित सदा की प्रसन्नता अन्तर में छलकते आत्मिक आनन्द की प्रतिक है ।

पूज्यश्री के मुखारविन्द से प्रस्फुटित होती सहज वाणी में कोई आवेश नहीं होता, शीघ्रता नहीं होती, चीख-पुकार नहीं होती या हाथों के अभिनय नहीं होते ।

भुजास्फालनहस्तास्य - विकाराभिनयाः परे ।

अध्यात्मसारविज्ञास्तु वदन्त्यविकृतेक्षणाः ॥

- अध्यात्मसार

ऐसी दिव्य वाणी आध्यात्मिकता की संकेत है ।

हम उन्तीस वर्षों से पूज्यश्री के सम्पर्क में हैं, पर हमने कदापि यह नहीं देखा कि उन्होंने किसी को आकर्षित करने के लिए, किसी को प्रभावित करने के लिए या स्वयं की विद्धता प्रदर्शित करने के लिए एक भी वाक्य का प्रयोग किया हो । पूज्यश्री सहज भाव से देशना देते हों और सभाजन स्वयं प्रभावित हो जाते हों तो अलग बात है, परन्तु पूज्यश्री की ओर से उसके लिए कदापि कोई प्रयत्न नहीं होता ।

मौलिक चिन्तन या मौलिक विचार जानने के अभिलाषी कदाचित् इस ग्रन्थ को पढ़कर निराश हो सकते हैं, क्योंकि पूज्यश्री तो बार बार बलपूर्वक कहते रहते हैं कि यहां मेरा कुछ भी नहीं है । मैं तो केवल माध्यम हूं, बुलवाने वाले तो भगवान हैं ।

मैं यहां कुछ भी नहीं कहता, केवल भगवान की वाणी आप के पास पहुंचाता हूं ।

यद्यपि पूज्यश्री का प्रत्येक वचन साधनापूत होता है, परन्तु पूज्यश्री अपनी अनुभूति को शास्त्रों के उदाहरणों के साथ ही जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। अतः आपको कदम-कदम पर शास्त्र-सम्मत आधार दृष्टिगोचर होंगे। शास्त्र-विरुद्ध एक भी शब्द नहीं बोला जाये, उसकी सावधानी आपको देखने को मिलेगी। वस्तुतः इतनी सावधानी की भी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि ऐसे महापुरुषों की मति शास्त्रों में ऐसी रमी हुई होती है कि उनके मुंह से स्वाभाविक तौर पर ही शास्त्र-विरुद्ध वचन निकलते ही नहीं।

इस प्रकार मौलिक चिन्तन की अपेक्षा रखनेवालों को अप्रसन्न अथवा निराश होना स्वाभाविक है।

तथाकथित मौलिक चिन्तन सचमुच 'मौलिक' होता है ? कहीं पर पढ़े हुए, कहीं सुने हुए विचारों को तनिक नये सन्दर्भों में कहने मात्र से क्या मौलिकता आ गई ? एक स्थान पर पक्षी का पंख देखा, दूसरे स्थान पर घड़ा देखा। अब आप पंखवाले घड़े की बात कह कर कहने लगे- 'यह मेरा मौलिक चिन्तन है !'

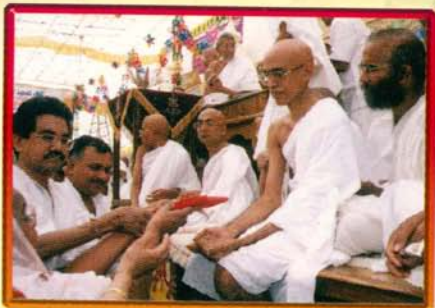
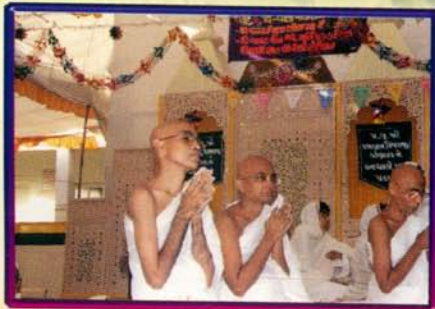
सचमुच, इस जगत् में कुछ भी मौलिक है क्या ? पूज्यश्री के शब्दों में कहें तो "यहां मौलिक कुछ भी नहीं है। मैं मौलिक विचार प्रस्तुत कर रहा हूं, यह विचार भी अभिमान-जनित है। बीज बुद्धि के निधान गणधर भगवंत भी 'त्तिबेमि' कह कर "भगवान द्वारा कथित मैं आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं। यहां मेरा कुछ भी नहीं है।" इस प्रकार कह रहे हो वहां हम जैसों का मौलिकता का दावा कितना क्षुल्लक गिना जायेगा ?

विश्व में अक्षर तो हैं ही, अक्षर मिलकर शब्द, शब्द मिलकर वाक्य, वाक्य मिलकर फकरे, फकरे मिलकर प्रकरण और प्रकरण मिलकर ग्रन्थ तैयार हुआ। इस में मेरा क्या ? ऐसा सोचनेवाले रचयिता को अभिमान कैसे आ सकता है ?

यह ग्रन्थ अर्थात् हमारी डायरी। पूज्यश्री बोलते गये, उस समय जो लिखा गया वही केवल सामान्य परिवर्तन - परिवर्द्धन के साथ यहां प्रस्तुत किया गया है। लिखते समय तनिक भाषाकीय रंग दिया गया है। अतः, इसमें भाषा पूर्णतः कदाचित् पूज्यश्री की न भी हो, परन्तु भाव तो पूज्यश्री के ही हैं।

વાંકી તીર્થે પદવી-પ્રસંગની ઝલક

મહા સુદ-૬, તા/૧૧/૨/૨૦૦૦, શુક્રવાર



સુરેન્દ્રનગર સંઘ-પ્રવેશ તથા હેમાંજલિ ઉપાશ્રય ઉદ્ઘાટન પ્રસંગ

ફા. વ. ૬, તા/૨૬/૩/૨૦૦૦, રવિવાર



પાલીતાણા-ચાતુર્માસ પ્રવેશની ઝલક

જેક સુદ-૧૦, ૧૧/૬ / ૨૦૦૦ રવિવાર





સરલ સ્વભાવી પૂ. મુનિશ્રી મુક્તાનંદવિજયજી મ.સા.

જન્મ : વિ.સં. ૧૯૮૯, ફા.વ. ૫, તા. ૧૬-૦૩-૧૯૩૩, મનફરા-કચ્છ
 દીક્ષા : વિ.સં. ૨૦૫૦, વૈ.સુ. ૫, તા. ૧૬-૦૫-૧૯૯૪, મદ્રાસ
 વડી દીક્ષા : વિ.સં. ૨૦૫૦, વૈ.વ. ૬, મદ્રાસ
 કાળ ધર્મ : વિ.સં. ૨૦૬૧, વૈ.સુ. ૮, તા. ૧૬-૦૫-૨૦૦૫, મુંબઈ

ઓ ગુરુદેવ! આપ તો અમારા હૃદયના હાર હતા, સર્વસ્વ હતા.

૬૧ વર્ષની ઉંમરે દીક્ષિત બનવા છતાં સરળતા, સમતા, સ્વાશ્રયિતા, સમર્પણશીલતા, આદિ ગુણોથી પોતાના ગુરુ - દાદાગુરુ - ગુરુભાઈ (પૂ. કલાપૂર્ણસૂરિજી - પૂ. કલાપ્રભસૂરિજી, પૂ. પં. મુક્તિચન્દ્રવિજયજી, પૂ. પં. મુનિચન્દ્રવિજયજી) આદિના હૃદયમાં એવા વસ્યા કે વિનયમાં દાખલારૂપ બન્યા. પૂજ્ય આચાર્યશ્રી અનેક વખત વિનય વગેરેમાં આપનું ઉદાહરણ આપતા. (જુઓ, કહે કલાપૂર્ણસૂરિ ૨, ફા.સુ. ૮, ચંદુરનું પ્રવચન)

છેલ્લા બે વર્ષ કેન્સરની પીડા હસતે મુખે સહન કરીને આપે સમાધિનો ઉત્કૃષ્ટ આદર્શ આપ્યો છે.

સદા આપ સર્વગથી અમારા પર આશીર્વાદ વરસાવતા રહેશો. આપના ચરણે અગણિત વંદના.

લિ.

ભાનુબેન (સંસારી પત્ની)

મહેન્દ્ર, ટીકુ (સંસારી પુત્ર)

અમૃતિબેન, નયના (સંસારી પુત્રવધૂ)

પૂજા, તીર્થ, વિરતિ (પૌત્ર-પૌત્રી)

આદિ સાવલા પરિવાર, (મનફરા-કચ્છ)

इसी प्रकार का एक ग्रन्थ 'कहे - कलापूर्णसूरि' वि.सं. २०५६, माघ शु. ६ को प्रकाशित हुआ, जिसमें वांकी तीर्थ में पूज्यश्री द्वारा दी गई वाचनाओं का सार था। उस ग्रन्थ (गुजराती) की इतनी अधिक मांग आई कि मत पूछो बात। आज भी उक्त मांग निरन्तर चालु ही है। इस पर हमें ध्यान आया कि पूज्यश्री के वैचारिक विश्व का परिचय प्राप्त करने के लिए लोग कितने आतुर हैं ? वाणी से ही आदमी के विचार ज्ञात होते हैं।

पूज्यश्री के दर्शनार्थ निरन्तर उमड़ती लोगों की अपार भीड़ हमें स्थान-स्थान पर देखने को मिली है। कोई आयोजन या किसी भी प्रकार का प्रचार नहीं होने पर भी मनुष्य की निरन्तर उमड़ती भीड़ दूसरों को तो ठीक परन्तु सदा साथ में रहनेवाले हम को भी आश्चर्य-चकित कर देती है।

कईबार मन में विचार आता है कि साक्षात् तीर्थकर भले ही देखने को नहीं मिले, परन्तु उनके पुन्य की तनिक झलक हमें यहां देखने को मिली, यह भी हमारा अहोभाग्य है। भगवान का निरन्तर ध्यान करनेवाले का भी इतना पुन्य हो तो साक्षात् भगवान का पुन्य कैसा होगा ?

अरिहंत परमात्मा पुन्य के भण्डार माने गये हैं। उनका ध्यान करनेवाला भी पुन्यवान् बनेगा ही, जिसका उत्तम उदाहरण पूज्यश्री हैं।

पूज्यश्री का जीवन, उनकी कमनीय काया, नित्य निरन्तर प्रसन्नता से छलकता उनका चेहरा आदि देखकर हमें सिद्धयोगी के लक्षणों का स्मरण हो आता है।

'शांगंधरपद्धति' नामक अजैन ग्रन्थ में योगी के प्राथमिक चिन्ह इस प्रकार बताये गये हैं -

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठत्वं, गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च, योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि चिह्नम् ॥

(स्कन्दपुराण, श्वेता श्वतर उपनिषद् आदि में भी ऐसा ही श्लोक है। हमारे योग ग्रन्थों में भी श्री हरिभद्रसूरिजी के द्वारा इस श्लोक का उद्धरण हुआ है।) निर्लोलुपता, आरोग्य, कोमलता, देह में सुगन्ध, मूत्रादि की अल्पता, देह पर चमकती आभा, चेहरे की प्रसन्नता,

आवाज में सौम्यता - ये समस्त योगी के प्राथमिक लक्षण हैं ।

ये आठों लक्षण पूज्यश्री में हमें प्रतीत होंगे ।

योग की सिद्धि हो गई या नहीं ? उसके चिह्न क्या ? स्वयं को तथा दूसरों को योग-सिद्धि का पता कैसे चलेगा ? हमारे इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर में स्कन्दपुराण कहता है कि -

अनुरागं जनो याति, परोक्षे गुणकीर्तनम् ।

न बिभ्यति च सत्त्वानि, सिद्धेर्लक्षणमुच्यते ॥

जिसे देख कर लोग अनुरागी बन जायें, अनुपस्थिति में भी जिसका गुण-गान होता रहे, जिससे प्राणी भयभीत न हों । ये योग की सिद्धि के लक्षण हैं ।

योगशास्त्र के बारहवे प्रकाश में कलिकाल-सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी कहते हैं -

अङ्गमृदुत्व - निदानं स्वेदन - मर्दन - विवर्जनेनाऽपि ।

स्निग्धीकरणमतैलं प्रकाशमानं हि तत्त्वमिदम् ॥

अमनस्कतया संजायमानया नाशिते मनःशल्ये ।

शिथिलीभवति शरीरं छत्रमिव स्तब्धतां त्यक्त्वा ॥

- योगशास्त्र, १२-३७/३८

“मालिश के बिना भी शरीर की सुकोमलता, तेल के बिना भी चमड़ी की स्निग्धता - ये भीतर चमकते तत्त्वों के बाह्य चिह्न हैं ।

मन का शल्य दूर हो, मन सम्पूर्णतया विलीन हो जाये, तब शरीर अकड़ता छोड़ कर छत्र तुल्य शिथिल हो जाता है ।”

पूज्यश्री को प्रत्यक्ष देखनवालों तथा चरण-स्पर्श करनेवालों को ध्यान होगा कि उपर्युक्तानुसार ही पूज्यश्री की त्वचा है, सुकोमल काया है, अकड़तारहित अंग हैं ।

ऐसे सिद्धयोगी के वचनामृतों का श्रवण करना यह जीवन का परम आनन्द है । यह आनन्द अन्य व्यक्ति भी प्राप्त करें, इस आशय से यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मुख्यतः वांकी के चातुर्मास के पश्चात् जहां-जहां वाचना दी गई और हमने जहां जहां उपस्थित रहकर अवतरण किया, उसका प्रकाशन किया गया है ।

वि. संवत् २०५६ की फाल्गुन शुक्ला
- ५ से 'चंदा विज्झय पयत्ता' पर प्रारम्भ हुई
वाचना श्री. कृष्णा - २ वि. संवत् २०५६,
पालीताणा में पूर्ण हो चुकी है । अतः तब
तक की वाचना इस ग्रन्थ में संगृहीत हैं ।

पूज्यश्री के आशय के विपरीत कुछ भी
लिखा गया हो तो उसके लिए अन्तर से
मिच्छामि दुःखडं ।

- गणि मुक्तिचन्द्रविजय (अभी पंन्यासजी)

- गणि मुनिचन्द्रविजय (अभी पंन्यासजी)

खिमईबेन जैन धर्मशाला

तलेटी रोड, पालीताना-३६४ २७०.

(जिला भावनगर, गुजरात)

श्रावण, कृष्णा-३, बुधवार, दि. १८-७-२०००



सहायकों को धन्यवाद...

- ❧ श्री जैन तपागच्छ धर्मशाला, फलोदी..... ६२५
- ❧ श्री फलोदी चातुर्मास-व्यवस्था समिति, फलोदी (ज्ञानद्रव्य)
- ❧ कवरलाल चेरीटेबल ट्रस्ट, चेन्नई..... १२५
- ❧ M. M. Exporters (ह. : रमेश मुथा, चेन्नई)..... १२५
- ❧ कलापूर्ण जैन आराधक मंडल, चेन्नई..... ५०
- ❧ कोचर टेक्स्टाइल्स, फलोदी, चेन्नई..... ४०
- ❧ एस. देवराजजी, चेन्नई..... ४०
- ❧ जतनाबाई पारसमलजी लुक्कड़..... ४०
- ❧ स्व. श्रीमती चंपाबाई
(W/o. श्री मुरलीधरजी मालू, चेन्नई - धोबीपेट, फलोदी) . ४०
- ❧ स्व. श्रीमती पानीबाई
(W/o. श्री उदयरजजी बरडिया, चेन्नई - टी.नगर, फलोदी) ४०
- ❧ श्रीमान् कल्याणमलजी हीरालालजी वैद, चेन्नई, फलोदी... ४०
- ❧ चेन्नई - हस्तिनापुर यात्रिक संघ, चेन्नई..... २५
- ❧ सार्धर्मिक बंधु, चेन्नई..... २५
- ❧ गिरधारीलालजी कोचर, चेन्नई..... २५
- ❧ B. F. जसराज लुक्कड़ एन्ड सन्स, मन्नारगुडी, फलोदी
(स्व. पू. आ. श्री की निश्रा में १२१ पू. साधु-साध्वीओं
के साथ शत्रुंजय डेम से शत्रुंजय के छ'री पालक संघ
(१९-५-२००० से २४-५-२०००) की स्मृति में)..... २५
- ❧ सुजानमलजी अशोककुमारजी लुक्कड़, चेन्नई-फलोदी..... २५
- ❧ संतोषजी सोनी..... १२

कच्छ वागड़ देशोद्धारक अध्यात्मयोगी पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजयकलापूर्णसूरीश्वरजी म.सा. का वि.सं. २०५७ का अंतिम चातुर्मास जन्मभूमि फलोदी में हुआ। पूज्यश्री के असीम उपकारों को हम कभी भूल नहीं सकते।

पूज्यश्री सदा के लिए अपनी अमृतमय तत्त्व-वाणी से उपकार कर ही रहे हैं।

चलो, पान करें अमृत-वाणी का...

इन पुस्तकों के माध्यम से।



२०-१-२०००, गुरुवार
पोष शुक्ला-१४ : अंजार

* भगवान महावीर की प्रथम देशना निष्फल होने का कारण क्या है ?

‘काल विषम है’ यह कहकर हट मत जाना । काल को विषम बनाने वाले हम ही हैं । हमारा ही वक्र एवं जड स्वभाव है ।

हेमचन्द्रसूरि जैसे तो इस कलिकाल को भी धन्यवाद देते हैं कि कलिकाल अल्प समय में भी साधना को सफल कर देता है। सतयुग में तो साधना में करेड़ों साल लग जाते थे। आखिर दृष्टिकोण की बात है। आप शुभ दृष्टिकोण रखकर चाहे जितने बुरे पदार्थ में से भी शुभ खोज सकते हैं, जैसे कृष्ण ने मरी हुई कुत्ती में से श्वेत दांत खोज निकाले थे। कलिकाल भी मृत, काली

कुत्ती है। उसमें से उज्ज्वल दंत-पंक्ति तुल्य कुछ खोज निकालना चाहिये।

प्रभु की निष्फल देशना का भी सफल रहस्य है कि सर्व विरति के बिना तीर्थ की स्थापना नहीं हो सकती।

* दीक्षा ग्रहण की तब तो वैराग्य था। अब है या वह उफान शान्त हो गया? सच्चा वैराग्य दिन प्रतिदिन बढ़ता ही रहता है। दुकान खोलें उस दिन कमाई हो और बाद में न हो तो क्या चलेगा?

* प्रतिमा-दर्शन, जैन दर्शन, सम्यग्दर्शन, आत्म-दर्शन, प्रभु-दर्शन - ये सभी दर्शन के प्रकार हैं। वास्तव में तो ये सभी दर्शन होते हैं, तब एक साथ ही होते हैं।

* संतों की वाणी निकलने के पांच हेतु हैं - प्रबोध, विवेक, हित, प्रशम एवं सम्यक् तत्त्व का उपदेश।

* जो सुमार्ग पर ले जाये वह सन्मति, जो कुमार्ग पर ले जाये वह दुर्मति।

* आपके भीतर तीव्र जिज्ञासा हो तो योग्य, मार्ग-दर्शक गुरु मिलेंगे ही। कदाचित् कोई गुरु नहीं मिले तो पुस्तक मिले। पुस्तक खोलते ही आपको जो चाहिये वही पृष्ठ मिलता है।

* सज्जनों की वाणी प्रबोध के लिए होती है। प्रबोध उसे कहते हैं जो विवेक जागृत करे, स्व-पर का भेद बताये और देह-आत्मा की भिन्नता स्पष्ट करे।

हम दूसरा सब कुछ जानते हैं केवल आत्मा को छोड़कर। नौ तत्त्वों में प्रथम तत्त्व जीव-तत्त्व रखा। इस जीव-तत्त्व से ही हम दूर रहेंगे तो कैसे चलेगा?

* 'मूढ़े अम्हि पावे' 'प्रभु! मैं मूढ़ हूँ, पापी हूँ।' यह कौन कहता है? समर्थ जानी। और हम स्वयं को सर्वज्ञ मानते हैं!

नौ पूर्वी आर्यरक्षित जैसे को भी ज्ञान-दाता गुरु ने कहा था कि अभी तक तूने बिन्दु जितना अत्यन्त कठिनाई से अध्ययन किया है। अभी तो समुद्र जितना अध्ययन बाकी है।

स्व-पर बोध प्राप्त करने के लिए तत्त्वज्ञान के ग्रन्थों का गहन अध्ययन आवश्यक है।

तो हम असफल ही होंगे ।

शायद इसीलिए कोई देव नहीं आता । परन्तु उसके अलावा शक्य अनुष्ठान भी क्या हम करते हैं ?

* विवेक दीपक है ।

उजाले में हमारा पांव खड़े में गिरता ही नहीं । जिसमें विवेक का जागरण हो वह उल्टे मार्ग पर जा ही नहीं सकता ।

* हमारे निमित्त दूसरे को अप्रीति न हो, ऐसे व्यवहार को ही औचित्य कहते हैं ।

भगवान ने उस कुलपति की झोंपड़ी का तुरन्त ही परित्याग कर लिया था, क्योंकि किसी को अप्रीति न हो ।

‘ऐसा बोल कि कोई न कहे झूठ ।

ऐसा बैठ कि कोई न कहे ऊठ ॥

पू.पं. भद्रकरविजयजी म. कहते - ‘मार्ग में निर्जीव स्थंडिल भूमि पर बैठने की अपेक्षा हरी वनस्पति वाले स्थान पर बैठना उत्तम है । हमारे निमित्त किसी को अप्रीति हो, शासन की अपकीर्ति हो, इस के समान अन्य कोई पाप नहीं है ।

* ‘भगवन् ! जब तक आप मेरे पास रहते हैं तब तक दुर्बुद्धि मेरे निकट ही नहीं आती, परन्तु जैसे ही मैं आप से दूर होता हूँ, वैसे ही दुर्बुद्धि का आक्रमण शुरू हो जाता है । क्या आप मुझे एक परिचारिका नहीं दे सकते जो सदा मेरी संभाल करती रहे ?’

गुरु ने कहा, ‘चौबीसों घण्टे तो मैं तुम्हारे पास नहीं रह सकता, परन्तु सुबुद्धि नामक परिचारिका मैं तुम्हारी सेवा में लगाता हूँ । तुम्हें सदा उसकी बात माननी पड़ेगी ।’

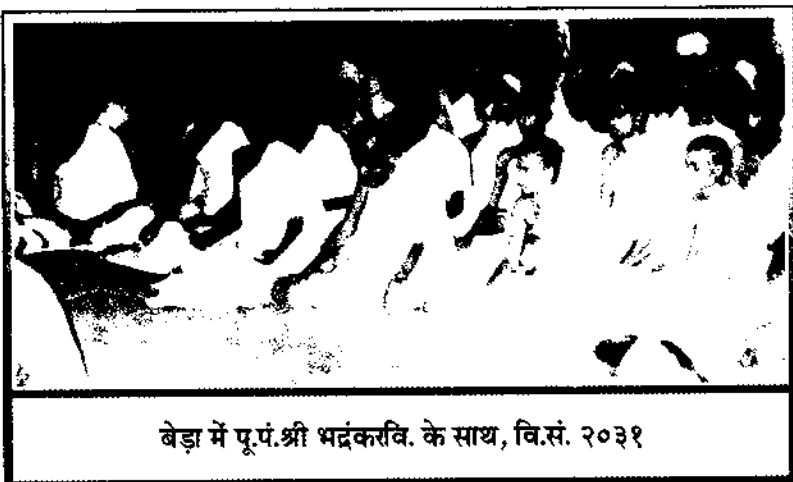
गुरु ने ‘सुबुद्धि’ नामक परिचारिका भेजी । काश ! वह सुबुद्धि हमें मिल जाये ।

* भवन-निर्माण से पूर्व ‘प्लान’ बनाना पड़ता है, फिर ही भवन व्यवस्थित बन पायेगा । हमारे मुनि-जीवन का प्लान क्या ?

पूर्णता प्राप्त करना ।

पूर्णता ही आपका लक्ष्य है न ?

वही आपका ‘प्लान’ है न ?



बेड़ा में पू.पं.श्री भद्रकरवि. के साथ, वि.सं. २०३१

६-२-२०००, रविवार
माघ शुक्ला-१ : वांकी प्रवेश

* भगवान महावीर की छत्र-छाया में हम सभी एकत्रित हुए हैं ताकि हम उनकी कृपा प्राप्त कर सकें। उनकी ही कृपा से इतनी धर्म-सामग्री (मनुष्य जन्म आदि) प्राप्त हुई है।

* सम्यग्दर्शन से प्रेम और सम्यक् चारित्र से स्थिरता उत्पन्न होती है।

समस्त जीवों के प्रति मैत्री, गुणवानों के प्रति प्रमोद, दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा और निर्गुणी के प्रति उपेक्षा रूप प्रेम सर्वत्र प्रवाहित होना चाहिये।

ऐसे गुण चरमावर्त काल में प्रविष्ट हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकते।

मैत्री, प्रेम, दया आदि गुण हमसे परोपकार कराये बिना नहीं रहते।

प्रकट होता है यह प्रेम जीव में, परन्तु प्रकट कराते हैं भगवान, क्योंकि भगवान प्रेम के भण्डार हैं।

भगवान सिद्ध योगी हैं। इसी लिए अष्ट-प्रातिहार्य आदि ऋद्धि उन्हें प्राप्त है।

जिस प्रभु के लिए हमने वेष लिया, दीक्षा अंगीकार की, वह प्रभु ही यदि हमें नहीं मिले तो वेष लेने का अर्थ क्या ? भक्त भीरा आदि को भगवान मिल सकते हैं तो हमें क्यों नहीं मिल सकते ?

‘मन रे मनाव्या विण नवि मूकुं’ क्या इस प्रकार के उद्गार यों ही निकले होंगे ?

सब कुछ करते हैं, परन्तु जीवन में कमी क्या है ? केवल प्रेम की । परस्पर प्रेम की कमी है न ? आप परस्पर प्रेम नहीं रख सकते, तो प्रभु पर प्रेम कैसे रख सकोगे ?

* भगवान वीतराग हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान में प्रेम नहीं है । भगवान राग-रहित हैं, प्रेम-रहित नहीं हैं ।

द्वेष जितना राग बुरा नहीं है । राग का केवल रूपान्तर करने की आवश्यकता है ।

यह तो आप जानते ही हैं न कि गुणानुराग प्रकट होने के बाद ही अन्य गुण प्रकट हो सकते हैं ?

दर्शन मोहनीय का क्षय होने से भगवान में अनन्त प्रेम विद्यमान है । हमारे भीतर जितने अंशों में दर्शन मोहनीय का क्षय होता है, उतने अंशों में जीवों के प्रति प्रेम प्रकट होता है । चारित्र मोहनीय की बात बाद में । प्रथम दर्शन मोहनीय पर प्रहार होना चाहिये ।

प्रभु के दर्शन करने का तात्पर्य है उनमें अनन्त प्रेम के दर्शन करने, उनकी अनन्त स्थिरता के दर्शन करने ।

* भगवान अपनी सौम्य मुद्रा एवं वाणी से आनन्द की प्रभावना कर रहे हैं ।

आगम मतलब भगवान की ‘टैप’ की हुई वाणी ।

मूर्ति मतलब भगवान की सौम्य मुद्रा ।

उसके माध्यम से आज भी हम आनन्द प्राप्त कर सकते हैं ।

प्रभु के दर्शन करते समय उनकी अनन्त पूज्यता, अनन्त करुणा, अनन्त प्रेम आदि के क्या कभी दर्शन हुए हैं ?

ये गुण आते ही हमारे भीतर पूज्यता के भाव उत्पन्न होंगे ही ।

पूज्यता के लिए पात्रता बाहर से नहीं आती, भीतर से प्रकट होती है ।

आदि माता हैं । इसीलिए प्रवचन माता, धर्म माता, गुरु माता आदि शब्दों का निर्माण हुआ है ।

भगवान हमें पूर्ण दृष्टि से देखते हैं, परन्तु हम भगवान को किस दृष्टि से देखते हैं ?

चाहे जितने दोषों से युक्त होते हुए भी प्रभु हमें पूर्ण प्रेम के रूप में देखते हैं । क्या यह कम बात है ?

ॐ ॐ ॐ

प्रभु के जन्म के समय आनन्द क्यों ?

* प्रभु वीर के जन्म के समय आनन्द का कारण बताते हुए सब ने कहा -

ऋजुवालुका नदी - मेरे किनारे पर केवलज्ञान होगा ।

कमल - मुझ पर भगवान के चरण पड़ेंगे ।

मेरु पर्वत - मुझ पर प्रभु के चरणों का स्पर्श होगा ।

वृक्षगण - हमें नमस्कार करने का लाभ मिलेगा ।

वायु - हम अनुकूल बनेंगे ।

पक्षी - हम प्रभु की प्रदक्षिणा करेंगे ।

सूर्य-चन्द्रमा - हम मूल विमान में भगवान के दर्शन करने के लिए आयेंगे ।

सौधमेन्द्र - मैं पांच रूप करके तथा वृषभ (बैल) बनकर प्रभु का अभिषेक करूंगा ।

चमरेन्द्र - मैं मच्छर बन कर भगवान के चरणों का शरण स्वीकार करूंगा ।

पृथ्वी - हमारे भीतर वर्षों से गड़े हुए निधानों का दान के लिए सदुपयोग होगा ।

मानव - धर्मतीर्थ की स्थापना होगी ।

पशु-पक्षी - हम भी धर्म-देशना सुन सकेंगे, समझ सकेंगे ।



बडी दीक्षा प्रसंग, आधोई, वि.सं. २०२९

७-२-२०००, सोमवार
माघ शुक्ला-२ : वांकी

* श्रमण प्रधान चतुर्विध संघ में हमारा नम्बर प्रथम है, अतः हमारा उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। उस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए हमारा जीवन उच्चतम होना चाहिये; त्यागमय, वैराग्यमय एवं जयणामय जीवन होना चाहिये, जिसे देख कर चौथे आरे का स्मरण हो आये।

हमारा अहोभाग्य था कि हमें ऐसा जीवन देखने को मिला था। पूज्य कनकसूरिजी, पू. देवविजयजी, पू. रत्नाकरविजयजी आदि को देखते ही चौथा आरा याद आता।

उपदेश की अपेक्षा जीवन का प्रभाव अधिक पड़ता है। नहीं बोलें तो भी आचरण अधिक प्रभावशाली होता है। पूज्य रामचन्द्र-सूरिजी व्याख्यान देकर दीक्षितों को तैयार करते, परन्तु उसका पालन करते मौन रहकर पू. प्रेमसूरिजी।

कहा जाता है कि एक हजार शब्दों के बराबर एक चित्र है।

सचमुच तो यह कहना चाहिये कि हजार व्याख्यानों के बराबर एक चारित्र है। चारित्र भी सामने दृष्टिगोचर होने वाला चित्र ही है न ? जीवित चित्र है।

* असंग अनुष्ठान तक पहुंचानेवाला प्रीति अनुष्ठान है ।
अनादिकाल से हमारी प्रीति शरीर आदि पर है । अब उस प्रीति को प्रभु की ओर उन्मुख करनी है ।

* समस्त जीवों को आत्मतुल्य देखना प्रेम का चिह्न है ।
पूर्ण प्रभु सबको पूर्ण रूप में देख रहे हैं ।

दूसरे को पूर्ण रूप में देखना प्रेम का चिह्न है ।

आत्म तुल्य दर्शन प्रेम का चिह्न है ।

हम पूर्ण नहीं हैं, परन्तु आत्मसमदर्शन कर सकते हैं, चाहे पूर्ण रूप से नहीं देख सकें ।

* नूतन शिष्य आदि परिवार अपना बाह्य जीवन देखकर ही सीखने वाला है । अतः अपने समान हम उन्हें बनाना चाहते हैं तो वैसा जीवन जीना प्रारम्भ करना चाहिये ।

* 'आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति स पश्यति ।'

जो आत्मतुल्य दृष्टि से देखता है, वही सच्चे अर्थ में देखता है । दूसरे व्यक्ति तो आंखें होते हुए भी अंधे हैं, ऐसा अजैन शास्त्रों में उल्लेख है । इस सन्दर्भ में हम देखनेवाले हैं या अंधे हैं ?

* व्याख्यान का सर्व प्रथम उत्तरदायित्व वि. संवत् २०१७-२०१८ में जामनगर में आया था । उस समय हम पांच ठाणे थे । अध्ययन हेतु वहां रहे थे । तब व्याख्यान का प्रसंग आ पड़ा । मैंने निश्चय किया था कि मेरी जो इच्छा होगी वह श्रोताओं को सुनाऊंगा । मुझे 'अध्यात्मसार' अच्छा लगा । उसके अधिकारों पर मैंने व्याख्यान प्रारम्भ किया । कथा के लिए 'कुमारपाल चारित्र' पसन्द किया । वहां के प्रमुख ट्रस्टी प्रेमचंदभाई को व्याख्यान पसंद आया और हमें वहां चातुर्मास के लिए रोक लिया । वहाँ विमलनाथ भगवान थे ।

उसके बाद के चातुर्मास में 'वैराग्य कल्पलता' तथा 'उत्तराध्ययन' का पठन किया । सामने पक्ष वाले होने पर भी विनती की ।

आज अपना व्याख्यान केवल परलक्षी बन गया हो ऐसा मुझे प्रतीत हो रहा है । जीवन बिल्कुल कोरा होगा तो व्याख्यान का कितना प्रभाव पड़ेगा ? सम्यक्त्व तो क्या, मित्रादृष्टि का भी ठिकाना

एवं धर्म भी माता के स्थान पर हैं ।

‘जीयात्पुण्यांगजननी पालनी शोधनी च मे ।’

हम कितने ही गन्दे, मैले-कुचैले हों, कर्मों से लिप्त हों, परन्तु भगवान् रूपी माता कदापि स्नेह, वात्सल्य कम नहीं करती । छोटे बालक को जिस प्रकार माता का प्रेम समझ में नहीं आता, उस प्रकार बाल्यकाल (अचरमावर्त्त काल) में हमें प्रभु का प्रेम समझ में नहीं आता ।

प्रभु का प्रेम एवं उपकार समझ में आ जाये तो समझें कि चरमावर्त्तकाल में प्रवेश हो गया है ।

‘दुःखितेसु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च ।’

ये चरमावर्त्तस्थ के लक्षण हैं ।

कतिपय साधु-आचार सम्बन्धी बातें...

* श्रावकों को हम भक्ष्य-अभक्ष्य समझाते हैं तो हमें भी भक्ष्य-अभक्ष्य समझना आवश्यक है ।

* आजकल जो साबूदाने बनते हैं वे पूर्णतः अभक्ष्य हैं ।

* बाजार का मेंदा (मछलियों के पाउडर से मिश्रित हो सकता है), बिस्किट, चोकलेट, पीपरमिण्ट, नानखटई आदि नहीं ले सकते ।

* पू. प्रेमसूरिजी को जीवनभर फलों का त्याग था । फल तो बीमार खाते हैं । हम तो जान-बूझकर बीमार पड़े वैसे हैं ।

आज भी हम साधु १० तिथियों पर लीलोतरी नहीं लाते । आत्मारामजी महाराज के कोई साधु तिथि के दिन लीलोतरी लाये होंगे तो राधनपुर के श्रावक ने उन्हें एकान्त में सूचित किया, “गुरुदेव ! यहां श्रावक भी दस तिथियों पर लीलोतरी नहीं खाते । यदि साधु वहरेंगे तो श्रावकों का क्या होगा ?

* पूज्य कनकसूरिजी के समय में पालीताना में भाता खाता की गोचरी भी नहीं ली जाती थी । कोई वहरता हो तो उसकी टीका भी नहीं करनी चाहिये, किसी की निन्दा करना नहीं तथा निन्दा सुनना नहीं ।

* वीरमगाम में पूज्य प्रेमसूरिजी आदि ६० साधु आये थे । हम विहार में आगे गये थे । उस समय मैंने प्रथम पोरसी का

सम्पूर्ण पानी संभाला था । गोचरी की अपेक्षा पानी वहोरने वाले को अधिक लाभ होता है, क्योंकि पानी सबके पेट में जाता है और वहोरते समय एक ही घड़ा लाना चाहिये ।

मेहसाना में अपने कोई साधु दो षड़े पानी लाते होंगे । उन्हें देखकर एक श्रावक ने कहा था - 'यह कनकसूरिजी का समुदाय नहीं लगता ।'

* सूर्योदय से पूर्व पानी आदि नहीं वहोरा जाता, यह कहना पड़ता है, जो अपनी लज्जा है ।

* काली द्राक्ष बीज निकाले बिना ४८ मिनट से पूर्व नहीं कल्पती ।

* टमाटरों के बारे में मैंने एक बार पूज्य कनकसूरिजी को पूछा था, तब उन्होंने बताया था कि - “मांस के समान रंग के कारण ये वर्जित हैं। दाल-सब्जी में आ जायें तो चलता है।”

* जरी वाले स्थापनाचार्य की पाटली रंग-बिरंगे पाटे भरना आदि विचारणीय है ।

* हमारे वृद्धों, गुरुओं की निन्दा करने वालों के व्याख्यान में जाना, उन्हें वन्दन आदि करना उचित नहीं प्रतीत होता ।

* बड़ी दीक्षा के जोग, तथा बड़ी दीक्षा स्व-समुदाय में ही होनी चाहिये । जब हम कोइम्बतूर के आसपास थे तब एक ग्रूप ने एक बहन को दीक्षा प्रदान कर दी । दीक्षा, बड़ी दीक्षा, जोग आदि दूसरे के पास करवाये । हम ने कहा, 'ध्यान रखना, भारी उत्तरदायित्व है ।'

आज रगड़े-झगड़े, क्लेश आदि प्रारम्भ हो गये हैं ।

* 'व्हीलचेअर' मैंने तो दुःखपूर्वक अपनाई है, परन्तु अकारण 'व्हीलचेअर' अपनाना उचित नहीं है ।

* शाम को मांडली में प्रतिक्रमण करना चाहिये । मांडली में प्रतिक्रमण करते हैं न ! प्रातः खड़े-खड़े प्रतिक्रमण करते हैं न ?

✿ ✿ ✿



पू. तत्सुंदरसूरिजी के साथ, सुरत, वि.सं. २०५५

१०-२-२०००, गुरुवार
माघ शुक्ला-५ : वांकी

* साक्षात् भगवान नहीं मिले यह पापोदय है, परन्तु उनके आगम, प्रतिमा मिले यह पुन्योदय है ।

* हमारा लक्ष्य क्या है ?

प्रथम सूत्र 'नवकार' सीखे, उसमें सर्व प्रथम रहा हुआ 'नमो' ही लक्ष्य है, यही ध्येय है । चिन्मय तत्त्व के साथ एकता करानेवाला 'नमो' है ।

जो प्रभु को नमता है वह नमन करने योग्य (नमनीय) बनता है ।

जो प्रभु की पूजा करता है वह पूजनीय बनता है ।

जो प्रभु की स्तवना करता है वह स्तवनीय बनता है ।

ये भगवान ऐसे ही हैं, अपना पद प्रदान करने वाले हैं ।

'नात्यद्भुतं भुवनभूषण... !'

- भक्तामर स्तोत्र

ऐसे स्वामी को छोड़कर क्या चेतना शक्ति का अन्यत्र उपयोग किया जाये ? बात करनी हो तो इन प्रभु के साथ करो । ध्यान करना हो तो इन प्रभु का करो ।

लक्ष्य सिद्ध करना हो तो बाह्य जीवन से पर होना पड़ेगा ।

* वृद्ध हमारे रक्षक हैं ।

प्रथम चातुर्मास फलोदी में तथा दूसरा राधनपुर में हुआ । उस समय मैंने वृद्ध मुनि को साथ रखने की विनंती की थी ।

* पू. कनकसूरिजी के बाद में समुदाय की दुर्दशा हो गई थी । वृद्ध जानते होंगे । उस समय समुदाय का उत्तरदायित्व मुझे पर आ पड़ा ।

* 'पुक्खरवरदी' सूत्र में 'सुअस्स भगवओ' कह कर श्रुत को भगवान कहा गया है । श्रुतज्ञान एवं भगवान अभिन्न हैं, जिस प्रकार मैं और मेरे वचन अभिन्न हैं । यदि आप मेरे वचन नहीं मानते तो आप मुझे ही नहीं मानते; क्योंकि मैं और मेरे वचन अलग नहीं हैं ।

* आलोचना के साथ आराधना भी लिखें ताकि मुझे पूरा ध्यान रहे । डाक्टर के पास रोग नहीं छिपाया जाता, उस प्रकार गुरु के पास विराधना अथवा आराधना नहीं छिपाई जाती ।

* पत्र अत्यन्त ही कम लिखने चाहिये । पू. कनकसूरिजी कहते थे - 'धर्मलाभ ही है, सुख-साता ही है, पत्र क्या लिखने हैं ?

* एक महात्मा ने जीवन के अन्तिम किनारे पर मुझे लिखा, 'मैंने आलोचना कभी नहीं ली । अब खटक रहा हूँ । आप मुझे आलोचना देना ।

हमने लिखा - 'अब आलोचना क्या दें ? गिन सको उतने नवकार गिनो, समाधि में रहो । आपकी आलोचना पूर्ण हो गई । दूसरा क्या लिखा जाये ?

ॐ ॐ ॐ

आंसू

प्रभु-भक्ति, करुणा एवं सहानुभूति से आने वाले आंसू - पवित्र है । शोक, क्रोध एवं दम्भ से बहते आंसू अपवित्र है ।



पू. कनकसूरिजी

११-२-२०००, शुक्रवार
माघ शुक्ला-६ : वांकी तीर्थ

पदवी का प्रसंग

* अनन्त उपकारी शासन-नायक भगवान महावीर स्वामी की मंगल निश्रा में चतुर्विध संघ के साथ हम छः घण्टों से बैठे हैं। अभी भी शायद एक घण्टा और लग सकता है।

आचार्यपद, पंन्यास-पद, गणि-पद समारोह में जो आनन्द है वह जैन-शासन का है। ये यहीं देखने को मिलता है। वांकी तीर्थ में प्रवेश से ही उल्लास प्रतीत होता रहा है। यह धरती का प्रभाव है। आज चतुर्विध संघ का भावोल्लास देखकर जैन-शासन जयवंत है, ऐसा ख्याल आता है।

* तीनों काल के कल्पवृक्ष भगवान हैं। भगवान किसी काल में अथवा किसी क्षेत्र में पवित्रता प्रवाहित नहीं करते वैसे नहीं, लेकिन सर्वत्र प्रवाहित करते हैं, जिसके कारण ही अपना हृदय निर्मल स्वच्छ बना है। यहां भगवान के किल्ले में अशुभ भावों का स्पर्श कहां से हो ?

* यहां के स्थानीय विशाल जिनालय के रंगमण्डप में सभी

का समावेश हो जाता है । अतः वहीं पर पदवी-प्रसंग समारोह का आयोजन करने की योजना थी, परन्तु वह नहीं हो सका, फिर भी शंखेश्वर दादा समीप ही हैं ।

* शुभ मनोरथ भी भगवान के हाथ में है ।

“एकोऽपि शुभभावः भगवत्प्रसादादेव लभ्यः” यह उपमितिकार का कथन है । मन में उमड़ती शुभ विचारधारा प्रभु की सतत कृपा का चिह्न है ।

* रसोइया भोजन कराता है, परोसता है, परन्तु भोजनशाला का वह स्वामी नहीं है । हम भी रसोइये के स्थान पर हैं । यह सब प्रभु का है । हम तो परोसने वाले हैं । परोसना भी अच्छी तरह आ जाये तो पर्याप्त है ।

* आधोई, कटरिया, भद्रेश्वर में नहीं परन्तु यहां वांकी में ही इस प्रसंग का आयोजन हुआ वह भी शुभ घटना ही है । कार्तिक कृष्णा अष्टमी को एक घंटा पहले पूछा होता तो निर्णय दूसरा ही होता, परन्तु उचित निर्णय कराने वाले भगवान ही हैं ।

आप प्रकृति कहते हैं, मैं तो प्रभु ही कहता हूं ।

मद्रास आदि में ऐसा भावोल्लास कहां से आता ? कच्छ की धरती हमारे पूर्वज आचार्यों की है । ये भाव अन्यत्र कहां देखने को मिलते ?

चढ़ावे सब अधिकतर कच्छ के हैं । एक मद्रास का था । महेन्द्रभाई भी अब (जाप का अनुष्ठान कराने के कारण) हमारे आत्मीय हो गये हैं ।

* पदवी ग्रहण करने वालों को मेरी विशेष रूप से सलाह है कि किसी भी प्रसंग पर आप निःस्पृह बनें । यदि भगवान का सन्देश लोगों को देना हो तो मांगना मत ।

पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. कहते थे - जो अपने आप आये उसका स्वागत करें । खड़ा न करें । किसी भी गांव पर भार स्वरूप न बनें ।

वांकी के लोगों को पूछें । लोगों की भीड़ उमड़ने के कारण भार आता होगा, लेकिन हमारी ओर से कोई भार आया ?

पू. कनकसूरिजी महाराज यहां के गांवों में रहते, लेकिन किसी

पर तनिक भी बोझा नहीं था ।

* आज का दिन पवित्र है । आज भारत के विभिन्न गांवो-तीर्थों में प्रतिष्ठाएं-अंजनशलाकाएं हैं । पंन्यास कीर्तिचन्द्रविजयजी की निश्रा में समेतशिखरजी में अंजनशलाका है ।

आचार्यश्री अरिहंतसिद्धसूरिजी म. की प्रेरणा से समेतशिखरजी में जिनालय का निर्माण हुआ है, परन्तु अंजन करायेंगे पंन्यास कीर्तिचन्द्रविजयजी ।

ऐसे मंगल मुहूर्त पर यह पदवी हुई है । आप पद की गरिमा के अनुरूप पद को उज्ज्वल करें, स्व के श्रेय के साथ सर्व का श्रेय करें ।

लोक-व्यवहार अलग है, आत्म-जागृति अलग है । आत्म-जागृति रख कर ही लोक-व्यवहार करें । यह कदापि न भूलें ।

चाहे जितने मान-अपमान हो, निन्दा-स्तुति हो, परन्तु दोनों के प्रति संतुलित रहें, प्रेम - मैत्री - करुणा बनाये रखें, जैसी मैं रख सका हूं ।

इस पद से गौरव नहीं लेना है, परन्तु चतुर्विध संघ का सेवक बनना है ।

चतुर्विध संघ को मेरी सलाह है कि आप जिस दृष्टि से मुझे देखते हैं, उसी दृष्टि से नूतन आचार्य को देखना ।

जितने भी शासन-प्रभावक गणधर भगवन् हो चुके हैं, उन सबकी शक्ति, उन सबका सामर्थ्य इन नूतन आचार्य में उतरे, ऐसे यहां विधि-विधान हुए हैं । विधि के समय उछाले गये चावल (अक्षत) केवल चावल (अक्षत) नहीं थे, हृदय में उद्वेलित भाव थे ।

वि. संवत् २०२९ में भद्रेश्वर में आचार्य पद-प्रदान के पावन प्रसंग पर चावल नहीं, परन्तु मैं उनमें चतुर्विध संघ के शुभ भाव निहार रहा था ।

जिन जिन को जो जो पद प्राप्त हुए हैं, उन सबको गौरवान्वित करें, शास्त्रों के स्वाध्याय को प्राण बनायें । विनय से विद्या की, विद्या से विवेक की और विवेक से वैराग्य की अभिवृद्धि करे, ताकि चारित्र की सुगन्ध बढ़े तथा वीतरागता की प्राप्ति हो । ये

रोया जा सके और सब कुछ कहा जा सके । कलिकाल में चाहे भगवान नहीं हैं, परन्तु गुरु हैं । गुरु में भगवद् भक्ति उत्पन्न करके भगवान के जितना ही लाभ प्राप्त किया जा सकता है ।

पूज्यश्री के अनेक भक्त हैं । पूज्यश्री का सान्निध्य पाकर नास्तिक भी कैसे आस्तिक बन जाते हैं ? यह जानने योग्य है ।

पूज्यश्री को एक भाई ने कहा, 'नवकार गिनने का अर्थ है, मुसीबत पैदा करना ।'

पूज्यश्री ने उसे केवल बारह नवकार गिनने का संकल्प, नियम दिया । वह आज पांच माला गिनता है और कहता है 'अब मैं नवकार कदापि नहीं छोड़ूंगा ।'

यह है पूज्यश्री का सहज प्रभाव !

पूज्य गुरुदेव की भक्ति से भगवान अवश्य प्रसन्न होंगे और जीवन उज्ज्वल बनेगा ।

गुरुदेव ने जिस पद पर मुझे आसीन किया है, उस पद के लिए मैं योग्य बनूँ - चतुर्विध संघ के समक्ष प्रभु से मैं यह प्रार्थना करता हूँ ।

पूज्य नूतन पंन्यासजी श्री कल्पतरुविजयजी महाराज

छः द्रव्यों में जीव-अजीव दो द्रव्य गतिशील हैं ।

छठा काल द्रव्य विशिष्ट प्रकार से गतिशील है । उसे कोई रोक नहीं सकता । पानी के प्रवाह को रौका जा सकता है, परन्तु समय के प्रवाह को रोक नहीं जा सकता । समय से परे बन सकते हैं, परन्तु समय को रोक नहीं जा सकता ।

सूर्योदय से छः घंटों का समय व्यतीत हो गया है, कदाचित् यह विचार आता होगा, परन्तु जीवन का कितना समय व्यतीत हो गया है, उसका विचार नहीं आता ।

गुणों, धन एवं पदार्थों का संग्रह होता है, परन्तु समय का संग्रह नहीं किया जा सकता ।

* गौतम अर्थात् भगवान का प्रकृष्ट वचन ।

(गौ = वाणी, तम = उत्तम, गौतम = उत्तम वाणी) इस अर्थ में 'समयं गोयम मा पमायए !' इस सूत्र का अर्थ विचारणीय है ।

गुण रूपी रत्नों के महासागर पूज्यश्री के पास नत मस्तक होकर याचना है - आज आपने जो पद प्रदान किया है, उस पद के साथ कृपया योग्यता भी प्रदान करें। प्रदक्षिणा देने के समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि ये चावल नहीं बरस रहे, पर शुभ भावों की वृष्टि हो रही है।

चतुर्विध संघ का आशीर्वाद ही हमारा महत्वपूर्ण परिबल है।

हम पदस्थ ही नहीं परन्तु स्वस्थ बनें। “स्व में बस, पर से हट, इतना बस...” इस सूत्रको हम आत्मसात् करे; अन्तर्मुखी चेतना प्रकट हो, बहिर्मुखी चेतना लुप्त हो, ऐसी आज के दिन कामना है।

‘सूर्यमुखी दिन में खिलता है, परन्तु रात में नहीं।

चन्द्रमुखी रात में खिलता है, परन्तु प्रभात में नहीं।

अन्तर्मुखी प्रति पल खिलता ही रहता है,

क्योंकि उसकी प्रसन्नता किसी के हाथ में नहीं।’

विराट मानव-सागर देखकर अपार आनन्द होता है, परन्तु साथ ही साथ योग्यता का अभाव भी प्रतीत होता है।

संघ, शासन एवं समुदाय का गौरव बढ़े ऐसी शक्ति के लिए श्रमण प्रधानश्री संघ से प्रार्थी है।

इस जिन-शासन की गरिमा बढ़े, जिन-शासन की सेवा में जीवन लीन बने। वस्तुपाल की भाषा में कहूं तो -

यन्मयोपार्जितं पुण्यं, जिनशासन-सेवया।

जिन-शासन-सेवैव, तेन मेऽस्तु भवे-भवे ॥

“जिनशासन की सेवा के द्वारा अर्जित पुण्य से प्रत्येक भव में मुझे जिनशासन की सेवा प्राप्त हो।”

* दक्षिण में पदवी के लिए अनेक संघों की विनती थी, परन्तु लाभ कच्छ को मिला।

इस समुदाय का गौरव बढ़े, पूज्य कनक-देवेन्द्रसूरिजी के समुदाय का गौरव बढ़े, ऐसी हमारी वृत्ति-प्रवृत्ति हो। लौकिक डिग्री मिलने पर अहंकार बढ़ता है, परन्तु इस लोकोत्तर पद से नम्रता बढ़ती रहे यही शुभेच्छा है।

स्वस्थ, गुणस्थ बनें, यही इच्छा है।

अन्त में प्रभु को प्रार्थना है कि, हे प्रभु ! हम पदस्थ बनें या न बनें, परन्तु हमें गुणस्थ बना कर आत्मस्थ अवश्य बनाना ।

नूतन गणिश्री मुनिचन्द्रविजयजी

चरम तीर्थपति वर्तमान शासन-नायक भगवान श्री महावीर स्वामी के चरणों में वन्दना । भगवान श्री महावीर स्वामी के ७७ वे पाट पर बिराजमान, परम श्रद्धेय, सच्चिदानन्द-स्वरूप, अध्यात्मयोगी पूज्य आचार्यश्री के चरणों में वन्दना । मधुरभाषी, नूतन आचार्यश्री के चरणों में वन्दना । विद्यादाता नूतन पंन्यास प्रवरश्री कल्पतरुविजयजी महाराज के चरणों में वन्दना । मेरी जीवन-नैया के परम खेवनहार गणिवर्य पूज्यश्री मुक्तिचन्द्रविजयजी महाराज के चरणों में वन्दना ।

सूर्य की दृष्टि पड़ते ही सामान्य प्रतीत होने वाला जल-बिन्दु मोती बन कर चमकने लगता है । कुम्हार की दृष्टि पड़ते ही सामान्य प्रतीत होती मिट्टी कुम्भ बन कर शीर पर चढ़ती है । शिल्पी की दृष्टि पड़ते ही सामान्य प्रतीत होने वाला पत्थर प्रतिमा बन कर मन्दिर में प्रतिष्ठित होता है और गुरु की दृष्टि पड़ते ही सामान्य प्रतीत होने वाला शिष्य असामान्य बन जाता है । अन्यथा 'मनफरा' जैसे छोटे से गांव के कृषक परिवार में उत्पन्न हुए मेरे लिए श्रावकत्व भी दुर्लभ था, वहां मुनित्व की और उसमें भी कोई पद-प्राप्ति की तो बात ही क्या कही जाये ?

पूज्यश्री के मुख से अनेक बार सुना है कि माता वह होती है जो सन्तान को पिता के साथ जोड़ दे । पिता वह कहलाता है जो सन्तान को गुरु के साथ जोड़ दे, गुरु वह कहलाता है जो शास्त्रों के साथ जोड़ दे, शास्त्र वे कहलाते हैं जो भगवान के साथ जोड़ दे और भगवान वे कहलाते हैं जो जगत् के समस्त जीवों के साथ जोड़ दे ।

मेरे परम सौभाग्य से मुझे ऐसी माता मिली । माता भमीबेन भले ही अनपढ़ थी, परन्तु संस्कारमूर्ति एवं भद्रमूर्ति थी । पिताजी की अनुपस्थिति में उन्होंने मुझे ज्येष्ठ भ्राता पूज्य मुक्तिचन्द्रविजयजी को सौंपा । पूज्य मुक्तिचंद्रविजयजी की गृहस्थ जीवन में यह भावना थी कि तीनों लघु भ्राताओं में से कोई भी एक साथ चले । शान्तिलाल,

चम्पक और मैं - हम तीनों दीक्षा अंगीकार करने के लिए तैयार थे । ज्येष्ठ भ्राता द्वारा मेरा चयन किया और मैं मुंबई से आधोई आ पहुँचा । इस प्रकार ज्येष्ठ भ्राता ने मुझे अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव के साथ जोड़ दिया ।

पूज्यश्री ने हमें शास्त्रों के साथ जोड़ने के निरन्तर प्रयत्न किये । पूज्यश्री परमात्मा के परम भक्त हैं । वे भक्ति के पर्याय के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं । 'कलापूर्णसूरि अर्थात् भक्ति और भक्ति अर्थात् कलापूर्णसूरि ।' इस प्रकार लोगों की जबान पर गाया जा रहा है । पूज्यश्री की भक्ति तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है, परन्तु आज मैं उनके अप्रकट गुण के सम्बन्ध में भी कहूँगा । उनका शास्त्र-प्रेम अद्वितीय है । पूज्यश्री जितने प्रभु-प्रेमी हैं, उतने ही शास्त्र प्रेमी हैं, यह बात अत्यन्त कम लोगों को ज्ञात है ।

पूज्यश्री ने हमें पढ़ाने के लिए निरन्तर ध्यान रखा, चिन्ता रखी । दीक्षा ग्रहण करने के समय मैं अत्यन्त ही छोटा था । केवल साढ़े बारह वर्ष की मेरी उम्र थी । उस समय हमें शिक्षित करने में पूज्यश्री ने जो सावधानी रखी, वह कदापि भुलाई नहीं जा सकती । लाकडिया के प्रथम चातुर्मास में श्री चम्पकभाई को, मनफरा के द्वितीय चातुर्मास में पण्डितवर्यश्री अमूलखभाई को, अंजार के तीसरे चातुर्मास में रसिकभाई को तथा जयपुर के चौथे चातुर्मास में वैयाकरण-पण्डित श्री चण्डीप्रसाद को नियुक्त कर दिया । श्रुतस्थविर पूज्य मुनिश्री जम्बूविजयजी के पास धामा, आदरीयाणा, शंखेश्वर आदि स्थानों पर आगम-वाचना का प्रबन्ध कर दिया । षोडशक, पंचवस्तुक आदि पूज्य हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ, प्रतिमाशतक, अध्यात्मसार आदि पूज्य उपाध्यायश्री यशोविजयजी के ग्रन्थों की वाचना पूज्यश्री ने दी । आज इतनी उम्र में भी पूज्यश्री हमें भगवती की वाचना दे ही रहे हैं ।

भगवती के योगोद्धहन के प्रवेश की पूर्व संध्या पर हम पूज्यश्री के आशीर्वाद लेने गये तब पूज्यश्री ने कहा, “भगवती के जोग में प्रवेश करने के प्रसंग पर मैं तुम्हें गुण प्राप्त करने की बात कहता हूँ । तुम लोग ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि गुणों को प्राप्त करना और प्राप्त गुणों को अधिकाधिक निर्मल बनाना ।”



पू. महोदयसागरजी के साथ, पालिताना, वि.सं. २०५६

मातुश्री पालईबेन गेलाभाई गाला परिवार द्वारा आयोजित
लाकडिया से शंखेश्वर-सिद्धाचल छ'री पालक संघ
(फा. कृष्णा-१२ से चैत्र शुक्ला-५; एक हजार यात्रिक)

१०-३-२०००, शुक्रवार
फाल्गुन शुक्ला-५ : सीधाडा

चंदाविज्झय पयन्ना ग्रन्थ का प्रारम्भ

भगवान ने जो पदार्थ बताये, गणधरो ने उनका व्यवस्थित गुम्फन किया है। भगवान ने जो पुष्प बरसाये, उन पुष्पों की गणधरों ने माला बनाई है।

४५ आगमों में से दस पयन्ना में 'चंदाविज्झय' का भी नाम है। भगवान के जितने शिष्य थे, उन सब ने पयन्ना बनाये थे। चौदह हजार पयन्ना थे। आज दस ही शेष रहे हैं। (पयन्ना की संख्या कुछ अधिक है, परन्तु ४५ आगमों में दस की ही गणना है।)

एक बार विहार करके सांतलपुर गया तब सूची में 'चंदाविज्झय पयन्ना' का नाम पढ़कर मन प्रसन्न हो गया। केवल १७५ गाथाओं का ही यह ग्रन्थ अद्भुत प्रतीत हुआ। उसके बाद राणकपुर से

नागेश्वर के छ'री पालक संघ में इसकी वाचना भी रखी गई थी।

इसमें मुख्यतः विनय का वर्णन है।

* त्रिपदी के श्रवण मात्र से गणधरों में द्वादशांगी की रचना करने की शक्ति कहां से उत्पन्न हुई ? भगवान का परम विनय करने से। उन्होंने भगवान को मनुष्य के रूप में न देखकर, भगवान के रूप में देखा।

* भद्रबाहु स्वामी जैसे का कथन है कि कहां तीर्थकरो और गणधरों का विशाल ज्ञान ? कहां मैं ? उनके सूत्रों में संशोधन करने का अभिलाषी मैं कौन ?

भद्रबाहु स्वामी को ऐसा लगता है, जबकि हमें लगता है कि मैं गुरु से भी अधिक ज्ञानी हूं।

* यह ग्रन्थ कण्ठस्थ करने योग्य है। इसे प्रारम्भ करने से पूर्व तीन आयंबिल करने पड़ते हैं। इसके भी जोग होते हैं।

* यह ग्रन्थ समझाता है - ज्ञान सीखने की वस्तु नहीं है, विनय सीखने की वस्तु है। हम विनय के द्वारा ज्ञान सीखना चाहते हैं, परन्तु ग्रन्थकार कहते हैं - विनय केवल साधन नहीं है, स्वयं साध्य भी है।

भगवान का विनय, भगवान की भक्ति आदि आ जायेंगे तो ध्यान आदि स्वतः ही आ जायेंगे। ध्यान के लिए भिन्न पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

* यह ग्रन्थ मोक्षमार्ग का सूत्र है, महा अर्थ है, महान् अर्थ युक्त है। अतः ध्यान पूर्वक सुनें।

दस कि.ग्रा. दूध में से एक कि.ग्रा. घी निकलता है। घी दूध का सार है, उस प्रकार यह ग्रन्थ सारभूत है।

* कल भगवती में पढ़ने में आया - 'मोक्षमार्ग के पथिक की गति रोकने वाले १८ पापस्थानक हैं। इसीलिए संतारा पोरसी में 'मुखमग्ग - संसग्ग विग्घ भूआई' विशेषण लगाया गया है।

एक शब्द में कहना हो तो 'प्रमाद'। एक 'प्रमाद' में अठार पाप स्थानक आ गये हैं।

* मोक्ष मार्ग के मुख्य प्रेरक गुरु हैं। सर्व प्रथम उनका विनय करना है।

* चंद्राविज्जय पयत्रा में आने वाले सात द्वार :

१. विनय ।
२. आचार्य-गुण ।
३. शिष्य-गुण ।
४. विनय-निग्रह ।
५. ज्ञान के गुण ।
६. चारित्र ।
७. समाधि-मरण ।

विनय का अभाव हो तो समुदाय संभाला ही नहीं जा सकता ।

विनय - अनुशासन आदि विशेषावश्यक हैं ।

* साध्वीजियों को संघ हेतु कुछ निर्देश :

१. ग्यारह बजने से पूर्व काप का पानी न लायें ।
२. रसोईघर में रसोइये को कोई निर्देश न दें ।
३. अंधेरे में भटकना नहीं ।

४. प्रातः ५.३० से पूर्व विहार न करें । मैं जब चलता था (खोली नहीं आई थी तब तक) तब सूर्योदय के समय ही विहार होता था ।

सुरक्षा के लिए भी ऐसा करना अनिवार्य है । ऐसी घटनाएं अनेक हो चुकी हैं कि जो प्रातः शीघ्र निकले वे शीघ्र ही उपर पहुंच गये ।

ॐ ॐ ॐ

त्रिकालातीत बन कर प्रभु की भक्ति करें
तीनों काल से मुक्त होकर भगवान का स्मरण करें ।
भूतकाल को याद करेंगे तो शोक आदि में डूब जाओगे ।
वर्तमान को याद करेंगे तो मोह-माया में उलझ जाओगे ।
भविष्यकाल को याद करेंगे तो चिन्ता के कीचड़ में फंस जाओगे ।



छत्ती पालक संघ, वि.सं. २०५६

११-३-२०००, शनिवार
फाल्गुन शुक्ला-६ : वाराही

* भगवान योग-क्षेमंकर नाथ हैं । वे जगत् के ही नहीं हमारे भी नाथ हैं, क्योंकि हम जगत् से बाहर नहीं हैं । गुणों की आवश्यकता हो, प्राप्त गुणों के सुरक्षा की चिन्ता हो तो भगवान को पकड़ लीजिये, क्योंकि अप्राप्त गुणों की प्राप्ति एवं प्राप्त गुणों की सुरक्षा जगन्नाथ भगवान ही कर सकते हैं ।

मोक्ष में गये हुए भगवान हमारे 'वोचमेन्' कैसे बनें ? उनकी अनुपस्थिति में भी उनका 'वोचमेन्' के रूप में कार्य चालु ही रहता है - नाम स्थापना आदि के द्वारा, धर्म के द्वारा, गुरु के द्वारा । ये सभी भगवान के ही स्वरूप हैं ।

विनय का महत्त्व भगवान इसीलिए समझाते हैं । विनय से ही अप्राप्त गुण आते हैं, गुण आये हुए हों तो टिके रहते हैं । विनय की वृद्धि के लिए ही सात बार चैत्यवन्दन करने का विधान है । कदम-कदम पर विनय संयम-जीवन में गुंथा हुआ है, व्याप्त है ।

शास्त्रकारों का निर्देश है कि कोई भी कार्य गुरु को पूछकर ही करें ।

जो आज्ञा नहीं मानता हो उस सैनिक को क्या सेनापति रखेगा ?

यदि आज्ञा का उल्लंघन करे तो सेनापति सैनिक को गोली से उड़ा देगा । यहां कोई गोली से नहीं उड़ाता, परन्तु कर्मराजा की गोलीबारी तैयार है ।

डाक्टर रोग की खतरनाकता इस कारण से बताते हैं कि रोगी पथ्य का बराबर पालन करे, पथ्य पालन करते हुए कड़वी औषधि आदि बराबर ले । यदि वह ऐसा नहीं करे तो उसका जीवन जोखिम में ही पड़ जाये ।

यहां भी डाक्टर के स्थान पर गुरु है । उनका न मानें तो परलोक में तो दुर्गति आदि होगी ही, इस जन्म में भी रोग आदि आ सकता है ।

गुरु चाहे आयु में लघु हों, अल्पश्रुत हों, तो भी उनकी आशातना आपत्ति का कारण बनती है ।

सच्चे गुरु को छिपाने से उस योगी का कमण्डल आकाश में से नीचे गिर गया था । स्वयं को अध्यापन करने वाले चाण्डाल को उपर बिठाने से ही महाराजा श्रेणिक अवनामिनी-उन्नामिनी विद्या सीख सके थे ।

हमें संयम जीवन व्यतीत करना है, मोक्ष में जाना है; साथ ही साथ अविनय भी करते रहना है । लड्डू (मोदक) खाकर उपवास करना है । चाहे जितनी तप आदि की कठोर साधना हो, लेकिन अविनय हो तो सब निरर्थक है । उदाहरणार्थ कूलवालक । अविनय कौन करेगा ? स्तब्ध - अभिमानी ।

क्रोध भी अभिमान का ही एक प्रकार है । अन्तर में अभिमान होगा तो ही क्रोध आयेगा । अहंकार आहत होने पर ही क्रोध आयेगा ।

‘अपराधाक्षमा क्रोधः ।’ अपराधी को क्षमा नहीं करना ही क्रोध है ।

समस्त दोषों को उत्पन्न करने वाला अहंकार है ।

अहंकार संसार का बीज है, नमस्कार मुक्ति का बीज है ।

हमें कहां रहना है ? मुक्ति में या संसार में ?

अहंकार नहीं छोड़ें तो मुक्ति की साधना किस प्रकार प्रारम्भ होगी ?

मेरा यह कैसा स्वभाव है ? मेरे कारण से मेरे पिता महाराज कैसे परेशान होते हैं ?'

“प्रभु ! मैंने घोर आशातना की । अब मुझे छः माह का अवसर प्रदान करें ।” बाल-मुनि के पिता-मुनि को यह कहने पर अन्त में वे एक गच्छ में रहे ।

बाद में उनमें विनय आया, उनका स्वभाव बदल गया, उन्हें स्व-गच्छ में प्रविष्ट किया गया ।

ॐ ॐ ॐ

छः स्थानों में छः आवश्यक

१. आत्मा है - प्रत्याख्यान - जो मेरा नहीं है उसका त्याग ।
पञ्चवक्त्राण तब ही लिया जाता है, जब शेष बची हुई वस्तु (आत्मा) की श्रद्धा हो ।
२. आत्मा नित्य है - कायोत्सर्ग - काया के उत्सर्ग (त्याग) के बाद जो बचता है, वह नित्य है ।
३. आत्मा कर्म का कर्ता है - प्रतिक्रमण - पाप से पीछे हटना ।
स्वयं किये हुए कर्म भोगने ही पड़ते हैं । अतः स्वयं को ही प्रतिक्रमण के द्वारा पाप से पीछे हटना पड़ता है ।
४. आत्मा कर्म का भोक्ता है - गुरु वन्दन - जिस प्रकार गुरु भगवन्त अपने स्वरूप के भोक्ता हैं, उस प्रकार वही वन्दना वन्दन कर्ता को स्वरूप का भोक्तापन देती है, अथवा गुरु वन्दन कर्म के भोग से मुक्ति प्रदान करता है ।
५. मोक्ष है - चतुर्विंशतिस्तव (लोगस्स) - सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु = सिद्ध भगवान् मुझे मोक्ष प्रदान करें । सिद्ध को नमस्कार तब ही हो सकता है यदि मोक्ष हो ।
६. मोक्ष का उपाय है - सामायिक = समता !
समता से कर्मों का क्षय, कर्म-क्षय से निर्जरा ।
निर्जरा से मोक्ष । समता मोक्ष का उपाय है ।

फलती । इसीलिए दुर्विनीत को विद्या प्रदान करने का यहां निषेध किया गया है ।

पूज्य हरिभद्रसूरिजी ने योग-ग्रन्थों में लिखा है कि अयोग्य शिष्यों को सूत्र आदि प्रदान न करें । योगी कुल में उत्पन्न व्यक्ति ही इसके अधिकारी हैं । अतिसार के रोगी को दूधपाक नहीं खिलाया जाता ।

* विद्या कौनसी प्राप्त करनी चाहिये ? जो अविद्या को नष्ट करती हो वह ।

अनित्य, अपवित्र, जड़ देह को नित्य, पवित्र और चेतन रूप मानना अविद्या है ।

* आत्म-गुणों का नाश अर्थात् आत्मा का नाश ।

देह में प्रगाढ़ अभेद बुद्धि के कारण हमें आत्मा या आत्मा के गुण कदापि याद आते ही नहीं ।

* अपना नाम आगे करने वाला, गुरु को पीछे रखने वाला अविनीत ऋषि-घातक के लोक में (दुर्गति में) जाता है, वैसा यहां बताया गया है ।

गुरु अर्थात् आचार्य ही नहीं, दीक्षा-शिक्षा वगैरह प्रदान करने वाले भी गुरु ही हैं ।

‘गुरु के बिना मुझे कौन दीक्षित करता ? उनके विरुद्ध मैं कैसे बोल सकता हूं ?’ यदि ऐसे विचार सतत समक्ष रहें तो योग्य शिष्य गुरु के विरुद्ध खड़ा हो ही नहीं सकेगा ।

यदि आत्मा का उद्धार करना चाहते हो तो (सचमुच तो इसके लिए ही संयम जीवन अपनाया है) गुरु की अवहेलना कदापि मत करना ।

गोशाला ने भगवान महावीर पर तेजोलेश्या छोड़ी, जिसके कारण अनेक भवों तक वह तेजोलेश्या आदि से मरेगा ।

कितनेक शिष्य कहते हैं - मेरा मन अध्ययन में लगता नहीं है, परन्तु लगे कहां से ? गुरु के आशीर्वाद के बिना चित्त संक्लिष्ट ही रहेगा ।

कितनेक शिष्य तो ऐसे अविनीत एवं उद्धत होते हैं कि वे अपने गुरु के दोष मेरे समक्ष भी प्रकट करते हैं । ऐसे शिष्य



लाकडिया - पालिताना संघ, वि.सं. २०५६

१३-३-२०००, सोमवार
फाल्गुण शुक्ला-८ : बाष्पा

* राधावेध की तरह विद्या की साधना करनी है जो विनय के द्वारा ही संभव है ।

अविनय के मार्ग पर बिना प्रेरणा के चला जा सकता है, परन्तु यहां तो प्रेरणा के पश्चात् भी चलना कठिन है । राधावेध साधने जैसा ही कठिन है ।

* उपयोग शुद्ध बनने पर ही योग शुद्ध बन सकता है । उपयोग समस्त जीवों के लिए स्वरूप-दर्शन लक्षण है । 'परस्परो पग्रहो जीवानाम् ।' यह समस्त जीवों के लिए सम्बन्ध-दर्शक लक्षण है ।

जब उपयोग मलिन होता है तब उपकार के बजाय अपकार होता है । जब शुद्ध उपयोग होता है तब अनायास ही उपकार होता ही रहता है ।

* तीर्थंकर इतने महान होते हुए भी किसी के पास बलपूर्वक धर्म नहीं कराते ।

विनय का उपदेश दिया जाये, परन्तु उसका बल-प्रयोग नहीं हो सकता । धर्म जबरजस्ती से नहीं आ सकता ।

* अविनय से कर्म-बन्धन होता है ।

नवकार परम विनयरूप है । अतः वह समस्तपापों का नाशक एवं समस्त वस्तुओं का सार कहलाता है ।

* नाम तो था विनयरत्न, परन्तु कार्य किये अविनययुक्त । इस विनयरत्न ने रात्रि में राजा का वध कर दिया । उसके पीछे शासन की बदनामी को रोकने के लिए आचार्य प्रवर को भी आत्महत्या करनी पड़ी । आचार्य के प्राण नष्ट हो जाने का उत्तरदायित्व विनयरत्न का गिना जाता है ।

* ज्ञान, दर्शन आदि की अपेक्षा विनय कितना मूल्यवान है, यह समझने की आवश्यकता है । विनय के बिना ज्ञान आदि कदापि सम्यग् नहीं बन सकते ।

विनय तो आराधना रूपी घड़ी का प्रमुख अंग (पुर्जा) है जिस के बिना घड़ी चलेगी ही नहीं ।

आराधना रूपी बगीचे को हराभरा रखने वाला विनय रूपी कुंआ है ।

* विनय साधना का मूल है, साधना का रहस्य है, साधना का ऐदंपर्य है । साधक को यह महसूस हुए बिना नहीं रहेगा । मैं अपने अनुभव के आधार यह बात अधिकार पूर्वक कह सकता हूँ ।

विनय ऐसी चाबी है, जिससे समस्त गुणों के ताले खुल सकते हैं ।

ये समस्त बातें चाहे मेरे अनुभव से मिलती-जुलती आयें, चाहे संवादी हों, परन्तु मेरी बनाई हुई नहीं हैं । यहां 'चंदाविज्झय पयन्ना' में जो उल्लेख है उसके आधार पर ही मैं बोलता हूँ । कोई उल्ट-सीधा हो, भूल हो जाये वह मेरी है ।

'ज्ञान पढ़ो' यह नहीं लिखा, 'ज्ञान सीखो' यह लिखा है । ऐसा क्यों ? क्योंकि स्वयं पढ़ तो सकते हैं परन्तु सीख नहीं सकते । गुरु के बिना सीखा नहीं जा सकता । गुरु हो तो विनय करना ही पड़ेगा ।

* आठों ज्ञानाचार आने के बाद ही सच्चे अर्थ में ज्ञान आ सकता है ।

* 'समयं गोयम ! मा पमायए' यह आपने पढ़ा-सीखा और फिर पुनरावृत्ति की । अब क्या करना ? यह बोलते रहना और क्या प्रमाद करते रहना ? क्या पोपट जैसे बनें ? पोपट की बात कल करुंगा । (तत्पश्चात् पोपट की वार्ता हुई नहीं है ।)

* ज्यादा नहीं आये तो कोई बात नहीं । यदि एकाध श्लोक भी भावित बनाकर जीवन यापन करोगे तो आपको सचमुच परम सन्तोष की अनुभूति होगी ।

* “भो इन्द्रभूते ! सुखपूर्वकं समागतोऽसि ?” यह कहकर यदि भगवान भी औचित्य रखते हों तो हम औचित्य से दूर किस प्रकार जा सकते हैं ?

* गुरु प्रसन्न होकर, आन्तरिक परितोष से जो विद्या प्रदान करते हैं, वही विद्या फलवती होती है । गुरु की अप्रसन्नता पूर्वक प्रदत्त विद्या कदापि फलवती नहीं होती ।

* समस्त विद्याओं के दाता आचार्य गुरु मिलने दुष्कर हैं और उन्हें ग्रहण करने वाला विनयी शिष्य मिलना कठिन है ।

“श्राद्धः श्रोता सुधीर्वक्ता !” यह कहते हुए हेमचन्द्रसूरिजी ने यही बात कही है ।

* यहां 'शिक्षक' शब्द का अर्थ 'पढ़ाने वाला' नहीं, 'पढ़ने वाला' करें। मन्दकषाथी ऐसे शिक्षक अत्यन्त दुर्लभ हैं।

हमारी उद्धता कषायों की उग्रता सूचित करती है ।

"ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबल कषाय- अभाव"

- यशोविजयजी

जब तक अनन्तानुबंधी कषाय नष्ट नहीं होते, तब तक धर्म नहीं आता । हमें अन्तरात्मा में देखना है कि “कषायों की मात्रा अधिक है या गुणों की ?”





पदवी प्रसंग, सुत, वि.सं. २०५५

१४-३-२०००, मंगलवार
फाल्गुन शुक्ला-६ : चंदुर

* आगम-पठन रूप स्वाध्याय से सर्वोत्कृष्ट कर्म-निर्जरा होती है, आठों कर्मों का क्षय होता है ।

स्वाध्याय रूपी अभ्यन्तर तप से पूर्व प्रायश्चित्त, विनय और वैयावच्च है । स्वाध्याय सीखने के लिए विनय आदि आवश्यक हैं ।

विनय के बिना व्यावहारिक विद्या भी नहीं आ सकती । अर्जुन के समान विद्या अन्य कोई भी सीख नहीं सका क्योंकि अर्जुन के समान अन्य कोई विनयी नहीं था । सीख तो सब रहे थे, परन्तु विनय की मात्रा के कारण विद्या की मात्रा में अन्तर पड़ गया ।

जगत् की समस्त विद्याओं की अपेक्षा मोक्ष-विद्या सर्वोत्कृष्ट है । व्यावहारिक जगत् में भी विनय की इतनी आवश्यकता पड़ती है तो फिर मोक्ष-विद्या में कितनी आवश्यकता पड़ती होगी ?

‘चंदाविज्झय् पयत्ना’ सम्पूर्ण ग्रन्थ विनय-प्रधान है । यदि आप उसका स्वाध्याय करेंगे तो निश्चित रूप से विनय जीवन में उतरेगा ।

गुरु का विनय करने से गुरु के समस्त गुणों का हमारे भीतर

संक्रमण होगा । आज तक हमने अपने भीतर दोषों का ही संक्रमण किया है, क्योंकि हमने दोषों का ही विनय किया है । जो वस्तु हमें प्रिय है । वह हमें प्राप्त होती है । यदि दोष प्रिय लगते हैं तो दोष मिलते हैं और यदि गुण प्रिय लगते हैं तो गुण मिलते हैं ।

विनय के अभाव में न तो गृहस्थ-जीवन की शोभा है और न साधु-जीवन की । यदि एक भी अविनीत व्यक्ति आ जाये तो गृप की क्या दशा होती है ? हमें इसका अनुभव है । यह सब देखकर हमें निर्णय कर लेना चाहिये कि मैं किसी का अविनय नहीं करूंगा । यदि कोई दूसरा व्यक्ति अविनय करे तो हम कदाचित् उसे नहीं रोक सकें, लेकिन हमारे स्वयं का अविनय तो हम रोक ही सकते हैं न ?

गृहस्थ पुरुषार्थ से धन की वृद्धि करते हैं तो क्या हमें विनय से विद्या आदि गुणों की वृद्धि नहीं करनी चाहिये ?

विनीत व्यक्ति की सभी प्रशंसा करते हैं, परन्तु अविनीत की प्रशंसा क्या किसी ने की है ? इतना समझते हुए भी अविनय क्यों नहीं मिटता और जीवन में विनय क्यों नहीं आता ?

जाणंता वि विणयं केइ कम्माणुभाव-दोसेणं ।

निच्छंति पडंजित्ता, अभिभूया रागदोसेहि ॥ १६ ॥

अनेक व्यक्ति विनय को जानते हुए भी उसे जीवन में नहीं उतार सकते । कर्मसत्ता इतनी प्रबल होती है कि जीवन में उतारने की इच्छा ही नहीं होती ।

* अविनय, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि करके यदि किसी कार्य में सफलता प्राप्त करें और उन दोषों की सराहना करें तो समझ लें कि वे दोष कदापि जायेंगे नहीं, जन्मान्तर में भी वे आपके साथ आयेंगे ।

भगवान के पास गुणों का भण्डार है क्योंकि भगवान ने उनका आदर किया है ।

* राग-द्वेष मिथ्यात्व के कारण बढ़ता है और मिथ्यात्व के नाश से धीरे-धीरे राग-द्वेष घटते रहते हैं; क्योंकि मिथ्यात्व दूर होने से जानकारी मिलती है कि ये राग-द्वेष ही मेरे भयानक शत्रु हैं, अन्य कोई नहीं ।

शत्रु का एक बार पता लग जाये तो फिर उसके साथ आप कदापि मित्रता नहीं कर सकते ।

* बुद्धिहीन 'माषतुष' मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हो गया । महाबुद्धिमान जमालि जीवन को हार गये । क्या कारण है ? कारण यही कि 'माषतुष' के पास विनय था, जमालि के पास विनय का अभाव था ।

* जितेन्द्रिय की ही निर्मल कीर्ति फैलती है । लोलुप व्यक्ति कीर्ति पाने की आशा नहीं रख सकता ।

* धनहीन व्यक्ति दरिद्र, पुण्यहीन, भाग्यहीन कहलाता है । विनयहीन साधु अत्यन्त पुण्यहीन कहलाता है ।

* पूर्वजन्म की साधना के फल का इस जन्म में हम उपभोग कर रहे हैं, परन्तु अब इस भव में यदि हम साधना नहीं करेंगे तो आगामी जन्म में हमारा क्या होगा ?

* हमें चारों दुर्लभ पदार्थ (माणुस्सत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि अ वीरिअं ।) प्राप्त हो गये हैं, ऐसा व्यवहार में कहा जा सकता है परन्तु इनका हमारे लिए मूल्य कितना ?

* यदि कोई अविनयी, आचार्य के गुण छिपाये, आचार्य की अपकीर्ति हो ऐसा व्यवहार करे, वह ऋषिघातक के लोक (नरक) में जाता है, ऐसा यहां उल्लेख है ।

मिथ्यात्वके बिना ऐसा सम्भव नहीं है । मिथ्यात्व की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटिकोटि सागरोपम की है ।

घोर (प्रगाढ़) मिथ्यात्व से ही ऐसे विचार आते हैं ।

* समस्त विद्याओं का मूल विनय है । यदि समस्त विद्याओं का रहस्य जानना चाहो तो विनय को अपना लें । यदि कोई व्यक्ति एक करोड़ रुपयों का चैक दे दे, तो उसने क्या दिया हुआ कहलायेगा ? इसमें मकान, दुकान आदि सब आ गया कि नहीं ? इस तरह विनय आ जाये तो सब कुछ आ गया ।

विनीत शिष्य के लक्षण -

१. सरल - उदाहरणार्थ मुक्तानन्दविजयजी ! पूर्ण रूपेण सरल । पूज्य देवेन्द्रसूरिजी अत्यन्त सरल थे । हमने अनेक बार अनुभव किया है । श्रावकों में गांधीधाम-निवासी देवजीभाई याद



वडी दीक्षा प्रसंग, आधोई, वि.सं. २०२९

१५-३-२०००, बुधवार
फाल्गुन शुक्ला-१० : शंखेश्वर

* शास्त्रों में विनय कहाँ है ? ऐसा नहीं, विनय कहाँ नहीं है, ऐसा पूछो । प्रत्येक कार्य का नवकार से प्रारम्भ होता है और नवकार परम विनय रूप है ।

नवकार का प्रथम पद 'नमो' विनय को ही बताता है । 'अरिहंताणं' से भी उसका स्थान प्रथम है ।

गुणों को आप चाहे जितने निमंत्रण पत्र लिखें, परन्तु उन्होंने मीटिंग में निश्चय किया हुआ है कि विनय हो तो ही जायेंगे ।

यदि विनय नहीं होगा तो एक भी गुण नहीं आयेगा । विनय-रहित गुण गुणाभास कहलायेंगे ।

स्वर्य के पास नहीं होते हुए भी अपने (पचास हजार) शिष्यों को केवलज्ञान प्रदान करने की शक्ति गौतम स्वामी में विनय से ही आई थी । भगवान महावीर के ७०० शिष्यों को ही केवलज्ञान प्राप्त हुआ था, जबकि गौतम स्वामी के सभी शिष्यों को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था ।

* हम तक श्रुतज्ञान पहुंचा जिसमें हमारे समस्त पूर्वजों का योगदान है । अब हमारा सम्पूर्ण उत्तरदायित्व है कि हम हमारे अनुगामियों को यह श्रुतज्ञान पहुंचायें ।

* ३६ X ३६ = १२९६ गुण ही आचार्य में है, ऐसा न मानें । यहां बताया है कि आचार्य में लाखों गुण हैं ।

आचार्य कैसे होते हैं ?

१. व्यवहार - मार्ग - उपदेशक ।
२. श्रुतरत्न के महान् सार्थवाह (बड़े व्यापारी)
३. पृथ्वी के समान सहनशील ।

चाहे जितनी पृथ्वी को खोदें, परन्तु क्या कभी चूँ तक करती है ? चाहे जितना बोझ डालो, परन्तु क्या कभी उफ तक करती है ? इसी-लिए उसका नाम 'सर्वसहा' है । आचार्य भी ऐसे ही सहिष्णु होते हैं ।

४. चन्द्रमा के समान सौम्य ।
५. समुद्र के समान गम्भीर ।

इसीलिए वे आलोचना प्रदान कर सकते हैं । बारह वर्षों तक प्रतीक्षा करने का कहा गया है, परन्तु अगीतार्थ से आलोचना प्राप्त करने का शास्त्र में निषेध है ।

६. दुर्धर्ष - वादी आदि से अपराजेय ।
७. कालज्ञः - किस समय क्या करना उसके ज्ञाता ।
८. देश, जीवों के भाव, द्रव्य आदि के ज्ञाता ।

आचार्य जान सकते हैं कि कौनसा व्यक्ति किस भाव से बोलता है ? उसके शब्दों से वे उसकी भूमिका जान लेते हैं ।

९. वे शीघ्रता नहीं करते, अधीरता नहीं करते ।

हम सब उतावले हैं, परन्तु आचार्य धैर्यवान होते हैं । आम का वृक्ष भी फलों के लिए समय की अपेक्षा रखता है तो अन्य कार्य वैसे ही कैसे सफल हो सकते हैं ?

१०. अनुवर्तक - वे जानते हैं कि शिष्य को किस प्रकार आगे बढ़ाया जाये ।

हमें ऐसे अनुवर्तक गुण से युक्त पू. कनकसूरिजी, पू. प्रेमसूरिजी, पू.पं. भद्रंकरविजयजी (चाहे आचार्यपद स्वीकार नहीं किया परन्तु उनमें गुण थे) जैसे महापुरुषों के सान्निध्य में रहने का अवसर प्राप्त हुआ है जो हमारा पुन्योदय है ।

११. अमायी (मायारहित) - तनिक भी माया नहीं रखते ।

१२. स्व-पर आगमों के ज्ञाता - प्रत्येक शास्त्र में उनकी बुद्धि कार्य करती है ।

१३. द्वादशांगी को सूत्र, अर्थ एवं तदुभय से आत्मसात् करने वाले होते हैं ।

छः आवश्यकों में प्रथम सामायिक है । समस्त द्वादशांगी का सार सामायिक है ।

सामायिक पर लाखों श्लोक प्रमाण साहित्य है । सामायिक का इतना महत्त्व समता के महत्त्व का सूचक है ।

दीक्षा के समय केवल सामायिक के पाठ का ही उच्चारण किया जाता है । सामायिक अर्थात् सावद्य योगों (१८ पापस्थानक) के त्याग पूर्वक निरवद्य योगों (सामायिक आदि) का सेवन ।

तीनों योगों में समता का नाम सामायिक है । देह को इधर-उधर न हिलने दें, ज्यों त्यों वचन न बोलें, मन में दुर्विकल्प उत्पन्न न होने दें, तो तीनों योगों में समता आ सकती है और सामायिक स्थिर रहती है ।

* प्रथम विनय का वर्णन किया, क्योंकि विनय से ही शिष्य बना जा सकता है । जो शिष्य बनता है वही गुरु बन सकता है । शास्त्रकार ने कहा है कि गुरु बनने के लिए शीघ्रता न करें । शिष्य बनने का प्रयत्न करें । शिष्य बने बिना यदि गुरु बन गये तो आप स्वयं ही विपत्ति में फँस जायेंगे । शिष्य बनने के लिए सर्व प्रथम विनय आवश्यक है ।

* अविनय विष है । जब तक अविनय रूपी विष नहीं मिटेगा, तब तक हमारे भाव-प्राणों की पल-पल में हो रही मृत्यु रूकेगी नहीं ।

* तीन दिनों तक शंखेश्वर में हैं तो बराबर भक्ति करें । यह मूर्ति नहीं है, साक्षात् भगवान ही हैं यह मानें । भक्तों की प्रार्थना से मानो ये मूर्ति के रूप में यहां पधारे हैं । भगवान की भाषा समझ सको तो ये हमें बोलते प्रतीत होंगे ।

* 'आवो-आवो जसोदा ना कंत' - इस प्रकार आप भगवान को बुलायें । उन्हें निमंत्रण दें फिर भी भगवान कोई प्रतिभाव न बतायें यह कभी हो सकता है ? पांच हजार अट्टम हुये थे तब मैंने यह प्रश्न पूछा था । उत्तर आपको कल बताऊंगा ।

ॐ ॐ ॐ



मनफरा प्रतिष्ठ प्रसंग, वि.सं. २०२३, वै.सु. १०

१७-३-२०००, शुक्रवार
फाल्गुन शुक्ला-१२ : शंखेश्वर

* भूतकाल में कदापि यह जिन-शासन नहीं मिला । मिला भी होगा तो फलीभूत नहीं हुआ, आराधना नहीं की । हमारे साथ रहने वाले अनन्त जीव परम पद पर पहुँच गये, परन्तु हम जहाँ के तहाँ रहे, क्योंकि हमें विषय-कषाय ही मधुर लगे, प्रिय लगे । हम उनका ही सेवन करते रहे ।

जब चारों ओर आग लगी हो । नगर से बाहर निकलने का एक ही द्वार हो, उस समय आदमी किसी को अधिक पूछे बिना बाहर निकलने का प्रयास करता है । उनमें ही एक अन्धा था । उसका हाथ पकड़कर उसे नगर से बाहर कौन ले जाये ? एक सज्जन ने उसे सलाह दी कि मैं आपका हाथ तो नहीं पकड़ सकता, लेकिन आप एक कार्य करें - दीवार को पकड़-पकड़ कर चलते रहें । द्वार आते ही आपको पता लग जायेगा । अन्धा बिचारा अभागा था । उसने वैसा किया तो सही, परन्तु जब द्वार आया तब ही उसने खाज करने के लिए दीवार पर से हाथ हटा लिया और चलता रहा । फलतः द्वार छूट गया ।

हम उस अन्धे के समान तो नहीं हैं न ? जिन-शासन युक्त

यह मानव-भव का द्वार आया है तब विषय-कषाय की खाज तो नहीं आ रही है न ?

* उपशम श्रेणी तक चढ़े हुए चौदह पूर्वी को ऐसी क्या रूकावट आती होगी कि वहां से भी वह निगोद में जा पहुंचे ? पुस्तक, उपकरण आदि में से किसी स्थान के प्रति सूक्ष्म ममत्व रह जाता होगा न ? देखना, हमें तो कहीं ममत्व नहीं है न ?

* 'लहिअट्टा, गहीअट्टा, पुच्छट्टा' विशेषण श्रावकों के ही नहीं, साध्वियों के भी होते हैं। क्यों होते हैं ? आगमों को श्रवण करके ऐसे बने हुए होते हैं। जब जब अवसर मिलता है तब वे तत्त्वपूर्ण आगमों के पदार्थ सुनते हैं।

हमारे फलोदी के फूलचन्द, देवचन्द कोचर आदि ऐसे श्रावक थे। बड़े-बड़े आचार्य आते तब कर्म-साहित्य आदि पर रात को बारह बजे तक चर्चा चलती।

चण्डकौशिक ने भगवान को बुलाने के लिए 'फेक्स' या फोन के द्वारा कदापि निमन्त्रण नहीं दिया था। निमन्त्रण-पत्रिका भी नहीं लिखी थी, वह चाहता भी नहीं था कि भगवान वहां आये, फिर भी भगवान स्वयं उधर गये। भगवान अनिर्मित्रित आगन्तुक थे। 'अनाहूत सहाय' भगवान का विशेषण है।

समता रखे, सहन करे और सहायता करे वह साधु कहलाता है। चण्डकौशिक के इस कथानक से बोध लेकर हमें इस प्रकार (दूसरे के विषय-कषाय दूर करने के प्रयास में) सहायता करनी चाहिये।

* आचार्य दीपक तुल्य होते हैं। एक सूर्य में से हजार सूर्य नहीं बनते हैं। एक दीप से हजारों दीप प्रज्वलित हो सकते हैं। केवलज्ञान सूर्य है, परन्तु श्रुतज्ञान दीपक है। यह दूसरों को दिया जा सकता है।

आचार्य दूसरों को अपने समान बनाते हैं। हमें यदि पूर्व पुरुष नहीं मिले होते तो क्या हम ऐसे बन जाते ?

आचार्य तो धन्य हैं ही, आचार्यों की सेवा करने वाले धन्यता के भागी हैं। अस्त होने के पश्चात् सूर्य प्रकाश नहीं दे सकता, दीपक बाद में भी प्रकाश दे सकता है। इसी कारण से यहां आचार्य को दीपक की उपमा दी गई है।

* हमें यहां सूर्य अस्त होता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु सचमुच तो वह कदापि अस्त नहीं होता । यहां अस्त होने वाला सूर्य कहीं अन्यत्र उगता होता है । आचार्य भगवन्त सूर्य के समान भी हैं । वे जहां जाते हैं वहां सतत ज्ञान-प्रकाश बहाते रहते हैं ।

आचार्य देव को नमस्कार करने से, उनके प्रति भक्ति-राग लाने से इस लोक में कीर्ति तथा परलोक में सद्गति प्राप्त होती है । स्वर्ग में भी उनकी प्रशंसा होती है । इन्द्र भी आचार्य भगवान का विनय करते हैं ।

‘विरति को प्रणाम करके इन्द्र सभा में बैठते हैं ।

- पू.पं. वीरविजयजी

शास्त्रों में उल्लेख है कि छट्ट, अट्टम, मासक्षमण आदि समतापूर्वक करने वाले उग्र तपस्वी एवं घोर (महान्) साधक भी यदि गुरु का विनय नहीं करें तो वे अनन्त संसारी बनते हैं । ऐसा उल्लेख क्यों है ? आचार्य भगवन चाहे छोटे हों, अल्पश्रुत हों या अल्प प्रभावी हों, परन्तु उनकी आज्ञा नहीं मानने से या अविनय करने से ऐसी परम्परा चलती है, अन्य व्यक्ति भी ऐसा ही अविनय सीखते हैं । मिथ्या परम्परा में चलने की अपेक्षा मिथ्या परम्परा प्रवर्तक भारी दोष का भागी होता है ।

‘नगुरा नर कोई मत मिलो रे, पापी मिलो हजार;

एक नगुरा के ऊपरे रे, लख पापों का भार ।’

ऐसा करने वाला अनन्त संसारी बने तो क्या आश्चर्य है ?

* आम का वृक्ष फल लगने पर नम्र बनता है, उस प्रकार विनीत भी नम्र होता है, कृतज्ञ होता है, दूसरों के उपकारों को जानने वाला होता है, वह आचार्य की मनोभावना को समझने वाला होता है और वह तदनुसार अनुकूल व्यवहार करने वाला होता है ।

ऐसे विनीत शिष्य हों वे आचार्य जिन-शासन के प्रभावक बन सकते हैं, वे राज्यसभा में सीना ठोक कर कह सकते हैं कि “नहीं, आपके राजकुमारों की अपेक्षा हमारे जैन साधु अधिक विनयी हैं ।”

मैं आज ऐसा नहीं कह सकता । पूज्य कनकसूरिजी जैसा वचनों की आदेयता का मेरा पुन्य नहीं है । मैं कहूंगा और साध्वी वर्ग मेरा मानेंगे ही, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास नहीं है ।

पादलिससूरिजी के आदेश से जानते हुए भी वह बालमुनि गंगा नदी कौन सी दिशा में बहती है ? वह देखने निकले थे ।

ऐसे विनीत शिष्य ही गुरु से ज्ञान आदि का खजाना प्राप्त कर सकते हैं । विनीत शिष्य सहनशील होते हैं । गुरु के आशीर्वाद से उसमें सहनशीलता आयेगी ही । लम्बे विहार, कंटीला तप्त मार्ग, बिना ठिकाने का मुकाम, गोचरी-पानी की कठिनाई आदि के समय शिष्य मेरु के समान सहनशील होता है ।

ॐ ॐ ॐ

नारियल

द्राक्ष : नारियल भाई ! सुनो । इस विश्व में जितने फल हैं उनमें कुछ न कुछ तो फैंकने योग्य होता ही है, जैसे आम के गुठली-छिलके, केले के छिलके, सेव में उसके कुछ बीज फैंकने पड़ते हैं, परन्तु मैं ही जगत् में ऐसा फल हूँ कि जिसका एक भी भाग फैंकना नहीं पड़ता । बालक-वृद्ध सभी आनन्द पूर्वक मेरा आस्वादन कर सकते हैं और हे नारियल ! तेरा तो कोई जीवन है ? ऊपर कैसे बाबों जैसी जटा है, भीतर कैसी हड्डी जैसी कठोर कांचली है और भीतर थोड़ा ही काम में आने योग्य पदार्थ होता है । तेरे जैसे का तो विश्व में अस्तित्व ही न हो तो कितना उत्तम हो ?

उच्च खानदान वाला नारियल बोला - बहन द्राक्ष ! तुझे क्या पता ? सच्ची बात तनिक समझ तो सही । मैं आसन, वासन (वस्त्र) और प्राशन के काम में आता हूँ । मेरी जटा से सुन्दर आसन बनता है, रस्सा बनता है और मेरी खोपड़ी से प्याले आदि बनते हैं और मैं खाने में और पीने में दोनों में काम में आता हूँ । मेरे तेल से कितनी ही श्रेष्ठ मिठाइयाँ बनती हैं । आदमी के बालों को मेरा तेल सुगन्धित बनाता है । मेरी महत्ता का मूल्यांकन तू कैसे कर सकती है ? आखिर तो तू शराब (मदिरा) की जननी है न ? तुझ में उन्नत बकवास के अलावा और क्या हो सकता है ?

* यहां जितनी पांजरपोल देखने में आती हैं, उनमें किसी न किसी एक समर्पित व्यक्ति की सेवा होती है। इसके बिना पांजरपोल चल ही नहीं सकती। गृहस्थों में भी दया, दान आदि गुण इतने विकसित होते हैं, तो हममें गुण कैसे होने चाहिये ?

* चौदह पूर्व कण्ठस्थ होने आवश्यक नहीं है, एक पदके आलम्बन से भी अनन्त जीवों ने सम्यक्त्व प्राप्त किया है। 'उपशम - विवेक - संवर' इन तीन शब्दों को सुनने से वह चिलातीपुत्र सद्गतिगामी हुआ था।

* आज शिष्य-शिष्याएं बढ़ रहे हैं, क्योंकि उनकी शर्त आप (गुरु) मान्य करते हैं। आपने दीक्षा के लिए जितना परिश्रम किया है, क्या उन्हें आप सम्यक्त्व प्राप्त कराने के लिए उतना परिश्रम करते हैं ? सम्यक्त्व ही संसार में अत्यन्त दुर्लभ है।

* मार्गाच्चवन - कर्म - निर्जरार्थ परिषोढव्याः परिषहाः। 'तत्त्वार्थ' में उल्लेख है कि मार्ग से च्युत नहीं होने के लिए तथा कर्म-निर्जरा के लिए परिषह सहन करने हैं।

आज तक अनेक कष्ट सहन किये हैं, लेकिन रो-रोकर सहन किये हैं। हंसते-हंसते कदापि कष्ट सहन नहीं किये। यदि हंसते-हंसते कष्ट सहन किये होते तो कर्म समूल नष्ट हो जाते।

शिष्य बनने की प्रथम शर्त है - सहनशीलता।

इसके स्थान पर यदि हम उसे सुखशील बनायें तो ? ऐसे सुखशीलों को वयोवृद्ध व्यक्ति 'खसठ' कहते थे। (ख = खाना, स = सोना और ठ = ठल्ले (स्थंडिल) जाना।

व्यापार के बिना व्यापारी को दिन निरर्थक लगता है, उस प्रकार कर्म-निर्जरा रहित दिन साधु को निरर्थक लगता है।

आप निश्चय मानें कि भगवान के द्वारा प्ररूपित प्रत्येक अनुष्ठान में पुन्य, संवर एवं निर्जरा समाविष्ट ही हैं।

मोह चाहे कितने ही धमपछाड़ करे, फिर भी धर्मशासन की जय-जयकार ही है और रहेगी। आखिर धर्मशासन लाभ में ही है। प्रति छः महिनों में एक सिद्ध, प्रति माह एक सर्व विरती, प्रति पक्ष में एक देश विरति और प्रति सप्ताह एक जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता ही है। यह धर्मशासन की विजय है।



पदवी दीक्षा प्रसंग, आधोई - कच्छ, वि.सं. २०४६, माघ शु. ६

२२-३-२०००

चैत्र कृष्णा-२ : कचोलीया

* भगवान केवल कल्याण के कारण ही नहीं हैं, स्वयं भी कल्याण स्वरूप हैं। 'परमकल्लाणा, परमकल्लाणहेऊं' भगवान मात्र वर्णन से ही नहीं, चिन्तन एवं कल्पना से भी परे हैं।

भगवान की शरण स्वीकार करें। 'त्वमेव शरणं मम' कहा तो भगवान ने हाथ पकड़ लिया ही समझो।

भगवान 'नाथ' हैं। नाथ केवल औपचारिक नहीं है, परन्तु योग + क्षेम करते हुए सच्चे अर्थ में नाथ हैं। भगवान को नाथ किसने कहा है ? बीज-बुद्धि के निधान गणधर भगवंतो ने। अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांगी के रचयिता जब ऐसे विशेषणों के साथ भगवान की स्तुति करते हैं तो उसमें अवश्य कुछ तथ्य होना चाहिये।

* भगवान के गुण गाने से हमें क्या लाभ है ? लाभ यह है कि भगवान के जो जो गुण गायेंगे, वे वे गुण हमारे भीतर प्रविष्ट होते जाते हैं।

'जिन उत्तम गुण गावतां गुण आवे निज अंग...'

- पद्मविजयजी

जिन-जिन गुणों का अभाव प्रतीत हो, उन-उन गुणों का गान करते जाओ ।

* भगवान की अनुपस्थिति में गुरु ही भगवान स्वरूप हैं, यह लगना चाहिये । इसीलिए 'इच्छकारी भगवन् !' आदि में गुरु के लिए 'भगवान' शब्द प्रयुक्त हुआ है । हम उसे पूज्यवाची शब्द मान कर उसकी अवहेलना कर देते हैं, लेकिन हम यह कभी भी नहीं सोचते कि गुरु में भगवद्-बुद्धि जागृत करने के लिए यह है ।

* हमारी उदंडता का हमें कदापि विचार नहीं आता । यह तो गुरु ही बता सकते हैं । बड़े-बड़े डाक्टर भी अपने रोग का उपचार स्वयं नहीं करते, दूसरे डाक्टर से कराते हैं । आज भी मैं आलोचना अन्य आचार्य भगवन् से लेता हूँ ।

* आज ध्यान के नाम पर अनेक शिविरों का आयोजन होता है, परन्तु वे सफल तब ही होंगे, जब भगवान केन्द्र स्थान पर होंगे ।

* जिस प्रकार बालक को माता पर विश्वास होता है, उस प्रकार भक्त को भगवान पर विश्वास होता है कि 'भगवान मेरे पास ही हैं ।'

* आज भी मैं जब बोलना प्रारम्भ करता हूँ तब कोई निश्चित नहीं कि मैं क्या बोलूंगा ? भगवान बुलवाते हैं वैसा बोलता रहता हूँ । ऐसा अनुभव अनेक बार होता है ।

“प्रभु-पद वलग्ना ते रह्या ताजा...”

“देशो तो तुमही भलूँ...” आदि मेरी प्रिय पंक्तियाँ हैं ।

ठोठ (भोट) रहना अच्छा, परन्तु भगवान के अलावा अन्य कहीं से मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, आज भी मेरा ऐसा अटल विश्वास है ।

* तीन गारव में ऋद्धि गारव सबसे खतरनाक है, क्योंकि वह मिथ्यात्वजनित है, जिसके कारण ऐसी इच्छा होती है कि 'मैं गुरु से भी आगे बढ़ूँ ।'

हमें प्राप्त लब्धियों तथा सिद्धियों का प्रयोग अपनी महत्त्वाकांक्षा को सन्तुष्ट करने के लिए करें तो समझ ले कि हृदय की गहराई में मिथ्यात्व है ।

जहां मिथ्यात्व होता है वहां अहंकार, माया, कपट आदि अनेक दोष होते हैं ।

* हम औदयिक भाव में जी रहे हैं, उसमें से हमें क्षायोपशमिक भाव में आना है और अन्त में क्षायिकभाव में रूकना है ।

* विनीत व्यक्ति विनय के साथ स्वाध्याय भी करे, परन्तु वृद्धों आदि की सेवा की स्वाध्याय के नाम पर उपेक्षा न करे ।

* पू. पंन्यासश्री महाराज कहते थे कि सागरजी महाराज के पास अन्य समुदाय की साध्वीजीने दीक्षा हेतु उपधि की मांग की । सागरजी महाराज ने उपधि तुरन्त दे दी । उस काल में परोपकार आदि गुण स्वाभाविक थे ।

हमारा जन्म ही ऐसे समय में हुआ है कि परोपकार बुद्धि कम रहती है, यह सोचकर बैठे नहीं रहना है, परन्तु यह गुण लाने के लिए अत्यन्त ही प्रयत्न करना है ।

* सहजमल का जोर होगा, तब तक कर्म कम हो जायेंगे तो भी पुनः कर्म बढ़ जायेंगे । 'सहजमल' अर्थात् कर्म-बन्धन की योग्यता । अनेक व्यक्ति ध्यान-शिविर में जाकर कहते हैं - 'हमारे कर्म घट गये ।' कर्म घट जाये, परन्तु सहजमल यदि नहीं घटे तो क्या लाभ ? भगवान की उपासना के बिना सहजमल नहीं घटता ।

विनय की वृद्धि न हो, भक्ति उत्पन्न न हो तो समझें कि सहजमल नष्ट हुआ नहीं है ।

तथाभव्यता की परिपक्वता से सहजमल नष्ट होता है, जो चारों की शरणागति से होता है । शरणागति ही भक्ति है ।

सद्गुणों की भेंट भगवान के द्वारा ही प्राप्त होती है । यह मैं अपने अनुभव से अधिकार पूर्वक कह सकता हूँ ।

भक्ति के बिना प्राप्त विनय की परीक्षा कैसे होगी ?

'मैं विनयी हूँ' ऐसा भाव भी अहंकार-जनित है ।

ॐ ॐ ॐ

देते समय रोगी की मृत्यु हो गई थी । अनुभवरहित डाक्टर समाज को जितनी हानि पहुंचाता है, उसकी अपेक्षा योग्यता रहित गुरु अनेक गुनी हानि करता है ।

“जिम जिम बहुश्रुत बहुजन सम्मत, बहुशिष्ये परिवारियो ।

तिम तिम जिनशासननो वैरी, जो नवि निश्चय धरियो ॥”

पूज्य यशोविजयजी की यह टिप्पणी कितनी वेधक है ? हम भी उसमें आ गये ।

* जो सैनिक स्वरक्षा नहीं कर सकता वह देश-रक्षा कैसे कर सकेगा ? यदि ऐसा सैनिक सेनापति बन जाये तो देश के लिए रोने का अवसर आयेगा । शिष्य बने बिना गुरु बने हुए व्यक्ति शासन के लिए ऐसे ही हानिकारक बन जाते हैं ।

* आप चाहे जितना न्याय, व्याकरण आदि का अध्ययन करो, परन्तु आचार्य आदि दसों की वैयावच्च में उपेक्षा करो तो उस अध्ययन का कोई अर्थ नहीं है । विद्वान एवं वक्ता बनने के बाद भी वैयावच्च को नहीं भूलना है ।

* हमारे अग्रजों ने अपने समुदाय की कैसी छाप खड़ी की है, वह तो देखो । आज ही राजकोट से विनती आई है - ‘हमें आपके ही समुदाय की साध्विजियों की आवश्यकता है ।’
कौन तैयार होगा ?

हम ‘भचाऊ’ में स्थिरता के लिए आये थे, लेकिन पूज्यश्री की इच्छा जानकर गांधीधाम चले गये ।

मैं किसी को आदेश नहीं देता । मुझे भी “इच्छाकार” समाचारी संभालनी पड़ती है । मुझे आप के हृदय में इच्छा उत्पन्न करानी होती है, पुलिस की तरह आज्ञा नहीं देनी होती ।

पूज्य कनकसूरिजी का यह समय नहीं रहा । उनका कालधर्म हुए ३७ वर्ष हो गये । प्रति दस वर्ष में समय बदलता जाता है । अत्यन्त ही तीव्र गति से सब बदल रहा है ।

इतनी आयु में भी पू. कनकसूरिजी स्वयं तीन पाठ देते थे, फिर भी उनकी इच्छा का सम्मान करके मैं गांधीधाम गया । आखिर आशीर्वाद काम आता है ।

* जिनके पास दीक्षा अंगीकार की, जिन्हें गुरु के रूप

मैं स्वीकार किया, उनके अवर्णवाद बोलने के समान अन्य निर्गुणता एक भी नहीं है। सुविनीत शिष्य स्वगुरु की कीर्ति बढ़ाता है। ऐसे सुयोग्य शिष्य की कीर्ति स्वयं ही फैलती है।

कम से कम इतना निश्चय करें कि 'जो यह वेष धारण किया है, उसकी कही निन्दा न हो, परन्तु प्रशंसा ही हो, ऐसा ही व्यवहार मैं करूंगा। मेरे निमित्त शासन की निन्दा हो, उसके समान कोई पाप नहीं है। शासन की प्रशंसा हो उसके समान कोई पुण्य नहीं है। यह बात मैं हमेशा याद रखूंगा।

लोगों में मिथ्यात्व की वृद्धि हो, उसके समान अन्य पाप कौन सा है ?

ॐ ॐ ॐ

हमारे आगमन से वे भाग जाती हैं

जंगल से गुजरते समय किसी व्यक्ति को चार स्त्रियाँ मिलीं।

उनके नाम थे - बुद्धि, लज्जा, हिम्मत और स्वस्थता।

व्यक्ति ने पूछा - "तुम कहाँ रहती हो ?"

"हम चारों क्रमशः मस्तिष्क, आँख, हृदय और पेट में रहती हैं।"

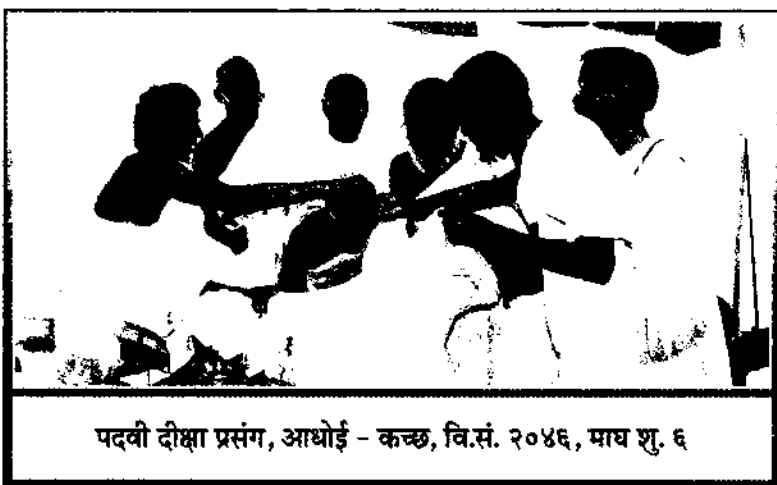
उत्तर सुनकर वह आगे चला तो उसे चार पुरुष मिले। उनके नाम थे : क्रोध, लोभ, भय एवं रोग। उन्हें पूछा, 'आप कहाँ रहते हैं ?'

"हम चारों क्रमशः मस्तिष्क, आँख, हृदय और पेट में रहते हैं।"

"अरे ! वहाँ तो वे स्त्रियाँ रहती हैं !"

"आपकी बात सत्य है, परन्तु हमारा आगमन होते ही वे घर छोड़कर भाग जाती हैं।"

क्रोध से बुद्धि, लोभ से लज्जा, भय से हिम्मत और रोग से स्वस्थता (आरोग्य) नष्ट होती है।



पदवी दीक्षा प्रसंग, आधोई - कच्छ, वि.सं. २०४६, माघ शु. ६

२४-३-२०००, शुक्रवार
चैत्र कृष्णा-४ : वणा

हंतूण सव्वमाणं सीसो होउण ताव सिक्खाहि ।
सीसस्स हुंति सीसा, न हुंति सीसा असीसस्स ॥ ४३ ॥

- चंदाविज्झय पयन्ना

सर्वोत्कृष्ट दुर्लभ वस्तुएँ हमें प्राप्त हुई हैं । उनका यदि सदुपयोग करें तो काम हो जाये । इस जन्म में नहीं तो दो-चार या सात-आठ भवों में काम हो जाये ।

* इस 'चंदाविज्झय पयन्ना' ग्रन्थ में अभी ही साधना में सहायक बनने वाले सद्गुणों को प्राप्त करने की बात है ।

हमें बिना श्रम किये यह चारित्र प्राप्त हो गया है, यह बात सत्य है, परन्तु यह तो द्रव्यचारित्र है । भाव-चारित्र तो आत्मगुणों के द्वारा आता है, विनय आदि से आता है । श्वेत वस्त्र, सुन्दर दांडा, चमकता हुआ ओघा - ऐसे स्वच्छ-शुद्ध वेष से साधुत्व मिल जायेगा, ऐसा कदापि न मानें । अरे ! द्रव्य से उत्कृष्ट किया होने पर भी भावचारित्र नहीं भी आये ऐसा भी हो सकता है ।

* मोक्ष की इच्छा है - ऐसा कहने पर भी उसकी साधना ही न करें तो क्या हमारी मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा सच्ची मानी जायेगी ?

का प्रिय हूँ। मेरी बात गुरुजी मानेंगे ही।" यह विचार भी उद्धता से पूर्ण है।

* गुरु से सात बार वाचना लेनी चाहिये। सात बार सुनने पर ही उक्त पदार्थ भावित बनता है, ठोस बनता है। प्राचीन समय में पुस्तकों के बिना केवल वाचना के द्वारा ही यह चलता था।

कई बार मैं एक ही स्तवन बार-बार बोलता हूँ। अनेक व्यक्ति विचार करते होंगे - 'एक ही स्तवन क्यों?' परन्तु ज्यों ज्यों इन शब्दों को घोटते जाये, त्यों त्यों कर्त्ता का भाव अधिकाधिक स्पर्श करता रहता है। शब्द कर्त्ता के भावों के वाहक हैं।

* शिष्य कैसा होता है ?

जाति, कुल, रूप, यौवन, वीर्य, समत्व, सत्त्व से युक्त, मृदुभाषी, अपिशुन (चुगली नहीं करने वाला), अशठ, नम्र, निर्लोभी, अखण्ड अंगोंवाला, अनुकूल, स्निग्ध एवं पुष्ट शरीर वाला, गम्भीर - उन्नतनासिकावाला, दीर्घदृष्टि, विशाल नेत्रोंवाला, जिनशासन-अनुरागी, गुरु के मुंह की ओर देखने वाला (उनका आशय समझने वाला), धीर, श्रद्धालु, अविकारी, विनयी, कालज्ञ, देशज्ञ, शील-रूप-विनय का ज्ञाता, लोभ-भय-मोह रहित और निद्रा-परिषह विजेता होता है। (चंदाविज्झय पयत्रा ४५ से ४८)

यहां रूपवान शिष्य किस लिये ?

रूपवान शासन-प्रभावक बन सकता है। काने, लंगड़े आदि अपलक्षण कहे गये हैं।

कई शिष्य मधुर बोलते हैं, परन्तु इधर-उधर करते रहते हैं, दाढ़ में बोलते हैं। अतः कहा है चुगली नहीं करने वाला।

ॐ ॐ ॐ

जीवात्मा एवं परमात्मा

रग आदि के विजेता परमात्मा,

रग आदि से विजित जीवात्मा।

सम्यग्-ज्ञान के अधीन है । सम्यग्-ज्ञान गुरु के अधीन है और गुरु विनय के अधीन है ।

इतना निश्चय करें - भाव-चारित्र प्राप्त किये बिना मरना नहीं है । अर्थात् किसी भी कीमत पर चारित्र प्राप्त करना ही है, तो ही जीवन सफल होगा ।

स्निग्ध देह वाला प्रायः गुणवान होता है । श्रीपाल कुष्ठ-रोगी होते हुए भी ऐसे ही लक्षणों से पूज्य मुनिचन्द्रसूरि ने उसे पहचान लिया था ।

गम्भीर एवं ऊँचा नाक उसकी सरलता बताता है ।

* जिन-शासन के अनुरागी को देव-गुरु अपने प्रतीत होते हैं - मेरे गुरु ! मेरे भगवान ! मेरा धर्म ! इस प्रकार हृदय पुकारता रहता है ।

* जिनालय में जिस प्रकार भगवान की ओर दृष्टि रहती है, उस प्रकार वाचना आदि के समय दृष्टि गुरु की ओर होनी चाहिये । गुरु की ओर देखने से ही उनका आशय समझ में आ सकता है ।

* धर्म कब पालें ? यदि आप यह पूछते हों तो मैं पूछूंगा कि भोजन कब करें ? पानी कब पिये ? सांस कब लें ? क्या इनका कोई नियम है ?

धर्म अपना सांस बनना चाहिये ।

* निर्विकल्प दशा-आत्मा का (घर का) घर । (शुक्ल ध्यान)

शुभ विकल्प - मित्र का घर । (धर्म ध्यान)

अशुभ विकल्प - शत्रु का घर (आर्त्त ध्यान)

दुष्ट विचार - शैतान का घर (रौद्र ध्यान)

उपर्युक्त बातें पू.पं. भद्रंकरविजयजी महाराज कहते थे ।

* अधिक परिचय करने से संकल्प - विकल्प बढ़ते रहते हैं । अतः 'योगसार' में अधिक परिचय करने का निषेध किया है ।

अपने आवास - स्थान से कहीं बाहर जाना हो तब गुरुजी को पूछना चाहिये कि 'मैं जिनालय आदि जाता हूँ ।'

आज यह पद्धति लुप्त प्रायः हुई प्रतीत होती है। पू. देवेन्द्रसूरिजी को हमने देखे हैं। गोचरी करते समय वहां कोई नहीं हो तो भी वे बोलते - गोचरी का उपयोग करूं ?

* आत्मा नित्य है। देह, उपकरण आदि सब अनित्य हैं। ज्ञान, विनय आदि गुण नित्य हैं। गुण इतने वफादार हैं कि एक बार आप उन्हें आत्मसात् कर लो तो वे जन्मान्तर में भी आपका साथ नहीं छोड़ेंगे।

जगत् में कोई आपका नहीं है। एक मात्र गुण ही आपके हैं। उनकी उपासना क्यों न करें ?

मुझे याद नहीं है कि गृहस्थ जीवन में कभी माता-पिता की आज्ञा का पालन नहीं किया हो या शिक्षकों की बात नहीं मानी हो अथवा कभी किसी का अपमान किया हो।

चाचाजी के घर मकान का जब निर्माण हो रहा था तब चूने की भट्टी देख कर बचपन में लगा था कि - क्या संसार में रह कर ऐसे पाप करने ? ऐसा संसार नहीं चाहिये। (भगवान की कृपा से बड़े होने के बाद भी घर या दुकान की मरम्मत करने का अवसर नहीं आया।)

ये गुण कहाँ से आये ? मैं कहीं सीखने नहीं गया था। पूर्वजन्म के संस्कार ही मानने पड़ते हैं।

* कालज्ञ एवं समयज्ञ में क्या अन्तर है ?

हेमन्त आदि ऋतु रूप काल को जानता है वह कालज्ञ है।

प्रसंग, संयोग एवं अवसर को जानने वाला समयज्ञ है।

* शिष्य में ये समस्त गुण हों, लेकिन उसमें अभिमान हो तो ऐसा शिष्य न बनायें, न रखें।

ॐ ॐ ॐ

नहीं हैं

जन्म जैसा रोग नहीं है। इच्छा तुल्य दुःख नहीं है।

सुख जैसा पाप नहीं है। स्नेह जैसा बन्धन नहीं है।



मद्रास प्रतिष्ठ प्रसंग, वि.सं. २०५०

२६-३-२०००, रविवार
चैत्र कृष्णा-६ : सुरेन्द्रनगर

(केशुभाई पटेल, दीपचंद गाडी, श्रेणिकभाई, धीरुभाई शाह, कल्पेश, ताराचंद छेडा, प्रकाश झवेरी, 'डुंगरशीभाई' (अमर सन्स वाले) आदि 'हेमांजलि पौषधशाला' के उद्घाटन पर तथा संघ के दर्शनार्थ आये थे ।)

* भगवान का एक वाक्य भी हमारे जीवन को उज्ज्वल कर दे, यदि उसे हम जीवन में उतार दें, उसे हृदय में भावित कर दें। आप एक वाक्य को बराबर घोंटे तो, उसके रहस्य आपको समझ में आयेंगे जो किसी दूसरे की समझ में नहीं आयेंगे।

* शिष्य में दो गुण तो होने ही चाहिये - विनय एवं वैराग्य। बोलने के लिए भूमि कैसी है ? किसान को उसका तुरन्त पता लग जाता है। जो विनयी हो वही आगम-श्रवण में रुचि लेता है। जहां सच्चा विनय होगा, वहां सरलता होगी और बुरा विनय होगा वहां दम्भ और कपट होगा। ऐसा शिष्य दिखावा बहुत करता है। इसलिए लिखा है कि वह आर्जव गुण से युक्त होता है।

* आज वाचना रखने जैसा अवसर नहीं था, परन्तु बीच में रुक जाये यह उचित नहीं है अतः विशेष तौर पर आज वाचना

रखी है । यदि रेलगाडी की पटरी में थोड़ा अन्तर पड़ जाये तो क्या रेलगाडी चल सकेगी ? ऐसे कटोकटी के समय में वाचना रखी है तो आप वाचना ग्रहण करें । यदि जीवन में विनय आ गया तो आप दूसरी चन्दनबाला बनेंगी ।

* विनीत शिष्य सम्पूर्ण जिन-शासन की शोभा है, चाहे वह विद्वान न हो । रसाल (उपजाऊ) भूमि में किसान बोने का अवसर नहीं चूकता, उस प्रकार विनीत को गुरु ज्ञान देना नहीं चूकते ।

* भिखारी दाना-दाना चुनकर एकत्रित करता है, उस प्रकार मैंने सबके पास जा-जा कर ज्ञान एकत्रित किया है । जहां-जहां से ज्ञान मिला, वहां वहां से मैं लेता गया ।

* यहां उल्लेख है कि विनयहीन पुत्र हो तो भी उसे वाचना नहीं दी जा सकती, चाहे वह दूसरे सैकड़ों गुणों से युक्त क्यों न हो ? (गाथा ५१)

* शास्त्रकार गुरु को टोकते हुए कहते हैं कि ऐसे आप चाहे जिसे दीक्षित न करें । पूर्ण परीक्षा करके ही आगे बढ़ें । अयोग्य व्यक्ति को दीक्षा प्रदान करने में बहुत जोखिम है । भले ही शिष्य कम हो तो चला लें, किन्तु अयोग्य शिष्य को दीक्षा प्रदान करने की चेष्टा न करें ।

* विनय गुण की सिद्धि शिष्य में हो जानी चाहिये । कल्पतरुविजयजी को रात्रि में मातृ करने के लिए उठाऊं; एक घण्टे के बाद पुनः उठाऊं तो भी वे कदापि मन में नहीं लाते कि मुझे बार बार क्यों उठाते हैं ? यह विनय-गुण की सिद्धि है ।

ॐ ॐ ॐ

लोगस के तीन पदों में नवधा भक्ति

कित्तिय	वंदिय	महिया
१. श्रवण	४. वन्दन	७. दास्य
२. कीर्तन	५. अर्चन	८. सख्य
३. स्मरण	६. पादसेवन	९. आत्म-निवेदन



२७-३-२०००, सोमवार
चैत्र कृष्णा-७ : समला

* सभी गुण एक ओर और विनय एक ओर रहे तो भी विनय का पलड़ा भारी रहेगा । विनय अर्थात् भक्ति, विनय अर्थात् नमस्कार, विनय अर्थात् वैयावच्च और विनय अर्थात् गुणानुराग ।

आज तक हमने विषयों का, सांसारिक पदार्थों का विनय किया ही है । व्यापारी कितनों का विनय करते हैं ? वे गर्ज पडने पर गधे को भी बाप बना देते हैं । हमने सैनिक के भव में सेनापति का, सेवक के भव में राजा का, नौकर के भव में सेठ का अत्यन्त विनय किया है, परन्तु हमने कदापि लोकोत्तर विनय प्राप्त नहीं किया ।

कहते हैं कि लौकिक संसार में भी विनय के बिना सफलता नहीं मिलती, तो लोकोत्तर दुनिया में तो विनय के बिना सफलता मिल ही कैसे सकती है ?

‘विणओ मुखद्वारं’ विनय मोक्ष का द्वार है ।

विनय में समस्त गुणों का समावेश है ।

देव-वन्दन, गुरु-वन्दन आदि में प्रयुक्त शब्द ‘वन्दन’ विनय का ही वाचक है, सूचक है । ‘आयारस्स मूलं विणओ’ विनय केवल आचार का ही नहीं, मोक्ष का भी द्वार है । मोक्ष का द्वार

क्यों ? यह भी कहा जा सकता है कि विनय स्वयं मोक्ष रूप है । 'गुरु विणओ मोक्खो' शास्त्र में भी कहा है ।

* किसी भी कार्य में प्रवृत्ति करो तो विघ्न तो आयेंगे ही । इस में भी शुभ कार्य में विशेषतः विघ्न आते हैं । आप विनय प्रारम्भ करो तो विघ्न आयेंगे ही । उन विघ्नों को पार करके यदि आप विनय की सिद्धि प्राप्त करलो तो विनय का निग्रह हुआ कहलायेगा । क्षमा आदि के गुणों के निग्रह के लिए भी यही समझें ।

ऐसे विनय का कदापि परित्याग न करें । जिस पल आप विनय का त्याग करते हैं, उस समय आप मोक्ष का मार्ग छोड़ देते हैं यह निश्चय समझें । इतना ध्यान में रखें कि अविनय से युक्त संपूर्ण समय हमें निरन्तर उन्मार्ग पर ले जाता है ।

* इस काल में हमारी बुद्धि कम है । अध्ययन की सामग्री बहुत है, पूरी पढ़ी नहीं जाती । अध्ययन किया हुआ याद नहीं रहता तो फिर कर्म-निर्जरा किस प्रकार होगी ? यह चिन्ता न करें । अल्पश्रुत व्यक्ति भी विनय के द्वारा विपुल निर्जरा कर सकता है । चंडरुद्राचार्य के शिष्य तथा माषतुष मुनि इसके उदाहरण हैं ।

सिर पर दांडे की भार पड़ी फिर भी चंडरुद्राचार्य के शिष्य ने विनय गुण नहीं छोड़ा । यह विनय गुण की सिद्धि है । इस जन्म में भले ही उस सम्बन्ध में साधना नहीं प्रतीत होती, परन्तु पूर्वजन्म में वे निश्चित रूप से साधना करके आये होंगे ।

* शिष्य के दोष जानते हुए भी गुरु उसे नहीं कह सकते । यदि कहें तो मधुर शब्दों में ही कहते हैं । ऐसी स्थिति शिष्य में विनय के अभाव की सूचक है ।

विनय करने में सर्वाधिक कष्ट वचन एवं काया को नहीं, परन्तु मन को होता है । मन में जो अहं टूंस-टूंस कर भरा है, उस पर प्रहार होता है ।

अविनय का संस्कार अनादिकालीन है । इस के कुसंस्कार शीघ्र नहीं जाते । अतः विनय के द्वारा अविनय के संस्कारों को जीतना है ।

* पूज्य देवचन्द्रजी ने सात उत्सर्ग भाव-सेवा और सात

में तथा देवेन्द्रसूरिजी में भी यह दृष्टिगोचर होता था, क्योंकि उन्होंने विनय-गुण सिद्ध किया हुआ था; जबकि हम सबने अविनय सिद्ध किया हुआ है। अनादिकालीन संस्कार हैं न ? जितना 'मान' अधिक होगा उतना अविनय अधिक होगा।

अभिमान अधिक होगा तो क्रोध अधिक होगा। अभिमान पर्दे के पीछे रह कर कार्य करता है, वह क्रोध को आगे करता है।

* श्रुतज्ञान में जो कुशल हो, हेतु-कारण एवं विधि का ज्ञाता हो, फिर भी अविनयी एवं गर्वयुक्त हो तो उसका यहां कोई मूल्य नहीं है। विनय के बिना कोई गुण सुशोभित नहीं होता, समस्त गुण एक के अंक के बिना के शून्य समझें।

ज्ञान एवं चारित्र्य की शोभा विनय से ही है। विनय से सम्यग्-दर्शन प्राप्त होता है, यह कहने की अपेक्षा विनय स्वयं सम्यग्-दर्शन है, यह कहें तो भी कोई आपत्ति नहीं है। विनय भक्ति रूप है, भक्ति सम्यग्-दर्शन है।

भगवान का साक्षात् दर्शन कराने की आंख गुरु के पास है। गुरु विनय से ही मिल सकते हैं, फलीभूत हो सकते हैं। योगशास्त्र के बारहवे प्रकाश को आप पढ़ कर देखें तो सदगुरु की करुणा का वर्णन देखने को मिलेगा।

विनय के बिना तप-नियम आदि मोक्षप्रद नहीं बन सकते।

* एक ओर चौदह पूर्वी हैं और दूसरी ओर एक आत्मा को जानने वाला है। आत्मा का ज्ञाता चौदह पूर्वी जितनी ही कर्म-निर्जरा कर सकता है। दोनों श्रुतकेवली गिने जाते हैं। चौदह पूर्वी भेद नय से और आत्मज्ञानी अभेद नय से श्रुतकेवली गिने जाते हैं। समयसार के ये पदार्थ मिथ्या नहीं है, लेकिन उसके अधिकारी अप्रमत्त मुनि हैं।

पाटन में लाल वर्ण की प्रतिमा देखकर मैंने पूछा, 'क्या ये वासुपूज्य स्वामी भगवान हैं ?' पुजारी बोला, 'नहीं महाराज ! यह लाल रंग तो पर्दे के कारण प्रतीत होता है।' पर्दा हटते ही स्फटिक रत्न की प्रतिमा चमक उठी। हमारी आत्मा भी शुद्ध स्फटिक के समान ही है। कर्म रुपी पर्दे के कारण वह रागी-द्वेषी प्रतीत होती है।



भक्ति में लीनता, वि.सं. २०२६, अश्वि.व. ३०, नवसारी

२६-३-२०००, बुधवार
चैत्र कृष्णा-६ : लीबडी

* धर्माचार्य उपदेश देते हैं, राह बताते हैं, लेकिन जीव में योग्यता ही न हो तो ? दीपक प्रकाश देता है, परन्तु देखने के लिए आंख ही न हो तो ? यह ग्रन्थ हमें योग्यता प्राप्त करने का कहता है, विनय की आंख प्राप्त करने का कहता है ।

प्रभु का ध्यान करने से मोक्ष अवश्य मिलता है, लेकिन ध्यान के लिए पात्रता तो होनी चाहिये न ? यह पात्रता भी विनय से ही आती है ।

* मिट्टी अपने आप घड़ा नहीं बन सकती और पत्थर अपने आप मूर्ति नहीं बन सकता, उस प्रकार जीव भगवान के बिना अपने आप भगवान नहीं बन सकता । पत्थर खान में था, उस प्रकार हम निगोद में थे । खान में से बाहर निकलने से लगाकर पत्थर पर शिल्पी के द्वारा अनेक प्रक्रियाएँ हुई तब जाकर वह प्रतिमा के रूप में हुआ । उसी तरह से हम निगोद में से बाहर आये और मानव-भव तक पहुंचे उसमें भगवान के द्वारा हुई कृपा रूपी प्रक्रिया ही कारण है ।

आप यह नहीं मानें कि मरुदेवी माता ने अपने आप केवलज्ञान



दीक्षा प्रतिष्ठ प्रसंग, भीमासर - कच्छ, वि.सं. २०४६

३०-३-२०००, गुरुवार
चैत्र कृष्णा-१० : सचाणा

* जो विणओ तं नाणं जं नाणं सो हु वुच्चइ विणओ ।
विणएण लहइ नाणं नाणेण विजाणइ विणयं ॥ ६२ ॥

* विनय ही ज्ञान है और ज्ञान ही विनय है । दोनों अभिन्न हैं । इन्हें अलग मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विनय से ही ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से ही विनय जाना जाता है ।

दूध और पानी हंस के द्वारा अथवा गर्म कर के अलग किये जा सकते हैं, लेकिन दूध और शक्कर को आप कैसे अलग कर सकेंगे ? विनय एवं ज्ञान का सम्बन्ध दूध और शक्कर के समान है, जिसे आप अलग नहीं कर सकते ।

* कई बार ऐसा लगता है कि सारे दिन विनय करते रहें तो अध्ययन कब करें ? यहां समाधान किया है कि विनय ज्ञान से भिन्न नहीं है ।

ज्ञान प्राप्त करना हो तो भी विनय नहीं छोड़े और ज्ञान प्राप्त हो गया हो तो भी विनय नहीं छोड़े । यदि विनय छोड़ेंगे तो ज्ञान गया ही समझो ।

* क्या सिद्धों में विनय है ? विनय उनकी प्रकृति में



उपस्थान प्रसंग, भस्मडिया - कच्छ, वि.सं. २०४६

३१-३-२०००, शुक्रवार
चैत्र कृष्णा-११ : धंधुका

* ज्ञान प्रयत्न करने से मिल सकता है। गुण केवल प्रयत्न करने से नहीं मिल सकते। इसके लिए भगवद्-अनुग्रह चाहिये।

* भगवान महावीर के पश्चात् आर्य महागिरि ने आर्य सुहस्ति के साथ सर्व प्रथम गोचरी-व्यवहार बंध किया था। आर्य सुहस्ति को प्रभावना पसन्द थी और आर्य महागिरि को संयम पसन्द था।

* विनयादि गुण अल्प हो सकते हैं, परन्तु यदि ऐसा विचार भी उत्पन्न न हो तो कैसे पता चले कि 'ये गुण मुझ में अल्प हैं।' भगवान की कृपा से ये मुझे प्राप्त करने ही हैं। आपको अपनी अविनय अखरे, आप के द्वारा गुरु को होने वाली परेशानी अखरे तो भी मेरा परिश्रम सफल है।

* आप कदाचित् अधिक अध्ययन नहीं कर सको, परन्तु नित्य यदि केवल बीस माला गिनो और कायोत्सर्ग में ध्यान लगाओ तो भी आप आराधक बन सकते हैं।

आप सुशिक्षित हैं लेकिन आप में विनय का अभाव हो तो उसका कोई मतलब नहीं है। अन्धे व्यक्ति के पास अरबों दीपक जल रहे हों परन्तु क्या लाभ ?



११ दीक्षा, भुज, वि.सं. २०२८, माघ शु. १४

१-४-२०००, शनिवार

चैत्र कृष्णा-१२ : तगड़ी-परबड़ी

गाथा ६८ - ज्ञानगुण ।

* स्वाध्याय साधु का जीवन है, अमृत-भोजन है । जिस प्रकार आहार के बिना जीवन नहीं टिकता, उस प्रकार स्वाध्याय के बिना आत्मा के भाव-प्राण नहीं टिकते । स्वाध्याय के समान अन्य कोई तप नहीं है । कर्म-निर्जरा के उपायों में यह श्रेष्ठ उपाय है ।

जिनागम के प्रति जिसमें बहुमान उत्पन्न हो गया, वह प्रभु-भक्त बन गया समझें, क्योंकि भगवान और भगवान के आगम भिन्न नहीं हैं । ऐसा भक्त, समवसरण में बैठा हुआ श्रोता जितना आनन्द प्राप्त कर सकै, उतना ही आनन्द स्वाध्याय करने में, आगम का पठन करने में प्राप्त कर सके ।

* ज्ञान का महत्त्व पहले इसलिए नहीं बताया कि शिष्य सर्व प्रथम ज्ञान के अध्ययन में ही लग जायें, परन्तु विधि के बिना ज्ञान प्राप्त किया जाये तो खतरा है । इसी लिए विनय का स्थान प्रथम बताया गया है ।

विनय अर्थात् सम्यग्-दर्शन । इससे रहित ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है । जिसके द्वारा आत्मा का अहित होता हो उसे ज्ञान

ज्ञान चारित्र का हेतु बन सकता है ।

ज्ञानसार में कहा है - जिस ज्ञान से हीरे एवं पत्थर को नहीं पहचान सको, उस हीरे का ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है । जिस ज्ञान से दोष-निवृत्ति एवं गुण-प्रवृत्ति न हो, वह ज्ञान ही नहीं कहलाता ।

वह आंख किस काम की जिसके होते हुए भी पांव खड़े में या कांटे में पड़े ?

ज्ञान का फल आत्मानुभूति है । आत्मानुभूति का फल मोक्ष है । दोष तथा गुण दोनों ज्ञान से जाने जाते हैं । कांटे एवं फूल दोनों आंखों से ही जाने जाते हैं, परन्तु आंखें देखने के बाद उदासीन नहीं रहतीं, वे कांटे से दूर रहती है, फूल को स्वीकार करती है । क्या हमारा ज्ञान ऐसा है ?

दूसरों के नहीं, अपने दोष देखने हैं । अपने नहीं, परन्तु दूसरों के गुण देखने हैं; लेकिन हम उल्टा करते हैं । दूसरों को देखने के लिए हमारे पास हजार आंखें हैं, परन्तु स्वयं को देखने के लिए एक भी आंख नहीं है ।

घर में यदि सांप का बिल प्रतीत हो तो कोई उसे निकाले बिना रहेगा ? दोष ही बिल हैं । हमें दिखाइ दे फिर भी नहीं निकालें तो क्या समझना चाहिये ? भगवान ने समस्त जीवों के साथ मैत्री करने का कहा है । हमने दोषों के साथ मैत्री कर ली ।

दोषों से संग्राम करना ही पड़ेगा । आज तक मोहराजाने सामने से किसी को आत्मा का खजाना दिया हो वैसा नहीं हुआ । जिन्होंने संग्राम किया, वे ही विजयी हुए हैं ।

* भगवान के गुण अनन्त-अनन्त है - यह समझ कर चकित होने की आवश्यकता नहीं है । हमारे भीतर भी अनन्त-अनन्त गुण विद्यमान ही हैं । वे केवल ढके हुए हैं । इतना ही अन्तर है ।

“ज्ञान-दर्शन अनन्त छे, वली तुज चरण अनन्त;

एम दानादि अनन्त क्षायिकभावे थया, गुण ते अनंतानंत ।

आविरभावथी तुज सयलगुण माहरे, प्रच्छन्नभावथी जोय...”

- पद्मविजय

भगवान से आप यह याचना करें कि ‘भगवन् ! मेरे भी ये गुण प्रकट हों ।’

ॐ ॐ ॐ



२-४-२०००, रविवार
चैत्र कृष्णा-१३ : बरवाला

है या उनके चित्र पर अधिक प्रेम है ? हमें अपने नाम एवं रूप का मोह समाप्त करना हो तो प्रभु के नाम एवं प्रभु की प्रतिमा के आलम्बन के बिना उद्धार नहीं है ।

* अंग-अग्र-स्तोत्र एवं प्रतिपत्ति (आज्ञा-पालन) यह चार प्रकार की पूजा है । प्रतिपत्ति पूजा सीधी नहीं आती । इससे पूर्व अंग, अग्र आदि पूजा की भूमिका में से गुजरना पड़ेगा ।

* ग्रन्थकार नहीं कहते कि मेरे सुवाक्य है । 'त्तिबेमि' कहकर वे सब भगवान पर डालते हैं, सब भगवान का ही है; मैं सुवाक्य देने वाला कौन होता हूँ ?

'मिट्टी तो थी ही । उसको मैंने घड़े का आकार दिया । इसमें मेरा क्या ?' यह कुम्हार का कथन है ।

'अक्षर संसार में थे ही । अक्षरों में से शब्द, पद, वाक्य, श्लोक, प्रकरण आदि होकर ग्रन्थ बना । इसमें मेरा क्या ?' यह ग्रन्थकार का कथन है ।

ग्रन्थकार भी यह कहते हैं तो हम किस खेत की मूली हैं ?

* व्यक्ति के प्रति किया गया राग आग है, जो हमारे आत्म-गुणों के बाग को जलाकर खाख करती है ।

भगवान के प्रति किया गया राग बाग है, जिसमें आत्मगुणों के गुलाब खिल उठते हैं ।

* 'भगवती' में आजकल पुद्गलों की बात आती है । यह पढ़ने पर ऐसा लगता है कि कैसा यह सर्वज्ञ का अद्भूत दर्शन है ? यह सब पुद्गल की माया है । जीव का इसमें कुछ भी नहीं है । कतिपय पुद्गल स्वाभाविक से, कतिपय प्रयोग से तो कतिपय मिश्रित रूप से निर्मित होते हैं । जीव इस पुद्गल की रचना से पूर्णतः न्यारा है ।

* ज्ञान के बिना क्रिया अथवा क्रिया के बिना ज्ञान व्यर्थ है । क्रियाशील ज्ञानी ही इस संसार-सागर को पार कर सकता है । (गाथा ७२)

तैरने की क्रिया का ज्ञाता सुयोग्य तैराक भी समुद्र में यदि हाथ-पैर नहीं हिलाये तो डूब मरेगा । महान ज्ञानी भी यदि क्रिया का सर्वथा परित्याग कर दे तो तैर नहीं सकेगा ।

* व्यापारी अपनी कमाई व्यापार में लगाकर अधिकाधिक धनाढ्य बनने का प्रयत्न करता है, उस प्रकार हमें भी ज्ञान की धनराशि के द्वारा अधिकाधिक गुणवान बनना है ।

* ज्ञानी मानते हैं कि पुण्योदय से प्राप्त होने वाला सुख भी आत्म-सुख का अवरोधक है । इसीलिए अनुकूलता में ज्ञानी प्रसन्न नहीं होता ।

इसीलिए 'हां शाता में हूं' नहीं बोला जाता । अनेक बार ऐसा बोलने पर उसी दिन स्वास्थ्य बिगड़ा है । 'देव-गुरु-पसाय' यह बोला जाता है ।

अनुकूलता के समय अधिक सावधान रहना है। उस समय जीव आसक्ति से अधिक कर्म बांधता है।

* अज्ञान एवं असंयम के कारण जीव ने आज तक अत्यन्त ही शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध किया है । ज्ञानी क्रिया के द्वारा उन कर्मों का क्षय कर डालता है । अज्ञान में दर्शन मोहनीय एवं असंयम में चारित्र-मोहनीय आ गये ।

* पांच-दस किलोमीटर दूर हो तो भी हम चल कर जिनालय में दर्शन करने जाते हैं तो क्या अपने भीतर ही विद्यमान परमात्म देव के दर्शन करने का प्रयत्न नहीं करे ?

भीतर विद्यमान आत्मा का दर्शन कौन नहीं करने देता ? वह है हमारे भीतर विद्यमान दर्शन मोह (मिथ्यात्व) । ज्ञानी उस मोह को हराने का कहते हैं ।

दर्शन मोह, प्रभु का दर्शन करने नहीं देता ।

चारित्र मोह प्रभु का मिलाप करने नहीं देता ।

✿ ✿ ✿

अक्षय पात्र

सम्यग्दर्शन - शान्ति का अक्षयपात्र

सम्यग्ज्ञान - समृद्धि का अक्षयपात्र

सम्यक्चारित्र - शक्ति का अक्षयपात्र



पावापुरी (राज.) प्रतिष्ठ, वि.सं. २०५७

३-४-२०००, सोमवार
चैत्र कृष्णा-१४ : रंगपुर

* कितनेक ग्रन्थ विस्तृत होते हैं और कितनेक संक्षिप्त भी होते हैं क्योंकि दोनों प्रकार की रुचि वाले जीव होते हैं । विस्तृत रुचि वाले जीवों के लिए विस्तृत एवं संक्षिप्त रुचिवाले जीवों के लिए संक्षिप्त ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होते हैं ।

कभी संक्षिप्त एकाध ग्रन्थ तो ठीक एकाध श्लोक भी जीवन का अमूल्य पाथेय बन जाता है । महाबल (मलयामुन्दरी) को केवल एक श्लोक के प्रभाव से जीवनभर आश्वासन एवं प्रेरणा मिलते रहे थे ।

* हमारी आत्मा में दो शक्तियां हैं - ज्ञातृत्व शक्ति एवं कर्तृव्य शक्ति, ज्ञान एवं वीर्य शक्ति । इन दोनों शक्तियों के प्रकट होकर निर्मल बनने पर ही आत्मा का कल्याण होता है । दोनों शक्तियों का समान विकास होना चाहिये, एकांगी विकास नहीं चलता ।

भुज में गाय ने धक्का लगाया, तब मेरे एक पांव से चलना बंद हुआ । एक पांव बराबर होने पर भी चला नहीं जा सकता । चलने के लिए दो पांव चाहिये । मोक्ष मार्ग पर चलने के लिए

भी ज्ञान एवं क्रिया दोनों चाहिये । एक का अभाव रहा तो मोक्ष मार्ग पर चला नहीं जा सकेगा ।

संसार के मार्ग पर भी हम इस ज्ञान एवं क्रिया की शक्ति से ही चलते हैं । आत्म-शुद्धि करने वाली अपनी शक्तियों को हम ही कर्म-बन्धनकारी बनाते हैं, जिससे संसार का सृजन होता है ।

*** 'हुं कर्त्ता परभावो, इम जिम जिम जाणे ।**

तिम तिम अज्ञानी पड़े, निज कर्म ने घाणे ॥

मैं वक्ता हूँ, लेखक हूँ, शिष्यों को तैयार करने वाला हूँ - ऐसा विचार भी परभाव का ही है । जब तक ऐसे विचार होंगे, तब तक कर्म की घाणी में पीलाना ही है ।

*** पूज्य प्रेमसूरिजी महाराज को खादिम-स्वादिम की जीवनभर प्रतिज्ञा थी । उन्होंने जीवन में कभी भी फल आदि का उपयोग नहीं किया । केवल स्वाद के लिए फलों के रस वहोरेते हों तो छः काय की दया कहाँ गई ?**

“अहो ! अहो ! साधुजी समताना दरिया” यह सज्जाय सुनी है न ? स्कंधक मुनि की जीवित अवस्था में चमड़ी उधेड़ी गई थी । आप यह नहीं माने कि ऐसे महान मुनि पर कर्मसत्ता ने अन्याय किया था ।

पूर्व जन्म में उन्होंने केवल छोटी सी भूल की थी । चीभड़ी की अखण्ड छल उतारते समय अभिमान किया था । उसी चीभड़ी का जीव राजा बना और वह स्कंधक मुनि बना ।

छोटी सी भूल का दण्ड ऐसा हो सकता है तो अपनी अनगिनत भूलों के लिए हम पर क्या बीतेगी ? तनिक कल्पना तो करिये ।

गर्मी (उष्णता) प्रतीत होती है तो छस पी जा सकती है, फलों का रस आवश्यक नहीं है ।

*** शस्त्र के बिना योद्धा एवं योद्धा के बिना शस्त्र व्यर्थ है, उस प्रकार ज्ञान के बिना चारित्र एवं चारित्र के बिना ज्ञान निरर्थक है (गाथा ७५)**

*** दर्शनहीन को ज्ञान नहीं मिलता । ज्ञान हीन को चारित्र-गुण नहीं मिलता । गुणहीन को मोक्ष नहीं मिलता । मोक्षहीन को**

सुख नहीं मिलता (गाथा ७५)

* हमारे इस जीवन के या पूर्व जीवन के अपराध के बिना हमारा कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता । प्रतिपल इतनी श्रद्धा रखनी चाहिये ।

* गुणों की वृद्धि किये बिना, गुणों को क्षायिक बनाये बिना मोक्ष प्राप्त हो जायेगा, यह न मानें । कर्मों ने हमारे गुण दबा दिये हैं ।

* आत्मिक सुख का अंश भी अमृत तुल्य है, जो संसार के समस्त चक्रवर्तियों के सुख से बढ़कर है, यह मानें ।

यह जानने वाले मुनि संसार के सुख को दुःख एवं दुःख को सुखरूप जानते हैं ।

यदा दुःखं सुखत्वेन, दुःखत्वेन सुखं यदा ।

मुनि वेत्ति तदा तस्य, मोक्षलक्ष्मीः स्वयंवरा ॥

- योगसार

* सीमंधर स्वामी को हम प्रार्थना करें और वे जब आ जायें तब उनके हम आतुर होकर दर्शन करेंगे ? या यह कहेंगे हैं कि 'समय नहीं है ?'

हमारे भीतर आत्मदेव बिराजमान है, सदा रहे हुए ही है । उनके दर्शन की क्या कभी इच्छा होती है ?

कौनसा कर्म रुकावट करता है जो इच्छा भी उत्पन्न करने नहीं देता ? वह है दर्शन मोहनीय कर्म । भगवान हमारे भीतर ही बैठे हैं, परन्तु हम रुचिहीन हैं ।

दर्शन की इच्छा हो वह सम्यग्दर्शन,

जानकारी प्राप्त हो वह सम्यग्ज्ञान,

उन प्रभु के साथ मिलन हो वह सम्यक्चारित्र ।

चारित्र मोहनीय प्रभु के मिलन को रोकता है । भीतर विद्यमान प्रभु को मिलने की इच्छा उत्पन्न कराने के लिए ही ज्ञानी हमें बाहर रहे जिनालय के दर्शन करने का कहते हैं । इसीलिए प्रभु-दर्शन आत्म-दर्शन की कला मानी जाती है ।

यहां करीबन तीनसौ की संख्या है । उनमें से किसी को भी उत्कण्ठा उत्पन्न होगी तो मार्गदर्शन प्राप्त हो सकेगा । इसके



दक्षिण भारत में विहार

४-४-२०००, मंगलवार
चैत्र कृष्णा-३० : वलभीपुर

* आज परम रहस्यमय श्लोक आया है। वैशाख शुक्ला द्वितीया को सतहत्तरवां वर्ष बैठेगा और यह श्लोक भी सतहत्तरवां है।

जं नाणं तं करणं, जं करणं पवयणस्स सो सारो ।

जो पवयणस्स सारो, सो परमत्थति नायब्बो ॥ ७७ ॥

जो ज्ञान है वह चारित्र है। जो चारित्र है वह प्रवचन का सार है, परमार्थ है।

* पूज्य पं. भद्रंकरविजयजी महाराज को 'नवकार' पर अटूट श्रद्धा थी। तीन वर्ष तक उनके साथ रहने का अवसर मिला। किसी भी श्लोक का परम रहस्य उन्हें प्राप्त हो जाता।

इतने सारे आगम हम कब पढ़ेंगे? इस की अपेक्षा एक नवकार को भावित बनायें तो कार्य हो जाये। पूज्य पं. भद्रंकरविजयजी ने यह सोच कर एक नवकार को ही पकड़ रखा था।

आपको यदि कोई स्तवन या श्लोक प्रिय लगे तो उसे पकड़ रखो, उस पर चिन्तन करते रहो तो नया नया ही मिलता रहेगा।

पीपर को यदि ६४ प्रहर तक (आठ दिन तक) घोटी जाये तो उसकी गर्मी बढ़ जाती है। ज्यों ज्यों घोटते जाओगे, त्यों त्यों

पीपर की शक्ति बढ़ती जायेगी । उसी प्रकार से श्लोक की शक्ति भी बढ़ती जायेगी, यदि उस पर चिन्तन किया जाता रहे तो शक्ति बढ़ती जायेगी ।

यदि हृदय से प्रिय लगता हो तो ७७वां यह श्लोक ग्रहण करने योग्य है ।

* मैं ने सुरेन्द्रनगर में विशेष आवश्यक भाष्य प्रारम्भ किया और वढ़वाण में पं. अमूलखभाई के पास पूरा किया ।

‘विशेषावश्यक’ भाष्य एवं ‘आवश्यक निर्युक्ति’ आगमों का सार है । ‘नंदीसूत्र’ एवं ‘अनुयोगद्वार’ आगमों की चाबी है, परन्तु कौन सी चाबी कहां लगानी, यह गुरुदेव के हाथ में है ।

* जिस समुदाय का उपरी विनीत नहीं हो, वह अपने शिष्यों के विनीत बनने की आशा नहीं रख सकते ।

वर्तमान आचार्य, कल के विनीत शिष्य थे ।

* पदवी मांगी नहीं मिलती, गुरु-कृपा से मिलती है । आप सच्चे शिष्य बनों तो स्वयं सच्चे गुरु बनोगे । कितनेक ऐसे भी होते हैं जो अपने आप पदवी ले लेते हैं । यह अविनय की पराकाष्ठा है ।

* जिस ज्ञान का फल न मिले वह ज्ञान बांझ कहलाता है । इसीलिए यहां लिखा है “जो ज्ञान है वही चारित्र है । चारित्र ही प्रवचन का सार है, प्रवचन का परमार्थ है, परम सार है ।

* अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु (असिआउसा) नमस्करणीय हैं । उन्हें आपने नमस्कार किया जिससे आपमें विनय आया । यह विनय ही आगे जाकर ज्ञान एवं चारित्र में रूपान्तरित हो जाता है ।

* भगवान के दरबार में मेरे-तेरे का कोई भेद नहीं है । सबको भगवान पूर्ण रूप से देखते हैं । जो भाव से उनकी आज्ञा माने, उसका भगवान कल्याण करेंगे ही । जमालि आश्रित थे, फिर भी उनकी उपेक्षा की । दृढप्रहारी आदि हिंसक थे, फिर भी उनका उद्धार किया ।

भगवान ने सुनक्षत्र, सर्वानुभूति को गोशाले की तेजोलेश्या से नहीं बचाये, गोशाले को वेश्यायन तापस से बचाया । क्यों बचाया ?

ऐसे प्रसंगो से पता चलता है कि भगवान के वहां मेरे-तेरे का कोई भेद नहीं है ।

भगवान केवलज्ञान से जानते थे, गुरु के बहुमान से दोनों की सद्गति होने ही वाली है । और आयुष्य भी पूर्ण होने की तैयारी में ही है ।

भगवान की गति सचमुच अगम्य होती है । समझ में आया न ? मोक्ष में विलम्ब अपनी ओर से होता है, भगवान की ओर से नहीं ।

भगवान की आज्ञा का आप कितनी शीघ्रता से पालन करते हैं, उस पर मोक्ष-प्राप्ति का आधार है ।

भगवान की आज्ञा क्या है ? चित्त को स्फटिक तुल्य निर्मल बनाना भगवान की आज्ञा है ।

“आज्ञा तु निर्मलं चित्तं, कर्तव्यं स्फटिकोपमम् ।”

- योगसार

वस्त्र को पूर्णतः श्वेत बनाने की कला आपके पास है, उस प्रकार क्या मन को पूर्णतः श्वेत बनाने की कला प्राप्त करनी है ? यह कैसे होगा ? ज्ञान-दर्शन आदि गुणों का सदा पोषण करते रहें । राग-द्वेष के भाव निकालते रहें । इतना करोगे तो चित्त स्फटिक के समान निर्मल बनता ही जायेगा ।

ज्ञान साबुन, दर्शन पानी एवं चारित्र घिसने की क्रिया है । राग-द्वेष आदि गन्दा पानी है जो सफाई करने से निकल रहा है ।

वस्त्र एक बार धुलने के बाद पुनः गन्दे हो जाते हैं । अपना मन पुनः गन्दा न हो यह देखना है । गन्दा हो जाये तो पुनः स्वच्छ करना है । गधा नहाकर पुनः मिट्टी में लोटता है, उस प्रकार आप न करें ।

* ज्ञान का फल समता है । समता के आधार से साधना ज्ञात होती है । चारित्र का नाम सामायिक (समता) है ।

एतावत्येव तस्याज्ञा, कर्मद्रुमकुठारिका ।

समस्त-द्वादशांगार्था, सारभूताऽतिदुर्लभा ॥

- योगसार

समता की प्रतिज्ञा लेकर भी यदि हम उसे ताक पर रख दें तो ? यदि बार-बार विषमता में लोटते रहें तो ?

* चारित्र का सार आत्मानुभूति ! यही चारित्र का परमार्थ है ।

* मैं कदापि एक मिनिट भी नहीं बिगाड़ता हूँ । 'व्हील-चेअर' में भी समय का उपयोग करता ही रहता हूँ, क्योंकि मेरी आयु वृद्ध है । समय नष्ट करना मुझे उचित नहीं लगता ।

* मैं आनन्दघनजी आदि के स्तवन नित्य क्रमशः बोलता ही रहता हूँ । क्यों बोलता हूँ ? इसलिए कि अत्यन्त भावित बने । चाहे जितना विलम्ब होता हो, फिर भी नहीं छोड़ता । ऐसी दृढ़ता होनी ही चाहिये, ताकि कुछ प्राप्त हो सके ।

ॐ ॐ ॐ

क्षमा

आपकी भूलों का कोई उदारतापूर्वक क्षमा प्रदान कर दे, यह आप चाहते हैं न ? तो फिर आप दूसरों की भूलों को क्षमा करने में क्यों हिचकिचाते हैं ?

*

मनुष्य का आभूषण रूप है । रूप का आभूषण गुण है । गुण का आभूषण ज्ञान है और ज्ञान का आभूषण क्षमा है !

*

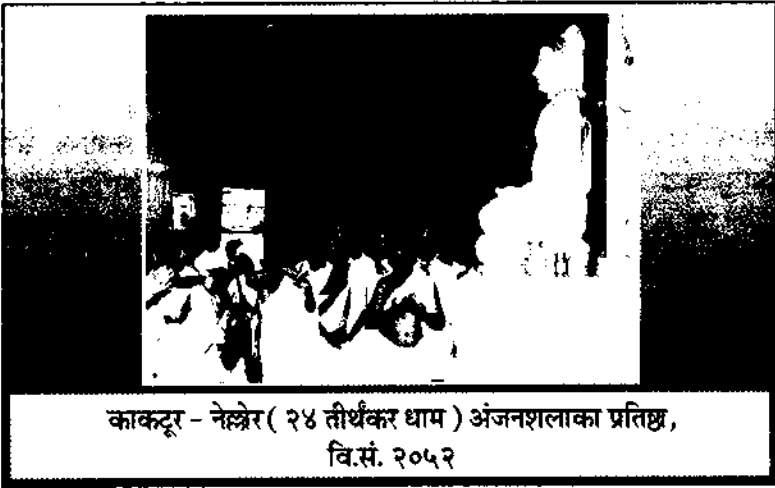
क्रोध की अग्नि से जीवन रेगिस्तान बनता है ।

क्षमा के अमृत से जीवन वसन्त बनता है ।

आप जीवन को कैसा बनाना चाहते हैं ?

*

क्रोध की अग्नि को शान्त करनेवाला क्षमा का शस्त्र जिसके हाथ में है, उसकी सदा विजय होती ही रहती है । क्षमाशील को पराजित करने की क्षमता (सामर्थ्य) किसकी है ?



काकटूर - नेल्लोर (२४ तीर्थकर धाम) अंजनशलाका प्रतिष्ठा,
वि.सं. २०५२

५-४-२०००, बुधवार
चैत्र शुक्ला-१ : नवागाम, पालडी

गाथा - ७९

‘नाणेण होइ करणं करणेण नाणं फासियं होइ ।

दुण्हं पि समाओगे, होइ विसोही चरित्तस्स ॥’

* धर्म का प्रवेश कैसे ज्ञात होता है ?

दुःखितेषु दयाऽत्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च ।

औचित्यं सर्वत्रैवाविशेषतः ।

दुःखी के प्रति दया, गुणी के प्रति द्वेष-रहितता, सर्वत्र औचित्य आदि के द्वारा धर्म का प्रवेश ज्ञात होता है ।

जब तक चरमावर्त में प्रवेश नहीं होता, तब तक धर्म शब्द भी प्रिय नहीं लगता । चरमावर्त भी अत्यन्त लम्बा है । इसमें भी मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति (७० कोड़ाकोड़ि) जब केवल एक ही कोड़ाकोड़ि सागरोपम में आ जाती है, तब धर्म प्रिय लगता है । अनेक जीव-चरमावर्त में भी कई बार उत्कृष्ट स्थिति का बंध करते हैं । वे धर्म के लिए अयोग्य हैं । कितनेक जीव दो ही वक्त बांधते हैं, वे द्विर्बंधक कहलाते हैं । कितनेक जीव एकही बार बांधते हैं, उन्हें सकृद्बंधक कहते हैं । कितनेक जीव एक

ध्यान-विचार पढ़ने पर समझ में आया कि कर्मग्रन्थ में आनेवाले भांगे भी ध्यान में उपयोगी हैं ।

लोग कहते हैं कि जैन-दर्शन में ध्यान नहीं है, परन्तु मैं कहता हूँ कि यहां जो ध्यान है वह अन्यत्र कहीं नहीं है । एक बात समझ लो कि ध्यान से तात्पर्य मात्र एकाग्रता नहीं है । निर्मलता पूर्वक की एकाग्रता ध्यान है ।

प्रश्न - ध्यान की विधि सिखायें ।

उत्तर - ध्यान के लिए समय किसको है ? समाचार-पत्र पढ़ने वालों, बाते करने वालों, भक्तों के समूह में रहने वालों को क्या समय है ?

ध्यान के लिए पूर्व भूमिका तैयार करे, अनन्य भाव से भगवान की भक्ति करें, शरणागति स्वीकार करें; फिर ध्यान अपने आप आयेगा । ध्यान करने से होता नहीं है, प्रभु की कृपा से स्वयं उत्पन्न होता है । हम केवल पूर्व-भूमिका तैयार कर सकते हैं । नींद प्रयत्न करके नहीं लाई जा सकती, हमें मात्र नींद के लिए पूर्व-भूमिका तैयार करनी है ।

आखिर ध्यान किसका होगा ? जिस प्रकार की जीवनचर्या होगी उसका ध्यान होगा ।

पद्यासन लगाकर बिन्दु कला आदि का ध्यान मैं सिखाता नहीं हूँ । ये तो केवल धारणा के प्रकार हैं ।

सचमुच जब जीवन निर्मल बन जाये, प्रभु-भक्ति से रंग जाये, तब प्रतिक्रमण के सूत्र आदि भी ध्यान रूप बन जाते हैं । इसी कारण से मुझे प्रतिक्रमण के सूत्रों आदि में इतना विलम्ब होता है । इतना आनन्द आता है कि मन वही रमण करने लगता है ।

* रोग का उपचार तब का तब नहीं होता, तनिक समय होना चाहिये । यही बात क्रोध आदि के आवेश की है । इसी लिए जब दो व्यक्ति झगड़ रहे हों, तब मैं तुरन्त बीच में नहीं पड़ता । आपको ऐसा विचार आता होगा कि महाराज क्यों नहीं बोलते ? परन्तु मैं आवेश के शमन होने की प्रतीक्षा करता हूँ । आवेश के समय कुछ भी कहा जाये वह व्यर्थ है । प्रारम्भ में अनेक कर्म उदय में आते हैं; कर्म का निषेक इस प्रकार का होता है ।

* भगवान की भक्ति तो मैं कदापि छोड़ने वाला नहीं हूँ। इस भक्ति को मैं भवान्तर में भी साथ ले जाना चाहता हूँ।

* शुक्ल ध्यान का पूर्वार्ध केवलज्ञान प्रदान करता है और उत्तरार्ध अयोगी गुणस्थान में ले जाकर मोक्ष प्रदान करता है। केवलज्ञान एवं मोक्ष भी ध्यान के बिना नहीं प्राप्त हो सकते हैं तो दूसरे (४-५-६) गुणस्थानक ध्यान के बिना कैसे प्राप्त हो सकते हैं ?

इस समय के अपने गुणस्थानक केवल व्यवहार से है। नाटक में अभिनेता राजा बने या युद्ध में विजयी बने, इससे कोई सच्चे अर्थ में विजेता राजा नहीं बन सकता, इसी प्रकार से केवल वस्त्र पहनने से वास्तविक गुणस्थानक नहीं आ सकता।

* वि. संवत् २०२५ में अहमदाबाद में हमारा चातुर्मास (वर्षावास) था। नायक पू. देवेन्द्रसूरिजी थे, अतः वसति का उत्तरदायित्व नहीं था। पूज्य पं. मुक्तिविजयजी महाराज (बाद में आचार्य) वहां चातुर्मास पर थे। प्रातः प्रवचन देकर, एकासना करके मैं वहां अध्ययन हेतु पहुंच जाता। कई बार तो ४-५ या ५-६ घण्टे भी मैं वहीं रह जाता।

कई बार तो वे स्वयं लेने के लिये सामने आते। इस प्रकार मैं अनेक के पास गया हूँ। एकत्रित किया है। उन सभी महात्माओं का उपकार है।

ॐ ॐ ॐ

भक्ति नापने के लिए

दूध का घनत्व नापने के लिए लेक्टोमीटर, बिजली का दबाव नापने के लिए वोल्टमीटर, हवा का दबाव नापने के लिए बेरोमीटर तथा तापक्रम नापने के लिए थर्मामीटर होता है, उस प्रकार प्रभु-भक्ति नापने के लिए चित्त की प्रसन्नता होती है।



तीस्मातूर - बेंगलोर संघ में, वि.सं. २०५१

६-४-२०००, गुरुवार
चैत्र शुक्ला-२ : राजेन्द्रधाम

* हम यह मानते हैं कि हमारा कार्य हो गया तो बात खतम, परन्तु भगवान् जगत् के समस्त जीव सुखी नहीं हो तब तक कार्य को अपूर्ण मानते हैं, क्योंकि वे सर्वात्मव्यापी है। समस्त जीवों के दुःख का संवेदन उन्होंने स्व में किया है।

हम भी इन दुःखों का संवेदन करें, हम भी सर्व में स्व को देखने की दृष्टि प्राप्त करें। इसीलिए छः जीवनिकाय आदि का परिज्ञान दशवैकालिक जीवविचार आदि के द्वारा दिया जाता है।

दशवैकालिक में एक अच्छा श्लोक है -

‘सव्वभूयण्णभूयस्स सम्मं भूआइं पासओ ।

पिहिआसवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधइ ॥’

समस्त जीवों को आत्मवत् गिनने वाले, जीवों को सम्यग् प्रकार से देखने वाले, आश्रव रोकने वाले और दमन करने वाले साधक के पाप-कर्म नहीं बंधते।

* नवकार में चौदह पूर्व का सार आ गया, अतः अन्य किसी सूत्र की आवश्यकता नहीं है, ऐसी बात नहीं है। जीवन

में नवकार आत्मसात् करने के लिए समता की आवश्यकता है । समता (सामायिक) के लिए 'करेमि भंते' सूत्र है । नवकार के ६८ अक्षरों को उल्टे करे तो ८६ होंगे । 'करेमि भंते' सूत्र के ८६ अक्षर है । $६ + ८ = १४$, $८ + ६ = १४$ । 'नवकार' चौदह पूर्व का सार है तो 'करेमि भंते' चौदह पूर्व का संक्षेप है । दूध से घी बनता है वह दूध का सार है, 'भावा' बनता है वह दूध का संक्षेप है । सार और संक्षेप में यह अन्तर हैं ।

* कभी हमारा वचन किसी के द्वारा आदेय न बने तो समझें कि हमारा उसके साथ ऋणानुबंध नहीं है । उसके लिए हायतोबा न करके कर्म की विचित्र परिस्थिति का विचार करें । भगवान की बात नहीं मानता, लेकिन उस कृषक ने गौतम स्वामी की बात मानी । भगवान को देख कर तो वह भाग ही गया था, क्योंकि सिंह के भव के संस्कार अभी तक चालू थे । त्रिपृष्ठ के भव में भगवान ने सिंह को चीर डाला था । उस समय गौतम स्वामी का जीव सारथि था ।

भगवान को भी कर्मों ने नहीं छोड़ा तो क्या वे कर्म हमें छोड़ेंगे ?

* नाणं पयासगं सोहओ, तवो संजमो य गुत्तिकरे ।

तिण्हंपि समाओगे मोक्खो जिणसासणे भणिओ ॥ ८० ॥

ज्ञान प्रकाशक है, तप शुद्धि करने वाला है, संयम गुप्ति करने वाला है । इन तीनों के योग से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है ।

बन्द अन्धेरे मकान में प्रथम उजाला करना पड़ता है (ज्ञान) उसके बाद झाड़ू से सफाई करनी होती है (तप) बाहर से आती हुई आंधी को रोकने के लिए खिड़कियां बन्ध करनी पड़ती है (संयम) आत्म-घर की इसी प्रकार से शुद्धि हो सकती है ।

* आत्म-घर की शुद्धि में सर्व प्रथम ज्ञान का प्रकाश चाहिये । बहुश्रुत ज्ञानी गीतार्थ चन्द्रमा के समान होते हैं, जिनका मुंह देखने के लिए लोग उत्सुक रहते हैं । जिस प्रकार चन्द्रमा में से चांदनी प्रस्फुटित होती है, उस प्रकार बहुश्रुत के मुंह में से जिनवचन निकलते हैं ।

* मैंने अनेक श्लोक कण्ठस्थ किये हुए हैं । अभिधान

चिन्तामणि के चयनित ८०० श्लोक कण्ठस्थ किये हैं; व्याकरण, हेम लघु प्रक्रिया, धातुपाठ आदि कण्ठस्थ किये हैं। न्याय के अभ्यास हेतु भी दो वर्ष निकाले। प्रमाणनय तत्त्वालोकालंकर अवचूरि के साथ कण्ठस्थ किया। उसके बाद रत्नाकरावतारिका पढ़ी। षड्दर्शन समुच्चय, स्याद्वादमंजरी भी पढ़ी है, बाद में आगमों में प्रवेश किया।

ग्रन्थ भले ही कण्ठस्थ किये, परन्तु स्थायी वे ही रहे, जिनके अर्थ समझे, भावित बनाये या जिनकी पुनः पुनः पुनरावृत्ति की। उनमें से अधिकतर श्लोक विस्मृत हो गये हैं। हां, देवचन्द्रजी आदि की तीन चौबीसी आज भी कण्ठस्थ हैं। वाचना में या व्याख्यान में जो मैं समझाता हूं, वे श्लोक कण्ठस्थ हैं। संक्षेप में इतना ही है कि जो हम दूसरों को देते हैं वे ही स्थायी रहते हैं।

* विनियोग से ही गुण स्थायी रहते हैं। समता के लिए मेरे कहने पर भी आपके भीतर समता न आये तो मुझे समझना चाहिये कि मुझ में समता की सिद्धि नहीं हुई। सिद्धि का यही नियम है कि हम दूसरों में उतार सकें हैं।

* गृहस्थ लोगों को हम कहते हैं कि प्रसिद्धि की कामना नहीं होनी चाहिये। तो हम पर यह उपदेश नहीं लगता? हमें ख्याति की कामना हो तो क्या समझें?

* कूड़े-कर्कट में पड़ी बिना दोरेवाली सुई नहीं मिलती, खो जाती है। उसी प्रकार से सूत्रविहीन अर्थ मस्तिष्क में से निकल जाते हैं, यह शास्त्रों का कथन है। (गाथा ८३)

* यह मैं नहीं बोलता, भगवान ही बोलते हैं। बोलने वाला मैं कौन? जो भगवान मेरे द्वारा यह बुलवाते हैं, उन भगवान के ही चरणों में मैं यह सब समर्पित करता हूं।

ॐ ॐ ॐ





तीस्पाचुर - बेंगलोर संघ, वि.सं. २०५१

७-४-२०००, शुक्रवार
चैत्र शुक्ला-३ : प्रभात मसाला

गाथा ८४

* गिरिराज की गोद में आ पहुँचे हैं । सामने ही दृष्टिगोचर होता है । जिनालय का शिखर भी दृष्टिगोचर होता है । जिस प्रकार गिरिराज दृष्टिगोचर होता है, उस प्रकार सिद्ध भी दृष्टिगोचर होने चाहिये । यह गिरिराज सिद्धों का मूर्तिमान पिण्ड है, यह लगना चाहिये ।

* जीव पर द्रव्य, क्षेत्र आदि का प्रभाव पड़ता है । जीव का पुद्गलों पर और पुद्गलों का जीव पर प्रभाव पड़ता ही रहता है, यह विश्व का नियम है । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भव के आश्रय से ही कर्म उदय में आते हैं । इस समय सबको खांसी आ रही है क्योंकि यहां मिर्चों के पुद्गल हैं । वे चाहे प्रतीत नहीं होते, परन्तु खांसी आदि से वे ज्ञात होते हैं ।

यदि सरोवर के समीप से गुजरें तो शीतलता प्राप्त होती है, भट्टी के समीप उष्णता प्राप्त होती है, कोयले के पास कालिमा प्राप्त होती है; उसी प्रकार से निमित्तों के द्वारा आत्मा को उस-उस प्रकार का शुभ-अशुभ प्राप्त होता रहता है ।

* कलिकालसर्वज्ञ पूज्य हेमचन्द्रसूरिजी का देहान्त अचानक हुआ था । उनके लिए भिक्षार्थ (गोचरी के लिए) गये साधु के पात्र में मार्ग में मिले एक बावाजी ने लड्डू में नाखून से विष डाल दिया था । बावाजी का उद्देश्य आचार्यश्री के मस्तक में विद्यमान मणि को प्राप्त करने का था ।

इसीलिए मिथ्यात्वी आदि के साथ वार्त्तालाप आदि करना वर्जित गिना गया है । जिस प्रकार सम्यक्त्व में अतिचार लगता है, उस प्रकार कभी ऐसी दुर्घटना भी होना सम्भव है ।

* विनय ज्ञान को लाए बिना नहीं रहता, ज्ञान चारित्र को लाए बिना नहीं रहता । आगे बढ़कर विनय ही ज्ञान और केवल ज्ञान ही चारित्र बन जाता है, यह कहूँ तो भी मिथ्या नहीं है ।

पूज्य देवचन्द्रजी ने कहा है - 'ज्ञाननी तीक्ष्णता चरण तेह...'

* भूख के बिना भोजन प्राप्त नहीं होता, पचता नहीं है, उस प्रकार आत्मानन्द की अनुभूति की भी रुचि होनी चाहिये । रुचि का नाम ही सम्यग् दर्शन है । आत्मानन्द की अनुभूति ही चारित्र है ।

इस समय प्राप्त ओघो (रजोहरण) मुहपत्ति आदि उपकरण केवल बाह्य साधन हैं । थाली, कटोरी, रोटी आदि सब हो, परन्तु पेट में भूख न हो तो वे सब क्या काम के ? धर्म-सामग्री सामने पड़ी होने पर भी अन्तर में उनकी रुचि न हो तो सब किस काम की ?

* धागे विहीन सुई की तरह सूत्र रहित ज्ञान खो जाने में तनिक भी विलम्ब नहीं लगता । ज्ञान चले जाने के बाद धीरे-धीरे सब कुछ चला जाता है, क्योंकि ज्ञान सबका मूल आधार है ।

भुवनभानु केवली की आत्मा एक युग में चौदह पूर्वी थी, परन्तु ज्ञान भूलकर वह आत्मा कितने ही काल तक संसार में भटकी । ज्ञान चले जाने पर मिथ्यात्व आने में कितनी देर लगेगी ?

गुरु को उत्तर देने पर क्या मिथ्यात्व आ गया ? हाँ, देव-गुरु का विरोध करने का अर्थ है स्वयं को उनसे अधिक मानना । इस प्रकार मानना मिथ्यात्व ही सिखाता है न ?

* आप यह कदापि न माने कि एक बार प्राप्त गुण चले नहीं जाते । जब तक क्षायिक गुण न बनें तब तक तनिक भी गाफिल रहना नहीं चाहिये ।

* जो हमें अज्ञान का ज्ञान कराये वही सच्चा ज्ञान है । चौदह पूर्वी भी कहते हैं - आज पता लगा कि इतना विशाल ज्ञान है । इससे पूर्व मैं अज्ञानी था । अभी भी ज्ञान कितना अधिक बाकी है ?

जब चौदह पूर्वी भी ऐसा सोचते हैं तो हम कौन हैं ? कोई अच्छी स्तुति या अच्छी सज्जाय बोलने पर भी हम कूदने लगते हैं । हम तो खड्डे के मैडक हैं ।

हमारे भीतर अहंकार का एकछत्र राज्य है । उसे जब तक निरखना नहीं सीखें तब तक आराधक बनना कठिन है ।

* हम अब पालीताणा जा रहे हैं । दोषित आहार का ध्यान रखना । पूज्य कनकसूरिजी के समय में केले, पपीते या आम के अतिरिक्त कोई फल हमने देखे नहीं । फल अधिकतर दोषित होते हैं ।

* छोटी साध्वीजी आगे बैठे और बड़ी साध्वीजी पीछे बैठें यह कैसा है ? क्या वाचना सुनकर आपने यही विनय सीखा ?

* पू. मुक्तिचन्द्रसूरिजी ने पू. कनकसूरिजी को पूछा, “आप अपने साधुओं को भाता खाते में से भिक्षा ग्रहण करने का इनकार क्यों करते हैं ? भाता खाते की सामग्री तो निर्दोष है ।

“भाता खाते की सामग्री निर्दोष है, यह बात सत्य है, परन्तु यदि वे लड्डू पसन्द पड़ जाये तो फिर पालीताणा छूटेगा नहीं ।” पूज्य कनकसूरिजी ने सहज ही उत्तर दिया ।

फल तो सचमुच त्याग करने योग्य हैं । (शपथ दी गई ।)

* दीक्षा अंगीकार करने से पूर्व मुझे एकासणा करने की आदत नहीं थी, परन्तु यहां आने के पश्चात् समस्त महात्माओं को एकासणा करते देखे । मैंने अभिग्रह ही ले लिया कि मैं आजीवन एकासणे करूंगा । जब तक स्वास्थ्य ठीक था, तब तक एकासणे ही किये, चाहे उपवास का पारणा हो या अट्टाई का ।

ॐ ॐ ॐ



प्रतिष्ठ प्रसंग, मद्रास, वि.सं. २०५०

९-४-२०००, रविवार
चैत्र शुक्ला-५ : पालीताणा

* हम मानते हैं कि कर्म पुद्गलों में शक्ति होती है, परन्तु तीर्थ में शक्ति है क्या यह हम मानते हैं ? तीर्थ होता है तब तक तीर्थकर की शक्ति तीर्थ में कार्य करती है । तीर्थ के द्वारा भगवान महावीर परमात्मा की शक्ति अभी भी साढ़े अठारह हजार वर्षों तक कार्य करेगी ।

जिस प्रकार कर्म की शक्ति कार्य करती है, उस प्रकार कर्म-मुक्त आत्माओं की शक्ति भी कार्य करती है, यह बात हम अभी तक समझे नहीं हैं । कर्म-ग्रन्थ के द्वारा कर्मों की शक्ति तो समझ में आ गई, परन्तु अभी तक भक्ति-शास्त्र के द्वारा परम आत्मा की शक्ति समझ में नहीं आई ।

पंचसूत्र में उल्लेख है - 'होउ मे एसा अणुमोअणा... परम गुण जुत अरिहंताइसामत्थओ' मेरी यह अनुमोदना परम शक्तिशाली अरिहंत आदि के प्रभाव से सफल बने । 'आदि' शब्द से सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु भी लेने हैं । उनकी भूमिका के अनुसार उनकी शक्ति भी हमारे भीतर कार्य करती है - यही मानना रहा ।

* नवकारसी के समय ही नित्य भूख लगती है, लेकिन

व्यापारी ने कितने रुपये कमाये, यह जानकर वह सन्तोष मानता है कि इतने रुपये कमा लिए, अब इतने ही बाकी हैं। उस प्रकार क्या हमें सन्तोष है कि इतने गुण प्राप्त कर लिए अब इतने बाकी हैं ?

इतने गुण तो प्राप्त कर ही लो, ताकि सन्तोष हो, कि अब तो मोक्ष प्राप्त हो ही जायेगा।

क्या आपको इतना आत्म-विश्वास है कि आज जो गुण हमारे पास हैं, उनसे मुक्ति प्राप्त हो जायेगी ? सात नय हमारे मील के पथर हैं। वे क्रमशः बताने वाले हैं कि, हमारे भीतर कितना सिद्धत्व प्रकट हो चुका है।

संग्रहनय से हमें पता लगता है कि 'भीतर परम तत्त्व का खजाना छिपा हुआ है। यदि आपको ज्ञात हो जाये कि भूगर्भ में खजाना है तो क्या आप बैठे रहेंगे या खुदाई का कार्य प्रारम्भ करेंगे ?

आजकल वदवाण में एक व्यक्ति को स्वप्न में मिले संकेत के अनुसार पता लगा है कि नीचे भूमि में जिनालय है, यह समझकर घर में खुदाई का कार्य प्रारम्भ किया है।

स्वप्न तो कदाचित् काल्पनिक भी हो सकता है, मिथ्या भी हो सकता है। हमारे भीतर सिद्धत्व का खजाना पड़ा है, इसमें कोई कल्पना नहीं है, वास्तविकता है।

✽ 'करण' में वीर्य-शक्ति की प्रबलता होती है। इतनी वीर्य शक्ति होती है कि क्षण-क्षण में आत्मा कितने ही कर्मों की निर्जरा करती रहती है।

वीर्य, पराक्रम, उत्साह, सामर्थ्य, शक्ति - ये सब आत्म-शक्ति के उल्लास के प्रकार हैं। इन सबसे भिन्न भिन्न प्रकार से कर्म नष्ट होते हैं। इन सबका 'ध्यान-विचार' में वर्णन किया जा चुका है।

उदाहरणार्थ उत्साह से कर्म नीचे उछलते हैं और बाद में गिरकर झड़ जाते हैं। सुथार लकड़ा काटता है, धोबी कपड़े धोता है, सबकी पद्धति भिन्न है, उस प्रकार यहां भी वीर्य, पराक्रम आदि की पद्धति भिन्न-भिन्न है।

मुझे पहले कर्म-साहित्य शुष्क प्रतीत होता था, परन्तु 'ध्यान-विचार' पढ़ने के बाद कर्म-साहित्य देखने की दृष्टि ही बदल गई। कर्म-साहित्य में भी ध्यान के बीज पड़े हुए हैं - यह ध्यान-विचार के द्वारा समझ में आ गया। 'ध्यान-विचार' ग्रन्थ दस वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। कितने व्यक्तियों ने पढ़ा ?

ध्यान-शक्ति को जाने बिना, उसका आचरण किये बिना हम किस प्रकार साधक बनना चाहते हैं, यही समझ में नहीं आता।

आज दादा की यात्रा करके लौट्य हूँ। जो भाव उत्पन्न हुए हैं, उभरे हैं, वह बता रहा हूँ। बताने में तनिक भी कृपणता नहीं कर रहा हूँ।

श्रावकगण 'ध्यान-विचार' पर वाचना रखने के लिए विनती करते हैं। आपकी कभी इच्छा हुई ?

श्रावकगण आज जीवदया के लिए करोड़ों रुपये एकत्रित करना सोचते हैं। किस लिए ? अकाल में जीव मर रहे हैं। यह कैसे देखा जा सकता है ? श्रावकों का हृदय इतना कोमल हो तो अपना कैसा होना चाहिये ? क्या दुःखी जीवों का दुःख देखकर हृदय करुणामय बनता है, पिघलता है ?

* कैसा है हमारा जीवन ? दिन भर बातें होती रहती हैं। बात-बात में क्रोध, अविनय, उद्धताई का पार नहीं। गुणों की तो एक बूंद नहीं, फिर भी अहं का पार नहीं।

“राग-द्वेषे भयों मोह-वैरी नश्यो,
लोकनी रीतमां घणुंय मा'तो,
तार हो तार प्रभु... !”

पू. देवचन्द्रजी महाराज का यह स्तवन भावपूर्वक भगवान के समक्ष गायें। इसमें स्व-दुष्कृत गर्हा की दृष्टि प्राप्त होगी।

भगवान के समक्ष, बालक बनकर सब बता दें। हम तो यह मानते हैं कि यह सब श्रावकों के लिए हैं। हमें कहां क्रोध आदि या विषय आदि सताते हैं ? भारी भूल है यह अपनी।

जो कुछ भी क्रिया-काण्ड करते हैं वह लोक-उपचार से करते हैं या आत्मा से करते हैं ? कभी आत्म-निरीक्षण कर के देखें। 'आदर्शों आचरण लोक उपचारधी, शास्त्र अभ्यास षण कांई कीधो;'

शुद्ध श्रद्धा एवं आत्मा के आलम्बन के बिना हमारी क्रिया किस प्रकार मोक्षदायी बनेगी ?

* आप सर्व प्रथम अपनी ही सोई हुई आत्मा को जगायें । वह जग जाये, बाद में ही दूसरों को जगाने का प्रयत्न करें । हम तो इस समय सोए हुए हैं और दूसरों को जगाने का प्रयत्न कर रहे हैं ।

* संसार का उच्छेदन शुद्ध धर्म से ही होता है, ऐसा पंचसूत्र में उल्लेख है । धर्म तो शुद्ध ही होता है न ? यह हम मान लेते हैं । अपने आचरण के द्वारा धर्म को शुद्ध बनाना है । मिथ्यात्व मिटकर ही धर्म शुद्ध बन सकता है ।

‘भीतर विद्यमान सिद्धत्व ही मुझे प्रकट करना है, मुझे दूसरा कुछ भी नहीं चाहिये’ - ऐसी भावना हो तो ही धर्म शुद्ध बन सकता है । धर्म के द्वारा कीर्ति आदि भौतिक पदार्थ भी प्राप्त करने की इच्छा हो तो समझें कि धर्म अभी तक शुद्ध नहीं बना ।

भगवान् तुल्य उत्तम निमित्त पाकर भी यदि हमारा आत्मा विशुद्ध न बने तो हो चुका ! पू. देवचन्द्रजी महाराज की यह वेदना अपनी वेदना बन जाये तो कितना उत्तम हो ?

यह सब मैं दूसरों को देखने के लिए नहीं सिखाता, स्वयं को देखने के लिए ही कहता हूँ । पुनः पुनः यह बात मैं बलपूर्वक कहना चाहता हूँ ।

ॐ ॐ ॐ

.....तो हो

भोजन के साथ पानी मिले तो भोजन पचेगा ।

तन के साथ मन मिले तो साधना हो ।

प्रकृति के साथ पुरुष मिले तो संसार मण्डित हो ।

कृष्ण के साथ यदि अर्जुन मिले तो महाभारत जीत सकें ।

ज्ञान के साथ यदि भक्ति (श्रद्धा) मिले तो मोक्ष प्राप्त हो ।



पू.पं.श्री भद्रंकरवि. के साथ, वि.सं. २०३२, लुणावा

लाकडिया - निवासी वेलजी मलूकचंद कुबडिया परिवार
द्वारा आयोजित चैत्री ओली । ४०० आराधक ।

१०-४-२०००, सोमवार
चैत्र शुक्ला-६ : खीमईबेन धर्मशाला, पालीताणा

* तीर्थंकर भगवंतों ने पूर्व जन्म में आत्मा को शासन से ऐसा भावित किया हुआ होता है, जिसके कारण तीर्थंकर के जन्म में ऐसा प्रभाव प्रतीत होता है । अन्य जीव भी भावित होते हैं परन्तु तीर्थंकरों की कक्षा तक नहीं पहुँच पाते । रत्न तो अन्य भी होते हैं, परन्तु चिन्तामणि रत्न की तुलना नहीं कर सकते । खान में पड़े चिन्तामणि को सामान्य लोग नहीं पहचान पाते, परन्तु जौहरी पहचान सकता है । उस समय भी उसमें चिन्तामणि के गुण विद्यमान ही होते हैं, उसी प्रकार से भगवान में भी सदा के लिए परार्थता-परार्थ व्यसनिता विद्यमान ही होती है ।

‘आकालमेते परार्थव्यसनिनः ।’

निगोद में से बाहर निकलते ही तीर्थंकरों की आत्मा पत्थर बने तो चिन्तामणि बनती है, वनस्पति बने तो पुण्डरीक कमल बनती है, कल्पवृक्ष बनती है, जहाँ से अनायास ही परोपकार होता ही रहता है ।

भगवान में यह योग्यता सहज ही होती है ।

* व्याख्यान में से हम चित्त की निर्मलता के अनुसार ही प्राप्त कर सकते हैं । निर्मलता के अनुसार योग्यता आती है । योग्यता के अनुसार धर्म प्राप्त होता है ।

* नवपद की शाश्वती ओली का आज प्रथम दिन है । गल-घुट्टी से ही हमें ऐसे अनुष्ठानों के प्रति प्रेम होता है ।

जब तक आत्मा नवपदमय न बने तब तक पुनः पुनः यह ओली करनी है । इसीलिए यह ओली प्रत्येक छः छः महिने आती रहती है और कहती रहती है कि मैं आ गई हूं । अभी तक आप नवपदमय नहीं बने हैं ।

* नवपद में मुख्य अरिहंत-पद है । शेष आठों पद अरिहंत के ही आभारी हैं ।

किसी भी यंत्र-मंत्र आदि में अरिहंत ही केन्द्र स्थान पर होते हैं । क्यों होते हैं ? क्योंकि अरिहंत में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य का खजाना है, उस प्रकार उनमें पुन्य का खजाना भी है, जिससे अनेक व्यक्तियों को आकर्षित करके धर्म के रागी बनाते हैं ।

* हमारा भक्ति का रंग कैसा है ? हलदी जैसा है या मजीठ जैसा है ? धूप लगते ही जो उड़ जाये वह हलदरिया रंग होता है । तनिक ही प्रतिकूलता आने पर चला जाये वह हलदरिया धर्म होता है ।

* आप किस भरोसे बैठे हैं ? क्या आप भरत की तरह आरीसा-भुवन (शीशमहल) में बैठे-बैठे या मरुदेवी की तरह हाथी पर बैठे-बैठे केवलज्ञान प्राप्त हो जायेगा, यह मानते हैं ? मुमुक्षुपन में तो फिर भी नियम थे । यहां आने के बाद सभी नियम, क्या ताक पर रख देने हैं ? क्या अब उनकी कोई आवश्यकता नहीं है ? क्या दीक्षित हो जाने पर सब समाप्त हो गया ?

दीक्षित होने के बाद वैराग्य के रंग में वृद्धि हो रही है या कमी हो रही है ?

* अष्ट प्रातिहार्य आदि की समृद्धि साधना का फल है, साधना का कारण है । भगवान की यह ऋद्धि भी ख्याति आदि के लिए नहीं, परन्तु विश्वोपकार के लिए ही होती है ।

* जब जिस समय जो संयोग उपस्थित हो, उस समय समता (चित्त की स्वस्थता) बनाये रखना वह उच्च कोटि की कला है, जो तीर्थकर के जीवन में सिद्ध हुई प्रतीत होती है ।

प्रकृति चाहे अन्य सभी अनुकूलता कर दे, परन्तु कर्म तो तब भी क्रूरता से आक्रमण करता है । उसे तनिक भी दया नहीं है । उस समय भी चित्त का सन्तुलन नहीं खोना समता है ।

* खीर खाते-खाते, गुरु-गुण सुनते सुनते, गुरु को देखते-देखते तापसों को केवलज्ञान प्राप्त हो गया । केवलज्ञान सस्ता है कि महंगा है ? ये ही भगवान महावीर को केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए कितनी कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ी ? माँ सीरा बनाने का श्रम करती है । बालक को तो केवल खाना ही है । भगवान जगत् की माता है । वे परिश्रम करके जो प्राप्त करती हैं वह शिष्यों को पलभर में प्राप्त हो जाता है ।

आप अपने आप आगमों में से कुछ प्राप्त नहीं कर सकते, गुरु के द्वारा अल्प समय में आप प्राप्त कर सकेंगे । सैकड़ों पुस्तकें पढ़ने पर जो वस्तु प्राप्त न हो, वह गुरु दो मिनिटों में बता देंगे । छोटे बच्चे को सीरा खाने में आनन्द नहीं आता, खेलने में आनन्द आता है । खेल में से उठकर स्वयं माता सीरा खिलाती है । उसी प्रकार से गुरु भी शिष्यों को तत्त्व परोसते हैं ।

* हीन काल है । हीन काल के कारण जीवों का पुन्य भी हीन है । पुन्यहीन जीवों को सद्गुरु का समागम भी अत्यन्त ही दुर्लभ होता है । वे बिचारे सद्गुरु के नाम पर कभी दादा भगवान को, रजनीश को या अन्य किसी को पकड़ बैठते हैं । वे कुगुरु को सुगुरु मान बैठते हैं ।

* नवपद में हमारी आत्मा है । आत्मा में नवपद हैं । यह बात सुनी है, परन्तु उस पर गहराई से कदापि विचार नहीं किया - मेरी आत्मा में नवपद हैं तो कहां हैं ?

आत्मा में ही अरिहंत, सिद्ध आदि विद्यमान है । उन्हें केवल प्रकट करने की आवश्यकता है ।

* संसार में किसी को न हो, वैसी वस्तु 'अतिशय' है । भगवान ऐसे अतिशयों से युक्त हैं । ऐसे भगवान में ऐसी शक्ति

है कि जैसे ही आप झुके कि तुरन्त ही पाप जल गये समझें ।

* प्रीति-अनुष्ठान किसे कहते हैं ? जब-जब अन्य कोई भी अनुष्ठान हों, तब-तब उन्हें छोड़कर अरिहंत आते ही उनमें मन लग जाये वह प्रीति-अनुष्ठान हैं ।

जहां रुचि हो वहां क्या नींद आयेगी ? टेलिफोन पर जब आप महत्त्वपूर्ण बात सुन रहे हों तब क्या नींद आयेगी ? नींद अनादर की सूचक है ।

इच्छा न हो फिर भी नींद आ जाये, यह बात सत्य है, परन्तु उसके लिए सावधानी तो रखनी चाहिये न ? यदि सावधानी प्रबल हो तो नींद क्यों आयेगी ?

* भगवान जन्मजात योगी हैं । यम-नियम आदि का पालन किये बिना ही प्रभु को सहज रूपमें योग सिद्ध हुआ होता है ।

जन्म होते ही प्रभु को तीनों लोकों के इन्द्र अभिषेक करते हैं, प्रणाम करते हैं, फिर भी उस समय भी प्रभु अलिप्त होते हैं, मान-सम्मान से वे फूलते नहीं हैं ।

* 'आंगी सुन्दर है' यह आप कहते हैं, परन्तु 'भगवान सुन्दर है' क्या यह लगता है ? आप आंगी देखने जाते हैं कि भगवान के दर्शनार्थ जाते हैं ? यद्यपि आंगी का दर्शन भी अन्त में तो भगवान के दर्शन की ओर ही ले जाता है, क्योंकि आंगी भी आखिर किस की है ? भगवान की ही हैं न ?

* आदिनाथ भगवानने वज्रनाभ चक्रवर्ती के भव में दीक्षित होकर चौदह पूर्व का अध्ययन किया था । वह ज्ञान वे सर्वार्थसिद्ध में ले गये थे और वह ज्ञान भगवान के भव में भी था ।

इस ज्ञान के आधार पर ही भगवान ने लोगों को शिक्षा प्रदान की थी । भगवान को इसमें दोष नहीं लगता, क्योंकि तभी भगवान राजा थे । लौकिक व्यवहार में कुशल बने बिना लोकोत्तर विद्या में कुशल बना नहीं जा सकता ।

* श्रावक-श्राविका वहीराने आदि में अपनी मर्यादा नहीं चूकते तो हम अपनी मर्यादा से च्युत कैसे हो सकते हैं ?

संघ का हम पर ऋण तो है न ? क्या आपको उस ऋण का कदापि ध्यान रहता है ?

* छः काय जीव अर्थात् भगवान का परिवार ! भगवान कहते हैं - मैंने इन सबको अपना परिवार माना है, उस प्रकार आपको भी मानना है । उनकी देह भिन्न है, इतने मात्र से उन्हें पराया नहीं माना जा सकता ।

इस प्रकार की शिक्षा प्रदान करनेवाले अरिहंतो ने दूसरों को भी छः जीवनिकाय के प्रेमी बनाये ।

*** अरिहंत भगवान महागोप हैं, महामाहण हैं, निर्यामक एवं सार्थवाह हैं ।**

अथवा तो उन्हें किस की उपमा दी जाये ? आकाश किसके जितना है ? आकाश जितना है । राम-रवण का युद्ध किसके समान है ? राम-रवण के समान है । भगवान किसके समान है ? भगवान के समान है ।

✦ ✦ ✦

सात चक्रों के ध्यान का फल

मूलाधार के ध्यान से वासना नष्ट होती है.

प्राकृतिक चेतना का उत्थान होता है ।

स्वाधिष्ठान के ध्यान से - भय, द्वेष, खेद नष्ट होता है,

अभय, अद्वेष, अखेद प्रकट होता है ।

मणिपूर के ध्यान से संशय - विचार नष्ट होते हैं,

श्रद्धा - विवेक प्रकट होते हैं ।

अनाहत के ध्यान से संकल्प - विकल्प नष्ट होते हैं,

प्रेम प्रकट होता है ।

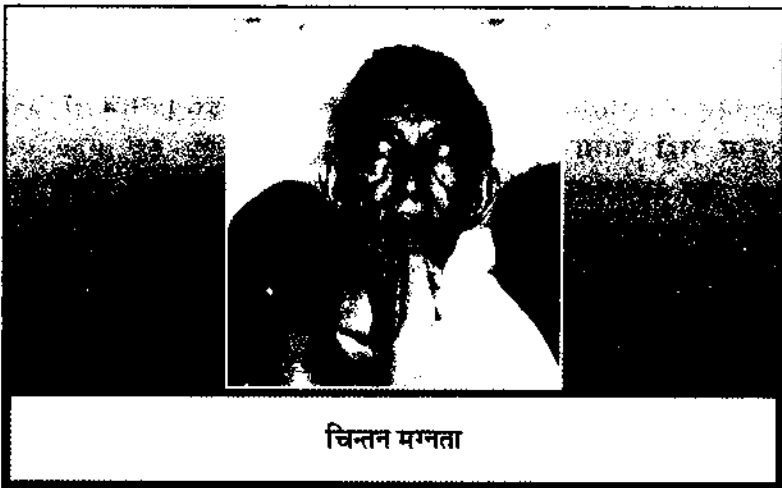
विशुद्धिचक्र के ध्यान से मूर्च्छा नष्ट होती है,

अद्वैत प्रकट होता है ।

आज्ञाचक्र के ध्यान से 'अहं-मम' नष्ट होते हैं,

नाहं न भयजन्य आनन्द प्रकट होता है ।

सहस्रार के ध्यान से शिव-शक्ति का मिलन होता है ।



११-४-२०००, मंगलवार
चैत्र शुक्ला-८ : पालीताणा

* जिसका चिन्तन, ध्यान एवं भावन करते हैं, अपना चित्त उस आकार को धारण करता है ।

‘चिन्तास्थिरतापूर्वकः शुभाऽध्यवसायो ध्यानम् ।’

‘ध्यान-विचार’ का यह सूत्र है । इसमें ध्यान की परिभाषा व्यक्त की गई है ।

ध्यान के पूर्व चिन्तन चाहिये । जिसका चिन्तन करें, उसका ही ध्यान हो सकता है ।

जिन भगवान के आश्रय में हम आये, क्या वे भगवान हमें दुर्गति में भेजेंगे ? असम्भव बात है, लेकिन हम भगवान एवं भगवान के अनुष्ठानों में कभी ध्यान लगाते ही नहीं हैं । ध्यान लगाया नहीं हो तो सच्चे अर्थ में आश्रय लिया नहीं कहा जायेगा ।

अरिहंतों की अपेक्षा श्रेष्ठ ध्यान एक भी नहीं है ।

* पंच परमेष्ठी आदि के काउस्सग, खमासमण आदि करने से हमारा चित्त उनमें तन्मय बन जाता है । इसीलिए ओली में ऐसी विधि रखी गई है ।

मुझे तो बचपन से ही, आठ वर्ष का था तब से ही नवपद की ढाल आदि, सुनने को मिली, सुनते-सुनते ही कण्ठस्थ हो गई । यह मेरा पुन्योदय था ।

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पंच परमेष्ठी के नहीं, अपने ही गुण हैं । हमारा ही यह भावी पर्याय है ।

* पच्चीस वर्ष पूर्व मैं पूज्य पंन्यासजी म. के पास आपकी तरह 'नोट' लेकर जाता, परन्तु लिखा नहीं जाता था । अतः लिखना छोड़कर ध्यान से सुनने लगा । सुनकर उन पदार्थों को भावित बनाने का प्रयत्न करता ।

वाणी वही होती है, परन्तु अनुभव से निकले शब्द भिन्न प्रभाव डालते हैं । पूज्य पंन्यासजी महाराज की वाणी साधना-पूत थी ।

पं. वीरविजयजी के शब्द भी हृदय को झंकृत करने योग्य हैं क्योंकि साधना के द्वारा निकले हुए हैं । 'दोय शिखानो दीवडो रे...'

केवलज्ञान एवं केवलदर्शन रूप दो शिखाओं का दीपक सम्पूर्ण ब्रह्मांड में उजाला फैलाता है । यह कल्पना कितनी सुन्दर है ?

केवली जब समुदघात करते हैं तब चौथे समय में उनकी आत्मा सर्व लोकव्यापी बनती है । हम भी उस समय लोकाकाश में ही थे न ? उनके स्पर्श से हमारी आत्मा पवित्र बनती रहती है । ऐसी कल्पना कितनी सुन्दर प्रतीत होती है ?

ऐसे सर्वव्यापी प्रभु को भी भक्त अपने हृदय में समाविष्ट कर सकता है -

'लघु षण हुं तुम मन नवि मावुं रे,
जगगुरु तुमने दिलमां लावुं रे;
कुण ने दीजे शाबाशी रे,
कहो श्री सुविधि जिणंद विमासी रे ।'

- पू. यशोविजयजी

भगवान की वाणी में जिसे विश्वास है, उसे तो आनन्द आता ही है, परन्तु जिसे विश्वास न हो उसे भी आनन्द आता है, इतनी मधुर होती है । श्रोता भूख, थकान, प्यास सब भूल जाते हैं ।

* जगत् में जितनी वस्तु आनन्ददायिनी हैं, उन सब में नवपद सबसे श्रेष्ठ है ।

जो भी अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु बने हैं वे उनके ध्यान से ही बने हैं, यह निश्चित समझें ।

अरिहंत स्वयं भी बीस या बीस में से किसी एकाद पद की समापत्तिपूर्वक साधना करते हैं । आज तक कोई ऐसे अरिहंत बने नहीं है, जिन्होंने ऐसा ध्यान नहीं किया हो और अरिहंत बन गये हों ।

मात्रा और परम मात्रा-ध्यान अरिहंत बनानेवाले हैं । परम पद-ध्यान पंच परमेष्ठी बनाने वाला है ।

जिस ध्यान से अरिहंत पद प्राप्त किया जा सकता है, वह ध्यान भगवान ने छिपा नहीं रखा । शास्त्रों में सब उल्लेख है ।

इस दृष्टि से 'ध्यान-विचार' ग्रन्थ अद्वितीय, अतुल्य है, पठन योग्य है ।

'ध्यान-विचार' पर लिखा, वैसे तो लिखा नहीं जाता, परन्तु आज लगता है कि भगवान ने मुझसे लिखवाया ।

रणकपुर के शिल्प में 'ध्यान-विचार' के प्रायः सभी ध्यान उत्कीर्ण हैं ।

चौबीस माताओं के साथ रहे बालक तीर्थकरो की परस्पर (माता एवं पुत्र) दृष्टि मिली हुई है । ऐसे शिल्प रणकपुर, शंखेश्वर आदि में हैं । 'ध्यान-विचार' में इस ध्यान का भी वर्णन है ।

ऐसे शिल्पों से कई बार तीर्थों की रक्षा भी हुई है ।

चौदह स्वप्नों के शिल्प के कारण पूज्य नेमिसूरिजी ने कापरडाजी तीर्थ बचाया था । अजैन लोगों ने उस पर अपना दावा किया था । चौदह स्वप्न तो जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं होते । इस तर्क से अजैन लोगों के हाथ नीचे गिरे ।

* पुष्करवर्त मेघ एक बार बरसता है तो फिर वर्षों तक भूमि में से फसल निकलती रहती है; उस प्रकार तीर्थकरो की वाणी हजारों वर्षों तक प्रभावशाली रहती है । इस समय भी यह वाणी अपना प्रभाव फैला रही है । अभी भी साढ़े अठारह हजार वर्षों तक इस वाणी का प्रभाव रहेगा ।

* भगवान के समक्ष हम अनन्य भाव से जायें और निवेदन करें कि 'भगवन् ! आप ही सर्वस्व हैं । माता, पिता, बन्धु सब

आप ही हैं । आपके अतिरिक्त किसी का आधार नहीं है; तो ही भगवान की ओर से हमें प्रतिभाव मिलता है । हमने अनन्य भाव से भगवान की शरणागति कदापि स्वीकार नहीं की ।

* तीर्थकरो का सम्यक्त्व 'वरबोधि' (चाहे वह क्षायोपशमिक हो) कहलाता है, चारित्र 'वरचारित्र' कहलाता है ।

* "कहां मेरी मति मारी गई कि मैंने दीक्षा ग्रहण की ? इसकी अपेक्षा घर में रहा होता तो !" ऐसे विचार दीक्षितों में भी आ सकते हैं । यह मोह का तूफान है । ऐसे तूफान के समय भगवान का स्मरण करना । वे कर्णधार बन कर आयेंगे । आपकी जीवन-नैया को डूबने नहीं देंगे ।

"तप, जप, मोह महा तोफाने, नाव न चाले माने रे ।

पण मुझ नवि भय हाथो हाथे, तारे ते छे साथे रे ।"

* 'भगवान उपस्थित नहीं हैं' ऐसी हमारी मान्यता जड़-मूल से नष्ट करनी पड़ेगी । भगवान चाहे यहां नहीं हैं, किन्तु भगवान की शक्ति तो जगत् में कार्य कर ही रही है । सूर्य चाहे आकाश में है, प्रकाश तो यहीं है न ? सिद्ध चाहे ऊपर है, परन्तु उनकी कृपा-वृष्टि तो यहां हो रही है न ? केवल वह अनुभव में आनी चाहिये ।

* भगवान जगत् के सार्थवाह हैं । सार्थ से आप मुक्त न हो तो मोक्ष तक का उत्तरदायित्व भगवान का है ।

* यदि इस समय आप ध्यानपूर्वक सुन रहे हों तो निश्चित रूप से आपका मन अरिहंतमय बन गया होगा ।

आपका उपयोग अरिहंतमय बना, यही अरिहंत का ध्यान है । एक नय तो यहां तक कहता है - कि अरिहंत के उपयोग में रहने वाली आत्मा ही स्वयं अरिहंत है ।

'अरिहंत-पद ध्यातो थको' - यहां अभेद ध्यान की बात है । हमारे बीच की अहंकार की दीवार टूट जाये तो अरिहंत और हम एक ही हैं ।

हम मानते हैं - मैं अर्थात् देह । भगवान मानते हैं - जगत् के समस्त जीवों में मैं हूं । भगवान की विराट चेतना है, हमारी चेतना वामन है । यदि हमारी वामन चेतना विराट में मिल जाये

तो ? पानी की बूंद सागर में मिल जाये तो बूंद स्वयं समुद्र बन जायेगी । हमारा अहं पिघल जाता है, जब हम प्रभु में एकाकार बन जाते हैं । फिर अपना अस्तित्व रहता ही नहीं है ।

‘जब तू था तब मैं नहीं, मैं था तब प्रभु नांय ।

प्रेमगली अति सांकरि, ता में दो न समाय ।’

- कबीर

ॐ ॐ ॐ

नौ की मित्रता अखण्ड है ।

नौ का अंक अत्यन्त चमत्कारी है, अखण्ड है ।

नौ को किसी भी अंक के साथ गुणा करें, वह अखण्ड ही रहेगा ।

उदाहरणार्थ - $9 \times 2 = 18$ ($1 + 8 = 9$),
 $9 \times 3 = 27$ ($2 + 7 = 9$)

किसी भी संख्या का योग कर के उसमें से उतनी संख्या घटाने पर नौ का अंक ही आयेगा ।

उदाहरणार्थ - $23, 2 + 3 = 5, 23 - 5 = 18,$
 $1 + 8 = 9.$

सिद्धचक्र में नौ पद हैं । नौ लोकान्तिक देव हैं । नौ ग्रैवेयक हैं । नौ पुन्य हैं । नौ वाड़ हैं । नौ मंगल हैं । नौ निधान हैं ।

ऐसी उत्तम वस्तुएँ ‘नौ’ हैं ।

नौ की मित्रता अर्थात् सज्जन की मित्रता, जो कदापि टूटेगी नहीं, सदा अखण्ड रहेगी ।

आठ (कर्म) की दोस्ती अर्थात् दुर्जन की दोस्ती, जो खण्डित होती ही रहती है ।

उदाहरणार्थ - $8 \times 1 = 8, 8 \times 2 = 16,$
 $1 + 6 = 7, 8 \times 3 = 24, 2 + 4 = 6,$ देखो संख्या घटती जाती है न ? नौ कहता है कि आप नौ पद के साथ मित्रता करो ।

मेरी मित्रता अखण्ड रहेगी । मुक्ति तक अखण्ड ।

प्रश्न - अरिहंत को प्राप्त करने की प्रक्रिया क्या है ?

उत्तर - दूसरी प्रक्रिया की बात बाद में करेंगे, परन्तु मुख्य बात है - अरिहंत पर प्रेम प्रकट करो । प्रभु मिलेंगे तो प्रेम से ही मिलेंगे । यदि प्रेम नहीं होगा तो किसी प्रक्रिया से कार्य नहीं होगा ।

देखिये - पूज्य उपाध्याय, यशोविजयजी का कथन है -

“प्रगट्यो पूरण राग मेरे प्रभु शुं ।”

“अक्षय-पद दिये प्रेम जे, प्रभुनुं ते अनुभव रूप रे...”

प्रभु का प्रेम अर्थात् उनके गुणों के प्रति प्रेम... और आगे बढ़कर कहें तो अपनी ही आत्मा के गुणों का प्रेम !

प्रेमी का पत्र, अक्षर या नाम सुनकर या पढ़कर दूसरा प्रेमी कितना प्रसन्न होता है ? उसी प्रकार से प्रभु का नाम, आगम आदि को श्रवण करते ही यदि आप प्रसन्न हो जाते हो तो आप ध्यान के अधिकारी हैं, अरिहंत के कृपा-पात्र हैं ।

यदि आप प्रभु के साथ प्रेम करना चाहो तो पूज्य यशोविजयजी, पूज्य देवचन्द्रजी, पूज्य आनंदघनजी की चौबीसियों तथा पूज्य मानविजयजी की भी चौबीसी कण्ठस्थ करें । पद्म-रूपविजयजी भी इसी परम्परा के हैं । पूज्य वीरविजयजी की कृति भी हृदयंगम है । जिसको रुचि हो उसे कहीं से प्राप्त हो ही जायेगी ।

मुझे तो इन नवपदों की ढालों में से अभी भी प्राप्त हो रहा है । मुझे लगता है कि आपके माध्यम से भगवान मानो मुझे ही प्रदान कर रहे हैं ।

* स्तवन तो प्रभु के साथ करने की बातें हैं । प्रभु के साथ प्रेम होने के बाद ही आपको यह महसूस होगा । एक स्तवनों की पुस्तक का नाम “प्रभु के साथ एकान्त में करने की बातें” रखा गया था । यह नाम आपको विचित्र प्रतीत होगा, परन्तु सत्य है । स्तवन प्रभु के साथ करने की बातें ही हैं ।

* जिस व्यक्ति को आत्मा का सच्चे अर्थ में अनुभव हुआ हो, वह कदापि प्रभु का विरोधी नहीं हो सकता । उसे क्रियाकाण्ड आदि अनावश्यक नहीं प्रतीत होता । कोलेज का विद्यार्थी बालपोथी या पहली और दूसरी का विरोधी नहीं होगा ।

भुज में एक सज्जन आये थे । मेरे पास 'ज्ञानसार' की पुस्तक देखकर वे बोले - 'इस 'ज्ञानसार' का मैंने पहले अच्छी तरह अभ्यास किया है । अब आवश्यक नहीं प्रतीत होता । उससे आगे की भूमिका प्राप्त हो गई है ।

वे सज्जन विपश्यना की शिविर में गये थे । यह आत्मानुभूति का भ्रम कहलाता है । सच्ची अनुभूति ऐसी नहीं होती ।

* पूज्य आनंदधनजी को प्रभु-दर्शन की लगन लगी थी ।
"दरिसण... दरिसण रटतो जो फिरं तो रणरोझ समान..."

इस पंक्ति में उनकी प्रभु-विरह की वेदना दृष्टिगोचर हो रही है ।

प्रभु के विरह के बिना प्रभु से मिलन कदापि नहीं होता । हमें प्रभु का विरह कभी लगता है क्या ?

* संस्कृत-प्राकृत आदि का अभ्यास छूट जाने पर पूर्वाचार्यों के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध छूट गया । अतः हम साधना से दूर हो गये । खा-पीकर मजे करना क्या साधु-जीवन कहलाता है ? क्या आपको यह उचित प्रतीत होता है ?

प्रश्न - क्या प्रभु का प्रेम प्रयत्न से प्रकट होता है कि सहज रूप से प्रकट होता है ?

उत्तर - दोनों प्रकार से प्रभु का प्रेम प्रकट होता है - 'निसर्गादधिगमाद् वा' । सहजरूप से और प्रयत्न से भी प्रकट होता है । सम्यग्दर्शन प्रभु-प्रेम ही है । अनुमोदना की एवं आश्वासन की भाषा में कहूं तो आप सब में प्रभु-प्रेम प्रकट ही है । यदि प्रकट नहीं हुआ होता तो हम यहां आये ही नहीं होते, आप मुझे सुनते ही नहीं होते; लेकिन अभी तक वह प्रेम पूर्ण नहीं है ।

प्रभु अर्थात् आखिर तो हमारी ही आत्मा ! प्रभु-प्रेम अर्थात् हमारी ही आत्मा का प्रेम !

* प्रभु जितनी हमारी चिन्ता रखते हैं, उतनी हम स्वयं भी अपनी चिन्ता नहीं रखते । आगे बढ़कर कहूं तो गुरु को जितनी चिन्ता है, उतनी हम स्वयं को अपनी चिन्ता नहीं है ।

चण्डकौशिक को अपने क्रोध की कहां चिन्ता थी ? चिन्ता तो भगवान महावीर देव को थी ।

* प्रभु के प्रति प्रेम है कि नहीं ? उसकी निशानी क्या ? अन्य-अन्य पदार्थों (शरीर, शिष्य, उपधि, मकान आदि) पर प्रेम अधिक है कि प्रभु के प्रति प्रेम अधिक है ? यह अपने मन को पूछना ।

प्रभु के प्रति जितना प्रेम हो, वैसा प्रेम अन्य किसी पदार्थ पर न हो, यही प्रीति-अनुष्ठान कहलाता है । प्रीति-अनुष्ठान सुदृढ़ होने के बाद ही भक्ति, वचन और असंग्रह प्रकट हो सकता है । वचन की आराधना हमारे भीतर (मुझ में भी) नहीं प्रतीत होती, कारण कि प्रभु-प्रेम की हम में कमी है ।

प्रभु-प्रेम के लिए प्रयत्न करने का उपाय यह है कि अन्य-अन्य वस्तुओं पर से प्रेम घटते जाना ।

* आत्मा कौन है ? हमारे भीतर विद्यमान ज्ञान, श्रद्धा, किया आदि गुण ही आत्मा है । आत्मा गुणों के द्वारा प्रतीत होती है ।

ॐ ॐ ॐ

संसार में धर्म एवं धर्म में संसार

छास में मक्खन हो तो चिन्ता नहीं, परन्तु मक्खन में छास नहीं चाहिये । कोयलों में हीरा आ जाय तो चिन्ता नहीं, परन्तु हीरे लेते समय कोयला नहीं आना चाहिये ।

धूम्रपान करते-करते प्रभु का स्मरण करने में कोई आपत्ति नहीं, परन्तु प्रभु-स्मरण करते-करते सिगरेट नहीं चाहिये ।

विष में मिलावट हो तो आपत्ति नहीं, परन्तु मिठाई में विष की मिलावट नहीं चाहिये ।

पानी पर नाव हो तो आपत्ति नहीं, परन्तु नाव में पानी नहीं चाहिये ।

संसार में प्रभु याद आये तो आपत्ति नहीं, प्रभु-भक्ति में संसार याद नहीं आना चाहिये ।

भले ही दर्शन नहीं प्राप्त हुआ है, केवल उसकी पिपासा जगे तो भी पर्याप्त है। प्यासा मनुष्य मृत्यु-शैया पर पड़ा हो, पानी के अभाव में तड़पता हो, तब वह पानी के लिए कितना पुकारता है ? उस प्रकार यदि हम प्रभु को पुकारें तो प्रभु मिलेंगे ही; परन्तु इतनी तड़पन कहां है ? निश्चित करो कि प्रभु-दर्शन के बिना मरना नहीं ही है। ऐसा प्रणिधान होगा तो भी कार्य हो जायेगा।

प्रणिधान अर्थात् दृढ संकल्प ! जहां दृढ संकल्प होता है वहां प्रवृत्ति होती ही है। विघ्न-जय भी होकर ही रहती है। मुख्य प्रश्न है - प्रणिधान का, दृढ संकल्प का ! हमारा संकल्प ही शिथिल हो तो सिद्धि प्राप्त होगी ही नहीं।

* “मैं ज्ञानी बना, मैंने अपने आप अध्ययन किया। मैं ने ही अपने श्रम से यह सब खड़ा किया।” भक्त की भाषा ऐसी नहीं होती। वह तो प्रत्येक प्रसंग पर भगवान को याद करता ही है। जैनदर्शन चाहे ईश्वर कर्तृत्व नहीं मानता, फिर भी भक्ति मानता है, कृपा पदार्थ को मानता है। यदि ये पदार्थ अच्छी तरह समझने हों तो ‘ललित विस्तर’ ग्रन्थ अवश्य पढ़ें, ताकि भक्ति क्या चीज है, यह आपको समझ में आयेगा।

* सांप को यदि घर में नहीं रखा जाता तो आत्मा में दोष किस तरह रखे जा सकें ? सांप तो एक जन्म के ही प्राण लेता है। पाप तो भव-भव के प्राण ले लेते हैं। ऐसे पाप चाहे अनादिकालीन हों, उन्हें निकालने पर ही मुक्ति है। उसके लिए ‘शरणागत वत्सल’ नहीं बना जाता।

अठारह पापों के लिए ‘संथार पोरसी’ में क्या बोलते हैं ?

“मुखमग्गसंसग्ग - विग्घभूआई” मोक्ष-मार्ग में विघ्न डालनेवाले ये अठारह पाप ही हैं। इन पापों को हमने मित्र मान लिये।

भगवान ने उन्हें पहचान लिया और पापों के प्रति क्रूर बन कर दूट पड़े। भगवान ‘पुरुषसिंह’ हैं। इस विशेषण में भगवान का सिंहत्व इसी प्रकार से घटित किया गया है।

दूसरे के पाप देखने के लिए हम सहस्रलोचन हैं, स्वयं के

पाप देखने के लिए हम 'एकाक्ष' भी नहीं है, पूर्णतः अन्धे हैं । दूसरे के सामान्य पाप भी दिखाई देते हैं, अपने बड़े पाप भी दिखाई नहीं देते ।

इस दोष से भगवान ही बचा सकते हैं ।

इसी लिए आराधना के तीन सूत्रों में दुष्कृत-गर्हा, सुकृत-अनुमोदना और 'शरणागति' सम्मिलित किये गये हैं ।

दोष हमारी आत्मा को मलिन करते हैं ।

गुण हमारी आत्मा को निर्मल बनाते हैं ।

उदाहरणार्थ जब क्रोध का आवेश होता है तब चित्त मटमैला (मलिन) होता है ।

जब क्षमा होती है तब चित्त प्रसन्न होता है ।

गुण सदा चित्त को प्रसन्न एवं प्रशान्त ही बनाते हैं । दोष सदा चित्त को संक्लिष्ट, भयभीत एवं चंचल ही बनाते हैं । ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होते हुए भी गुणों के लिए प्रयत्न न करें तो हो चुका ।

* कोई भी सांसारिक सुख, दुःख-मिश्रित ही होता है । इसी लिए ज्ञानी उसे सुख न कहकर दुःख का पर्याय ही कहते हैं । विष-मिश्रित भोजन को भोजन कैसे कहा जाये ? उसे तो विष ही कहना पड़ेगा ।

बेड़ी चाहे सोने की हो या लोहे की हो, बन्धन में कोई अन्तर नहीं पड़ता । पुन्य से प्राप्त होने वाला सुख भी दुःख की तरह बन्धन रूप ही है ।

दुःख तो फिर भी अच्छा जो भगवान का स्मरण तो कराता है, परन्तु सुख तो भगवान तो क्या पड़ोसी को भी भुला देता है ।

सम्पूर्ण आत्म-सुख सिद्ध भगवन्तो को प्राप्त हो चुका है । उन्हें सच्चे सुख के सम्राट कहा जा सकता है ।

* गुण पर्याय में क्या अन्तर है ?

'सहभाविनो गुणाः ।' 'क्रमभाविनः पर्यायाः ।'

जो सदा साथ हो वह गुण है, और क्रम से आये वह पर्याय है ।

भगवान के प्रत्येक गुण शक्ति रूप में हमारे भीतर भी विद्यमान ही हैं । भगवान में वह व्यक्ति के रूप में है । शक्ति के रूप में विद्यमान गुण व्यक्ति के रूप में परिवर्तित करना ही साधना का सार है । एक की रकम रोकड़ है, दूसरे की रकम उधार है । सिद्धों का ऐश्वर्य रोकड़ है । हमारा ऐश्वर्य उधारी में फंसा हुआ है । कर्मसत्ता ने इस ऐश्वर्य को दबा दिया है । पांच इन्द्रियों के सुख के खातिर हमने आत्मा का सम्पूर्ण सुख मोह-राजा के वहां गिरवी रख दिया है । एक दिन के आनन्द के लिए अनन्त गुना दुःख स्वीकार कर लिया । 'एक दिन ईद, फिर प्रत्येक दिन रोजा ।'

हमारे भीतर ऐश्वर्य विद्यमान है, यह बात हम भूल रहे हैं । इसी लिए हम दीन-हीन बन जाते हैं ।

✱ पांच प्रतिक्रमण आवश्यक हैं, उस प्रकार सात नय, सप्त भंगी, द्रव्य-क्षेत्र आदि, स्याद्वाद आदि का ज्ञान भी आवश्यक है । इससे हमारी श्रद्धा बढ़ती है, भगवान पर प्रेम बढ़ता है । जैनदर्शन प्राप्त होने के पश्चात् भी स्याद्वाद शैली नहीं समझे तो हम कैसे कहे जायें ?

✱ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्व-भाव से सिद्धों की सम्पत्ति प्रकट है, साधु सम्पत्ति पर श्रद्धा रखकर साधना करता है । सिद्ध एवं साधु में इतना अन्तर है ।

इसीलिए साधु के मन रूपी मानसरोवर में हंस के रूप में रमण करने वाले सिद्धों को यहां प्रणाम किया गया है ।

स्वद्रव्य आदि को समझने के लिए तो अलग पाठ ही चाहिये । इस समय हम श्रोता ही हैं । अभी तक विद्यार्थी नहीं बने, विद्यार्थी बनने में पाठ पक्का करना पड़ता है ।

✱ हमारे भीतर आठों कर्म हैं । वे क्या कार्य करते हैं ? वे बेकार तो बैठते नहीं हैं । उनका कार्य है - हमारे आठों गुणों को रोकना । हमने कर्मों को तो याद रखा, परन्तु गुणों को भूल गये । कर्म गिनते रहे, परन्तु गुण भीतर पड़े हैं, यह तो भूल गये ।

हमारे गुण भीतर विद्यमान हैं, परन्तु ढंके हुए हैं । यदि उन्हें प्रकट करने हों तो जिन्हें गुण प्रकट हो चुके हैं, उनका शरण लेना पड़ेगा ।



पूज्यश्री के चरण

१४-४-२०००, शुक्रवार
चैत्र शुक्ला-११ : पालीताणा

* शाश्वतगिरि की छाया में शाश्वत ओली का प्रसंग ! सचमुच उत्तम पदार्थों का अद्भुत समन्वय हुआ है ।

यदि नवपद में हमारा ध्यान लग जाये तो काम हो जाये । दूसरी आराधना में श्रावक हकदार न भी हों, लेकिन नवपद की आराधना का अधिकारी चतुर्विध संघ है । नवपद के आलम्बन से आत्मा के शुद्ध स्वरूप तक पहुंचना है ।

* दिन में चार बार सज्जाय, सात बार चैत्यवन्दन प्रत्येक साधु-साध्वीजी के लिए अनिवार्य हैं । यही ध्यान की पूर्वभूमिका है ।

* स्वयं की ही अनुकूलता का विचार आर्तध्यान है । उस निमित्त दूसरे को कष्ट पहुंचाने का विचार रौद्र ध्यान है ।

जिस व्यक्ति ने श्रावक-जीवन में जयणापूर्वक पालन नहीं किया, वह यहां आकर जयणा का पालन करे, यह न मानें । केवल बुद्धि नहीं देखें । मुमुक्षु में आराधक भाव, दया भाव कितना है, यह देखें ।

* कोई ग्राहक आपकी दुकान के माल की प्रशंसा ही

करता रहे, तनिक भी माल खरीदे नहीं, उसे दुकानदार कहेगा - तुझे माल कितना खरीदना है, यह तो बता ।

हम भगवान के गुण-गान करते हैं । भगवान कहते हैं - तुझे कितने गुणों की आवश्यकता है, वह बात कर ।

भगवान अपने भक्त को सदा के लिए भक्त नहीं रखना चाहते, वे उसे भगवान बनाना चाहते हैं ।

* सामायिक में बैठे सेठ का ध्यान जूतों में था । अतः नवोढ़ा पुत्र-वधुने कह दिया - 'सेठजी मोचीवाड़े गये हैं ।'

जहां हमारा मन होता है, वहां हम होते हैं । यदि उस मन को अरिहंत में जोड़ दें तो अमुक अपेक्षा से हम अरिहंत बन जायें ।

अपना ध्यान प्रायः सारा दिन शरीर में ही होता है, परन्तु यह शरीर तो किराये का घर है । इसे यहीं छोड़ कर जाना है ।

हमारा स्वरूप तो उपयोगमय है । जहां जहां उपयोग है, वहां वहां आत्मा है । जहां जहां आत्मा है, वहां वहां उपयोग है । उपयोग एवं आत्मा अभिन्न है, दोनों की अभिन्न व्याप्ति है । जहां धुआ होता है वहां आग होती है, परन्तु जहां आग हो वहां धुआ नहीं भी हो; परन्तु यहां ऐसा नहीं है, दोनों एक दूसरे के बिना हो ही नहीं सकते ।

सिद्धपद

* जब संसारी जीव दूसरी गति में जाता है तब कार्मण-तैजस शरीर साथ होता है । कैदी को जब दूसरे कारागार में ले जाते हैं तब साथ में मजबूत सन्तरी होता है । उस प्रकार यहां भी कार्मण - तैजस सन्तरी है, चौकीदार है । जीव कहीं छूट कर जाये नहीं । परन्तु जीव जब मोक्ष में जाता है तब साथ में कार्मण - तैजस आदि कुछ भी नहीं होता । शुद्ध आत्मा मोक्ष में पहुंच जाता है । तब संसार की कैद में से छूटकारा हो जाता है ।

चौदहवे गुणस्थान में पहुंचे बिना कोई जीव सिद्धगति में नहीं जा सकता । चौदहवा गुणस्थान एक लिफ्ट है ऐसा समझ लो, जिस पर बैठने वाला सीधा ही लोकाग्र भाग में पहुंच जाता है ।

* पूर्व-प्रयोग, गति-परिणाम, बन्धन-छेद और असंग -

ये चार उदाहरण यह समझाने के लिए दिये गये हैं कि आत्मा लोकाग्र भाग में किस प्रकार पहुंचती है ?

* सदा जंगल में रहने वाला भील जिस प्रकार नगर का वर्णन नहीं कर सकता, उस प्रकार ज्ञानी जानते हुए भी सिद्धों के सुख का वर्णन नहीं कर सकते ।

* सिद्धों का विशेष वर्णन जानने के लिए 'सिद्ध प्राभृत' ग्रन्थ पढ़ें; जिसमें १४ मार्गणाओं के द्वारा सिद्धों का वर्णन किया हुआ है । 'मलयगिरि महाराज ने अपनी टीका में 'सिद्ध प्राभृत' ग्रन्थ का उल्लेख किया है । उस पर हमने कुछ लिखा है, परन्तु इस काल में ऐसा पढ़ने वाला वर्ग विरल है, अतः उसे प्रकाशित करने का विचार बन्द रखा है ।

पूज्य देवचन्द्रजी महाराज ने भी सिद्धान्तों का उदाहरण देकर अनेक स्तवनों में सिद्धों का वर्णन किया है । पूज्य देवचन्द्रजी आगमों के अभ्यासी थे और साथ ही साथ परमात्मा के भक्त भी थे ।

* संसार अर्थात् उपाधि ! दिन उगते ही कोई न कोई चिन्ता ! उपाधि, टेन्शन (तनाव), आदि सामने खड़े ही होते हैं (मैं भी साथ हूँ ।) ऐसी समस्त उपाधियों से रहित केवल सिद्ध हैं ।

बड़े रूप में हमारा नाम जितना प्रसिद्ध होता है, त्यों त्यों उपाधियों बढ़ती है । पद, नाम आदि उपाधि के कारण हैं । उपाधि बढ़े वैसे पद, नाम के पीछे जीवन पूरा कर दें, यह भारी करुणता है ।

* संग्रह नय से सर्व जीव,
ऋजु सूत्र नय से सिद्ध के उपयोग में रहे हुए जीव,
शब्द नय से सम्यग्दृष्टि आदि जीव,
समभिरूढ से केवलज्ञानी जीव,
एवं भूत से सिद्ध-शिला में गये हुए जीव सिद्ध हैं ।
शब्द नय हमें सिद्ध कहे वैसा जीवन तो हमारा होना ही चाहिये ।

* कोई राजा-महाराजा कहे - 'आप मेरे समान ही हैं,

मेरे साथ सिंहासन पर बैठ जाओ !' तो हमें कितना आनन्द होता है ? भगवान हमें यही कहते हैं - 'आप मेरे समान ही हैं, आ जाओ मेरे साथ !'

* आगे बैठने की जितनी दौड़-भाग करते हैं, उतनी ही दौड़-भाग, उतनी ही शीघ्रता यदि सुना हुआ जीवन में उतारने के लिए करें तो काम हो जाये ।

* 'कम खाना, गम खाना, नम जाना' - ये तीन बातें याद रखना । आप अनेक आपत्तियों से बच जायेंगे ।

ॐ ॐ ॐ

दुःख

दुःख आग है, आप कथीर हैं या कंचन ?

दुःख शिल्पी है, आप मिट्टी हैं या पत्थर ?

दुःख भूमि है, आप बीज हैं या कंकड़ ?

दुःख कुम्हार है, आप रेती हैं या मिट्टी ?

यदि आप स्वर्ण हैं तो दुःख की अग्नि से आपको घबगरने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

आग से कथीर डरता है, कंचन को किसका डर है ?

आप यदि आरस के पत्थर हैं तो दुःख के शिल्पी से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है । टांकी से मिट्टी का पड़ डरता है, आरस को किस बात का भय ?

आप यदि बीज हैं तो दुःख की भूमि में प्रविष्ट होने से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भूमि में पड़ा हुआ कंकड़ भीतर ही पड़ा रहेगा, परन्तु बीज तो विशाल वृक्ष के रूप में बाहर आयेगा ।

आप यदि मिट्टी हैं तो दुःख के कुम्हार से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है । वह आप में से नई नई डिज़ाइन के घड़े बनायेगा ।



थाणा में रंगावली

१५-४-२०००, शनिवार
चैत्र शुक्ला-१२ : पालीताणा

* कल भगवान महावीर स्वामी का जन्म-कल्याणक दिन है। कल हम उनके अनन्त उपकारों का स्मरण करेंगे, परन्तु सच्चा सम्मान तब ही माना जायेगा, जब हम उनके उपदेश जीवन में उतारेंगे।

* ब्रह्मचारी व्यक्ति का वस्त्र यदि हमें ओढ़ने के लिए मिल जाये तो उसकी दृढ़ता, पवित्रता हमें प्राप्त हो जायेगी, ऐसी हमें श्रद्धा है, ऐसा हमें अनुभव है; क्योंकि उसके पवित्र परमाणुओं का उसमें संचय हुआ होता है; उस प्रकार सिद्ध भगवन्तोने अपनी आत्मा के द्वारा पवित्र बनाये गये कर्म-पुद्गल कहां गये ? वे पवित्र पुद्गल यद्यपि सर्वत्र फेल जाते हैं; परन्तु जिस भूमि पर निर्वाण हो वहां तो एकदम दृढ़ होकर रहते हैं। इसीलिए सिद्धाचल की यह भूमि पवित्र मानी गई है।

* रसोइया रसोई जीमने के लिए या जिमाने के लिए बनाता हैं, फैकने के लिए नहीं। शास्त्रकारों ने यह सभी पदार्थ सम्यग् जीवन व्यतीत करने के लिए परोसे हैं, केवल जानने के लिए या अहंकार बढ़ाने के लिए नहीं। रसोई (भोजन) तो दूसरे दिन बिगड़

जाती है, परन्तु ये शास्त्र पदार्थ तो बिगड़े बिना हजारों वर्षों से हैं और हजारों वर्षों तक रहेंगे ।

हमें शास्त्रों की कहां चिन्ता है ? अष्ट प्रवचन माता याद हो गई, गोचरी-पानी-संधारा आदि आ गया, फिर अध्ययन करने की आवश्यकता क्या है ? यह हमने मान लिया ।

श्रावक भी केवल पण्डित बनने के लिए पढ़ते हैं । आत्मा के लक्ष्यपूर्वक पढ़नेवाले कितने हैं ?

“द्रव्यक्रियारुचि जीवडा रे, भावधर्म रुचि हीन;

उपदेशक पण तेहवा रे, शुं करे लोक नवीन ?”

- पूज्य देवचन्द्रजी

सर्वोत्तम भोजन हो, परन्तु भीतर रुचि न हो तो ? श्रेष्ठतम तत्त्व हो परन्तु भीतर प्रेम न हो तो ?

आचार्य पद

लाकड़िया में (वि. संवत् २०२८) दस पयन्ना की वाचना थी । समाधि-पयन्ना में सर्व प्रथम कहा - उन पूज्य आचार्यों को नमस्कार हो, जो अरूपी सिद्धों को हमें यहां बताते हैं, अन्यथा कौन बताये ये पदार्थ ?

अरिहंतो ने मार्ग बताया, परन्तु उस मार्ग को यहां तक पहुंचाने वाले कौन ? पूज्य आचार्य भगवन्त ।

आचार्यों में गुण कितने ? केवल ३६ नहीं; केवल ३६ X ३६ = १२९६ भी नहीं । चंदाविज्झय पयन्ना में उल्लेख है कि उक्त संख्या को आप लाखों, करोड़ों बार गिनो, उतने गुण आचार्य में है ।

* अरिहंत, सिद्ध को नमस्कार करने के जितना ही फल आचार्य को नमस्कार करने में है ।

* पूज्य मल्लवादी सूरिजी का नाम ही ऐसा था कि सुनते ही कुवादी भाग जाते । इसीलिए कहां है कि - ‘सूरीण दूरीकयकुग्गहाणं ।’

* नौ पद सभी आत्मा को जानने, प्राप्त करने के लिए हैं, यह कदापि न भूलें । अरिहंतो को पूजा नहीं चाहिये, आचार्यों को आपके चन्दन नहीं चाहिये, परन्तु वे आपको अपने समान बनाना चाहते हैं । इसी लिए इतना उपदेश दिया है ।

* पूज्य कनकसूरिजी, पूज्य देवेन्द्रसूरिजी आदि तथा पूज्य प्रेमसूरिजी जैसों की हमें निश्चा प्राप्त हुई; यह हमारा अहोभाग्य है। पू. देवेन्द्रसूरिजी के बाद हमें पूज्य पं. श्री भद्रंकरसूरिजी महाराज की निश्चा मिली।

कितनेक व्यक्ति तो अलग होने के लिए ही शिष्य ढूँढते हैं। समुदाय एवं गीतार्थ - निश्चा संयम के लिए अत्यन्त ही उपकारी है। वृद्ध पुरुष तो इसके लिए अत्यन्त ही उपकारी हैं।

* पूज्य कनकसूरिजी महाराज देखने में सादे प्रतीत होते, परन्तु जब वे शास्त्रों के पदार्थों के विषय में कहते, तब बड़े विद्वान भी चकित हो जाते। उनका मौन, उनकी अल्प वाणी सबको अपना बना ले वैसे थे।

आणंदजी पंडितजी अनेक बार उनके पास आते और घंटों तक बोलते। अच्छे-अच्छे उनकी वाणी से प्रभावित हो जाते थे, परन्तु पू. कनकसूरिजी उनसे तनिक भी प्रभावित हुए बिना केवल एक ही वाक्य में उत्तर दे देते - “हम पूज्य बापजी महाराज के अनुयायी हैं।”

उन पंडितजी सहित हम सब पूज्यश्री का संक्षिप्त उत्तर सुनकर स्तब्ध हो जाते थे।

* आचार्य भगवन् भव्यो को देश-काल के अनुसार देशना देते हैं। वह भी शास्त्र-सम्मत एवं सापेक्ष होती है।

आचार्य भगवन् सदा अप्रमत्त होते हैं, वचन-सिद्ध होते हैं।

* आचार्य भगवन् गण-पति, मुनि-पति कहलाते हैं।

आचार्य भगवन् चिदानंद-रसास्वाद का सदा पान करते हैं।

अतः वे पर-भाव से निष्काम रहते हैं।

चिदानंद-रसास्वादन के बिना पर-भाव का रस कदापि छूटता नहीं है।

‘भई मगनता तुम गुण रस की, कुण कंचन कुण दारा?’

भगवान में मगनता का अनुभव करने वाले के लिए क्या स्वर्ण और क्या स्त्री? ऐसा चिदानन्द-रसास्वादन का पूज्य आचार्य भगवन् अकेले उपभोग नहीं करते, वे दूसरों को भी निर्मत्रित करते हैं।



भक्ति में लीनता

१६-४-२०००, रविवार

चैत्र शुक्ला-१३ : पालीताणा

* जब भी मोक्ष होगा तब पंच परमेष्ठी की उपासना के द्वारा ज्ञान आदि की पूर्णता से ही होगा । हम मोक्षाभिलाषी बने हों, मुक्त होने के अभिलाषी मुमुक्षु हों (मुक्त होने का अभिलाषी ही मुमुक्षु कहलाता है) तो पंच परमेष्ठी की उपासना एवं रत्नत्रयी की साधना में लग ही जाना चाहिये ।

जिस कारण से कर्म-बन्धन हुआ है, उससे विपरीत कारणों के सेवन से मोक्ष-मार्ग की ओर आगे बढ़ा जाता है । मिथ्यात्व आदि कर्म-बन्धन के कारण हैं, तो सम्यक्त्व, विरति (चास्त्रि) आदि कर्म-निर्जरा एवं संवर के कारण हैं ।

* पंचाचार मुक्ति का मार्ग है । यह मार्ग बतानेवाले आचार्य हैं । आचार्य को नमन करने से आचार पालन करने की और पालन कराने की शक्ति प्रगट होती है ।

ऐसे आचार्यों के दर्शन मात्र से, नाम-श्रवण मात्र से लोग अनेक जन्मों के पापों का क्षय करते हैं ।

* आचार्य पर श्रीसंघ का इतना बोझ हो तो समय कैसे मिले ? समय नष्ट करनेवाले समाचार पत्रों, विकथाओं आदि से

के लिए वे सामने ही हैं। इसीलिए 'अभियुआ' कहा है। तदुपरान्त भगवान् केवलज्ञान के रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं ही।

यह मान कर आराधना करें तो ही कर्म - क्षय होगा।

“तू मुझ हृदय-गिरि मां वसे...” प्रभु यदि अपने हृदय की गिरि-गुफा में रहे तो मोह रूपी हाथी आदि हमें सता नहीं सकें।

भगवान् के हृदय में पदार्पण के बाद भक्त कहता है -
“भगवान्! क्या आपने कोई जादू किया है? क्या आपने हमारा मन चुरा लिया है। कोई चिन्ता नहीं। हम भी कम नहीं हैं। हम भी जादू करेंगे। हम भी आपको अपने अन्तर में ऐसे बसावेंगे कि आप भाग नहीं सकोगे।

अजैन संत सूरदास खड़े में गिर पड़े। कोई उन्हें उगारने आया। सूरदास समझे कि ये भगवान् हैं। अतः उन्होंने उनका हाथ जोर से पकड़ लिया, परन्तु भगवान् तो भाग गये।

सूरदास बोले,

‘बांह छुड़ा के जात हो, निर्बल जाने मोहि।

हृदय छुड़ा के जाव तो, मर्द बखानुं तोहि॥’

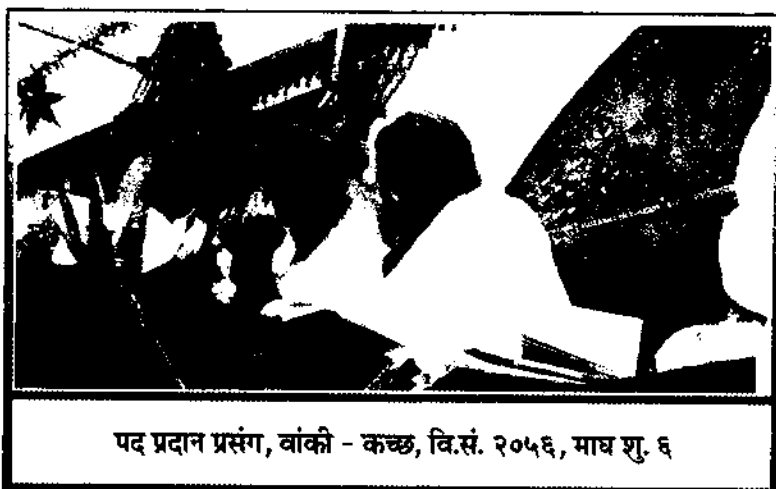
भक्त की यह शक्ति है कि वह भगवान् को हृदय में पकड़ सकता है। जब तक हृदय में विषय-कषाय भरे हुए हों, तब तक संक्लेश होता है। जब तक भगवान् होते हैं तब तक प्रसन्नता होती है।

* भक्त के मन में प्रभु का आगमन ही नौ निधान हैं। उसे अन्य कोई तमन्ना ही नहीं है।

* आप यह नहीं माने कि भगवान् में केवल वीतरागता ही है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, वात्सल्य, अनन्तकरुणा आदि गुण प्रकटे हुए ही हैं। भक्ति करते समय उनकी अनन्त करुणा हमारी दृष्टि के समक्ष रहनी चाहिये।

* अन्य दर्शनवाले दार्शनिकों में केवल प्रभु-नाम के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं बचा।

भगवान् श्री आदिनाथ के साथ चार हजार व्यक्तियों ने दीक्षा अंगीकार की थी, परन्तु बाद में वे तापस बन गये और प्रभु का नाम-कीर्तन करते रहे। कच्छ-महाकच्छ के द्वारा यह नाम-कीर्तन



पद प्रदान प्रसंग, वांकी - कच्छ, वि.सं. २०५६, माघ शु. ६

१७-४-२०००, सोमवार
चैत्र शुक्ला-१४ : पालीताना

पूज्य देवेन्द्रसूरिजी महाराज की स्वर्गारोहण तिथि ।

* शासन की आराधना अर्थात् नवपद की आराधना ।
नवपद की आराधना अर्थात् शासन की आराधना । दोनों अभिन्न
हैं ।

* आज चारित्र-पद का दिन है ।

संसार-सागर से पार उतारने के लिए चारित्र के अतिरिक्त अन्य
कोई जहाज नहीं है ।

चारित्र तब ही सार्थक होता है यदि उसकी पृष्ठ भूमिका
में सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान का बल हो । यह नहीं हो तो
चारित्र का कलेवर रहेगा, प्राण नहीं रहेंगे । निष्प्राण चारित्र का
कोई मूल्य नहीं है ।

संयमी कोमल भी होता है और कठोर भी होता है । दूसरों
के प्रति कोमल, परन्तु स्वयं के प्रति कठोर होता है ।

इस प्रकार का संयम पालन करने वाले आज तक अनेक
आत्मा हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे ।

महाविदेह क्षेत्र में इस समय बीस विहरमान भगवान हैं ।

को चुनडी ओढ़ाकर सगाई रद्द की थी ।

माता की आज्ञा अभी तक मिली नहीं थी । माता के मंगल आशीर्वाद प्राप्त हुए बिना ली गई दीक्षा सफल नहीं होती । ऐसे किसी विचार से उन्होंने अनेक वर्षों तक प्रतीक्षा की ।

छत्तीस वर्ष की आयु होने पर आधोई निवासी एक बहन का उपालम्भ मिला । आधोई में सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् बहनों के पारस्परिक वार्त्तालाप में एक बहन बोली - “ये मावडिया क्या दीक्षा ग्रहण करेगा ?”

इतने से वाक्य से ही वे संयम अंगीकार करने के लिए उत्सुक हो गये । वि. संवत् १९८३ में पू. कनकसूरिजी म. के पास दीक्षा ग्रहण करके वे मुनिश्री दीपविजयजी के रूप में प्रसिद्ध हुए ।

* उन्हें स्तवन-सज्जाय अनेक कण्ठस्थ थे । उन्हें सुनने के लिए लोग दौड़ा-दौड़ी करते । उस जमाने में उनके व्याख्यान में पूरी विद्याशाला भर जाती थी । व्याख्यान में उनकी स्मरण-शक्ति के अद्भुत चमत्कार देखने को मिलते ।

वे पलभर भी समय नष्ट नहीं करते थे । स्थंडिल-मात्रा आदि के लिए जाते-आते भी उनका स्वाध्याय चलता रहता था ।

उन्होंने चतुर्दशी का उपवास तो जीवन में कदापि नहीं छोड़ा । ओपरेशन आदि के समय भी उन्होंने चतुर्दशी का उपवास चालू रखा । फलतः चतुर्दशी को ही उन्हें समाधि दी गई । हमने उस दिन उपवास नहीं करने के लिए उन्हें बहुत समझाया, परन्तु उपवास नहीं छोड़ा सो नहीं छोड़ा । उन्हें तप के प्रति इतना अगाध प्रेम था ।

चाय का तो नाम नहीं । नित्य एकासना करते । यह तो हमारे समुदाय की परम्परा थी । पू. दर्शनविजयजी भी उनके साथ उपवास-आर्यबिल आदि कर लेते थे ।

अष्टमी के दिन उनके पास एकासना का पञ्चकखाण लेने में शर्म आती थी । उनका एक दोहा जो पू. जीतविजयजी महाराज के पास सीखा हुआ था ।

‘नीची नजरे चालतां, त्रण गुण मोटा थाय ।

कांटो टले, दया पले, पग पण नवि खरडाय ॥”

इसके कारण उनकी गर्दन भी झुक गई थी । वे ब्रह्मचर्य की नौ वाड़ों का उत्कृष्ट पालन करते थे ।

कच्छ छोड़कर बाहर जाने की उनकी तनिक भी इच्छा नहीं थी, फिर भी लाभ-हानि सोचकर उन्होंने वि. संवत् २०२६ में नवसारी में चातुर्मास किया ।

पाट के उपर से गिरने पर फ्रैकचर हुआ, जिसके कारण अन्तिम दो वर्ष पाट पर ही रहना पड़ा । हमने ओपरेशन कराने का उन्हें निषेध किया, फिर भी नानालाल घेलाभाई के अत्यन्त आग्रह से ओपरेशन करा लिया ।

वि. संवत् २०२९ में मैं दीक्षा प्रदान करने हेतु राधनपुर गया था । लौटते समय मार्ग में चैत्र की ओली के लिए अनेक विनती हुई, परन्तु हमने वह स्वीकार नहीं की । ओली से पूर्व हम - आधोई आ पहुंचे । चैत्र शुक्ला चतुर्दशी को उनका स्वर्गवास हो गया ।

वे तो चले गये, परन्तु लाकड़िया में से अब कौन तैयार होगा ? उनके भतीजे कांतिलाल दीक्षित होने जैसे थे । आज वे पण्डित रूप में कोलकाता में हैं । ब्रह्मचारी हैं, परन्तु दीक्षा ग्रहण नहीं कर सके ।

ओली कराने वाले कुबड़िया परिवार में से दीक्षा ग्रहण करने के लिए क्या कोई तैयार होगा ? एक बहन एवं एक भानजा तो दीक्षा अंगीकार कर चुके हैं । अब उनके मार्ग में क्या दूसरा कोई आयेगा ?

स्व. पूज्यश्री का भक्तियोग भी प्रबल था । अष्टमी - चतुर्दशी के दिन वे नये-नये जिनालयों में खास दर्शन करने के लिए जाते थे ।

यहां पालीताणा में अनेक जिनालय हैं । इस नियम का पालन करें । एक चैत्यवन्दन संघ की ओर से भी करना चाहिये ।

‘खामणों’ में यह बात आती है न ? यह बात आज मुझे खास तौर से दादा के दरबार में आज याद आई । यद्यपि मैं चतुर्विध संघ की ओर से सबको याद करके दर्शन करता हूं । आपकी ओर से मैं ने दर्शन किये तो अब आप उसकी अनुमोदना करें ।

छोटे मुनि भी दर्शन करके आये हों तो बड़े आचार्य भी

अनुमोदना करते हैं । 'अहमवि वंदावेमि चेइआइ ।' अनुमोदना से पुन्य का गुणाकार होता जाता है ।

हरिभद्रसूरि कृत 'श्रावक प्रज्ञप्ति' में इस बात का उल्लेख है ।

यह सब जीवन में उतारने के लिए है । नई पीढ़ी को इस बात का कोई पता नहीं है ।

* पर्व तिथि पर नये-नये जिनालयों में दर्शनार्थ जाने की टेव उनके कारण ही हमारे में पड़ी ।

* एक बार पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. ने कहा, 'विशेषा-वश्यक भाष्य, नमस्कार निर्युक्ति में नवकार का अद्भुत वर्णन पढ़ कर लगा, 'ओह ! नवकार ऐसा महान् है ! समस्त सूत्र तो हमें कब भावित बनायेंगे ? एक नवकार तो भावित बनायें ।

नवकार को आत्मसात् करनेवाला भेदनय से श्रुतकेवली कहलाता है, अभेद नय से चौदह पूर्वी श्रुतकेवली कहलाता है ।

वाचना

* इस समय पू. देवेन्द्रसूरिजी के गुणानुवाद किये । नवपद की ढालों में जिनकी अनुप्रेक्षा करते हैं, वैसे गुणों के वे स्वामी थे ।

* उत्तम आलम्बन मिलने से, महात्म्य सुनने को मिलने से अरिहंत, आचार्य आदि के प्रति हमारा सम्मान बढ़ता है । सम्मान बढ़ने पर उनके गुण हमारे भीतर संक्रान्त होते हैं ।

सिद्धचक्र-पूजन में विधि-कारक जिस प्रकार आचार्य आदि की पूजा करता है, परन्तु कई बार वन्दन करने के लिए नहीं आते, वैसा हमें यहां नहीं करना है ।

* अरिहंत आदि का स्वरूप सुनकर, फिर उन पदों का हमारे भीतर चिन्तन करना चाहिये । ऐसा होने पर हमारी आत्मा स्वयं नवपद बन जाती है ।

ध्यान का स्वभाव पानी के समान है । जहां जाता है वहां वह वैसा आकार ले लेता है । दूध में यदि पानी डाला जाये तो पानी दूध जैसा बन जाता है । उसमें दूध की शक्ति है कि पानी की शक्ति ? दोनों की शक्ति है । दूध के स्थान पर यदि पानी को गटर में फैको तो ? दूध में पानी के बदले पेट्रोल डालो तो ?

हम सब कर्म के साथ दूध-पानी तरह मिले हुए हैं । इस

• उपाध्याय अर्थात् चित्कोश ! ज्ञान का खजाना ! उपाध्याय नौ प्रकार की ब्रह्मगुप्ति से गुप्त होते हैं ।

• उपाध्याय स्याद्वाद शैली से तत्त्वोपदेश देने वाले होते हैं ।

• वे रजहंस की तरह आत्म-सरोवर में मग्न होते हैं ।

• वे वृषभ की तरह गच्छ का उत्तरदायित्व रूपी बोझ उठाने वाले होते हैं ।

* वृषभ तुल्य साधुओं से समुदाय सुशोभित होता है । पू. प्रेमसूरिजी के साथ विहार में हमने देखा - ५५-६० ठाणे थे । मार्ग में गांवों में से वृषभ - साधु सेटियाँ और गुड बहोर कर लाते ।

यहां तो चार से पांच घड़े पानी के लाने पड़े तो मुंह चढता है । सचमुच तो व्यवस्थापक को कहकर रखना चाहिये - 'कुछ भी काम हो तो मुझे कह देना ।' दूसरा कोई कार्य न करे तो ? इस प्रकार उस की दया सोचने की आवश्यकता नहीं है । मेरा क्या कर्तव्य है ? यह देखना है ।

ॐ ॐ ॐ

सम्यग्-दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः :

तत्त्वार्थ के इस प्रथम सूत्र में नवकार छिपा हुआ है, आओ हम खोज करें ।

'मार्गः' पद से अरिहंत ('मग्गो' अरिहंत का विशेषण है ।)

'मोक्ष' से सिद्ध भगवंत ।

'चारित्र' से आचार पालक-प्रचारक आचार्य भगवान् ।

'ज्ञान' से ज्ञानदाता उपाध्याय भगवान् ।

'दर्शन' से श्रद्धापूर्वक संसार-त्याग करने वाले मुनिगण ।

'सम्यग्' से भक्तिपूर्वक किया गया नमस्कार (नमः)

सूचित होता है ।

व्यक्ति भोजन के लिए खोज करेगा ही । प्यासा व्यक्ति पानी के लिए खोज करेगा ही । मोक्ष के लिए उपायों (ज्ञान आदि) के लिए हम प्रयत्न नहीं करते, इसका अर्थ यह है कि मोक्ष की रुचि नहीं है ।

* मोक्ष हमारे भीतर है, भगवान हमारे अन्तर में बैठे हैं, परन्तु उन्हें प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा न हो तब तक उनके दर्शन कैसे हो सकते हैं ? दर्शन न हो यह भी संभव है, परन्तु उसके लिए हमें कोई अखरे नहीं, विरह न लगे, यह कैसे चलेगा ? विरह के अनुपात में ही दर्शन मिलेगा । जितने प्रमाण में विरह का अनुभव करोगे उतने प्रमाण में दर्शन कर सकोगे । जितनी भूख लगी होगी उतना भोजन आप पचा सकोगे ।

* प्रश्न - “पारग-धारग तास ।” यहां पहले ‘धारक’ और फिर ‘पारक’ चाहिये न ?

उत्तर - नहीं, जो है वह बराबर है । कोई भी ग्रन्थ पूर्ण करने के बाद आप उसके ‘पारक’ कहलायेंगे । पारक अर्थात् पार प्राप्त किया हुआ । फिर क्या करना ? वह ग्रन्थ भूल जाना ? नहीं; उसे धारण किये रखना है । इसीलिए पहले पारग और फिर धारग । उपाध्याय भगवन् बारह अंगों के पारग और धारग होते हैं ।

हम पारग-धारग बने बिना ही आगे बढ़ते रहते हैं, इसीलिए सब गड़बड़ होती रहती है । पांच प्रतिक्रमण के सूत्रों में भी क्या हम पारग-धारग बने ?

सूत्र, अर्थ एवं तदुभय से ये सूत्र आत्मसात् होने चाहिये । पूज्य हरिभद्रसूरि के शब्दों में कहूं तो श्रुत, चिन्ता एवं भावना ज्ञान तक पहुंच जाना चाहिये ।

श्रुतज्ञान पानी के समान है, चिन्ता ज्ञान दूध के समान है और भावना ज्ञान अमृत के समान है ।

* आदान-प्रदान बंध हो जाने से, विनियोग बंध हो जाने से ध्यान आदि की अनेक परम्पराएँ बंध हो गई हैं । अब वह परम्परा कैसे प्राप्त की जाये ? इसी लिए बुद्धिमान का यह कार्य है कि स्वयं को जो उत्तम परम्परा मिली है, उसे आगे चलाये,

वाचना आदि के द्वारा विनियोग करे ।

विनियोग करने की जिसमें शक्ति हो, वह अन्य सब छोड़कर वही काम करता है । सामाचारी प्रकरण में पू. उपाध्यायजी यशोविजयजी ने लिखा है कि पानी, गोचरी आदि के कार्य दूसरे करें, विनियोग का कार्य विशिष्ट बुद्धिमान संभाले ।

इसीलिए विनियोग के लिए इन्कार करने वाले भद्रबाहुस्वामी को श्री संघ ने आग्रह करके समझाया था ।

आप स्वयं ही शिक्षित हों, फिर पण्डित आदि की क्या आवश्यकता पड़ेगी ? क्या आप स्वयं नहीं पढ़ा सकते ? युवा साध्वी को युवा पण्डित के पास भेजने में जोखिम भी है, इसका ध्यान रखना ।

✱ अरिहंतों को नमस्कार मार्ग पाने के लिए ।

सिद्धों को नमस्कार अविनाशी पद प्राप्त करने के लिए ।

आचार्यों को नमस्कार आचार में निष्णात बनने के लिए ।

उपाध्यायों को नमस्कार विनय के लिए अथवा विनियोग शक्ति प्राप्त करने के लिए, और

साधु को नमस्कार सहायता गुण प्राप्त करने के लिए है ।

हमने इतने नमस्कार किये, हमने कितने गुण प्राप्त किये ? कितने गुण प्राप्त करने की हममें उत्कण्ठा उत्पन्न हुई ?

✱ ये निर्युक्ति के पदार्थ हैं । उपयोगपूर्वक, पड़िलेहण करते हुए या इरियावहियं इत्यादि करते हुए आज तक अनन्त जीव मोक्ष में गये हैं ।

उपाध्याय में विद्यमान अन्य गुण मिलें या न मिलें, एक विनय गुण मिल जाये तो भी कार्य हो जाये । हमारी चल रही वाचना (चंदाविज्झय पयन्ना पर की) में विनय ही प्रमुख है । पांच पदों के वर्णन के बाद यही वाचना चलेगी ।

✱ पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. दों घंटों में कितना ही बोल जाते थे । प्रारम्भ में मैं लिखने का प्रयत्न करता । मैं लिखता उससे पूर्व तो वे कहीं के कहीं पहुँच जाते । फिर सोचा, लिखने से काम नहीं चलेगा । उन्हें आदरपूर्वक सुनें । उनके प्रति विकसित आदर से भी कार्य हो जायेगा ।

पूज्य पंन्यासजी के पास तीन वर्षों तक रहना हुआ । बहुत जानने को मिला ।

* विनय-गुण उपाध्याय में सिद्ध हुआ होता है । पू. हरिभद्रसूरिजी का कथन है कि जिन्हें जो गुण सिद्ध हो चुका हो, उनकी सेवा से, उनके नमस्कार से भी हमें वह गुण प्राप्त हो सकता है ।

* उपाध्याय भगवन् की शिक्षण-शक्ति इतनी प्रबल होती है कि पत्थर तुल्य मूर्ख शिष्य में भी ज्ञान के अंकुर उगा सकते हैं ।

“मूर्ख शिष्य निपाई जे प्रभु, पहाण ने पल्लव आणे ।”

* उपाध्याय राजकुमार हैं, भावी राजा हैं; अर्थात् भावी आचार्य हैं । उपाध्याय की वाणी मधुर एवं शीतल होती है । जब हम धूप से संतप्त हों, उष्णता से संतप्त हों तब चन्दन प्राप्त हो जाये तो ? आज जैसा चन्दन नहीं, परन्तु बावना चन्दन मिले तो ? ‘बावना चन्दन’ अर्थात् बावन मन उबलते तेल में चन्दन का एक छोट्टा टुकड़ा डाला जाये तो भी वह तेल शीतल बन जाता है । इसीलिए यह ‘बावना चन्दन’ कहलाता है । उसी प्रकार से उपाध्याय संसार के ताप से परितप्त - जीवों को ऐसी मधुर वाणी से भिगो देते हैं कि उसके सभी अहित-ताप नष्ट हो जाते हैं ।

प्रश्न - तप में स्वाध्याय आने पर भी ‘तप सज्जाये रत सदा’ ऐसा क्यों लिखा ?

उत्तर - स्वाध्याय की प्रमुखता बताने के लिए । स्वाध्याय उपाध्याय का सांस होता है ।

* सूत्र अधूरा छोड़ दें तो पार नहीं पहुँच सकते । उपाध्याय भगवन् पार पहुँचे हुए होते हैं । इसीलिए वे ‘पारग’ कहलाते हैं । तदुपरान्त उसे धारण करने वाले वे ‘धारग’ भी हैं । जो पारग-धारग बनता है वही ध्याता बनता है ।

पू. उपा. यशोविजयजी ने उपाध्याय का यह अर्थ भी किया है -

उप = समीप में

आ = चारों ओर से

ध्याय = सूत्रार्थ का ध्यान-चिन्तन करें वे ।

* उपाध्याय भगवन् 'जगबंधव-जगभ्राता' हैं ।

बन्धु की अपेक्षा भाई विशेष है । संकट के समय दूसरे सब हट जाते हैं, तब भी भाई पास रहता है । उपाध्याय भगवन् जगत् के बन्धु ही नहीं हैं, भाई (भ्राता) भी हैं ।

साधु पद

* गोचरी में इच्छनुसार वस्तु मंगवाते हैं न ? यहां तो सभी गुण चाहने योग्य (प्रिय) हैं । एक भी गुण छोड़ देने योग्य नहीं है । मैं यही परोस रहा हूं । आप वह गुण लोगे न ?

* साधु भगवन् में दया एवं दम प्रबल होते हैं । अपने निमित्त से किसी भी जीव को कुछ भी पीड़ा हो जाये तो उनका हृदय पिघल जाता है । ऐसे हृदय में ही दया उत्पन्न होती है । दया का पालन अजितेन्द्रिय नहीं कर सकता, अतः बाद का गुण है 'दम' ।

* शक्कर का एक भी दाना ऐसा नहीं होता, जिसमें मधुरता न हो । उस प्रकार एक भी साधु ऐसा नहीं होता, जिसमें समिति - गुप्ति न हों । समिति-गुप्ति न हों तो समझें कि हम साधु नहीं हैं । मधुरता (मिठास) न हो तो समझें कि यह शक्कर का दाना नहीं है, नमक का दाना हो सकता है ।

हमें ऐसे साधु बनना है । यदि ऐसे साधु नहीं बने हैं तो अपनी आत्मा को उस प्रकार शिक्षा देनी है ।

शुद्ध दया के पालनार्थ तो हमने साधुत्व स्वीकार किया है । यदि दया ही हमारे हृदय में न हो तो साधुत्व कहां रहा ?

प्रत्येक प्रवृत्ति करने से पूर्व सोचो कि मैं समिति-गुप्ति का खण्डन तो नहीं कर रहा हूं न ? मैं दया-धर्म से च्युत नहीं हो रहा न ?

* समिति के पालन में कमी हो तो गुप्ति का पालन सम्यग् प्रकार से नहीं हो सकता । मेरे पास अनेक व्यक्ति आते हैं और कहते हैं कि हमें मौन की प्रतिज्ञा दीजिये ।'

किस की प्रतिज्ञा ? केवल मौन रहना ? मौन रहकर करोगे क्या ? अबोला रखने वाले भी मौन होते हैं । केवल मौन का

थोड़ा ही मूल्य है ? वृक्ष एवं पत्थर भी मौन है । ऐसा मौन तो एकेन्द्रिय की योनि में बहुत पाला है ।

पू. उपाध्यायजी महाराज कहते हैं - हमारे योगों की पुद्गल में प्रवृत्ति नहीं होने देनी यह उत्कृष्ट मौन है ।

ॐ ॐ ॐ

सर्वाधिक श्रेष्ठ तीन वस्तु

तीन मंत्र - कम खाना, गम खाना, नम जाना ।

सदा करो - मौन, अल्प परिग्रह, आत्म-निरीक्षण ।

शीघ्र करो - प्रभु-पूजा, शास्त्राध्ययन, दान ।

दया करो - दीन, विकलांग (अपंग), धर्म-भ्रष्ट के प्रति ।

वश में करो - इन्द्रिय, जीभ और मन ।

त्याग करो - अहंकार, निर्दयता, कृतघ्नता ।

परिहरो - कुदेव कुगुरु, कुधर्म ।

निडर बनें - सत्य में, न्याय में, परोपकार में ।

धिक्कारो मत - रोगी को, निर्धन को, दुःखी को ।

भूलो मत - मृत्यु, उपकारी, गुरुजनों को ।

सदा उद्यमशील रहो - सद्ग्रन्थ - सत्कार्य एवं सन्मित्र की प्राप्ति में ।

घृणा न करें - रोगी, दुःखी एवं नीच जाति वाले से ।

घृणा करें - पाप, अभिमान एवं मन की मलिनता से ।

मैथुन संज्ञा में आसक्त 'ब्रह्मदत्त' सातवीं नरक में गये हैं ।

संज्ञा अर्थात् प्रगाढ आसक्ति ! अगाध संस्कार ! भगवान् की कृपा से ही इनसे मुक्त हो सकते हैं । सिद्धचक्र की आराधना संज्ञा की पकड़ में से मुक्त होने के लिए है ।

सिद्धचक्र में साध्य, साधक और साधना सभी हैं । अरिहंत, सिद्ध साध्य हैं । आचार्य, उपाध्याय, साधु साधक हैं । दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप साधना हैं ।

हमारा पारम्परिक साध्य अरिहंत, सिद्ध भले ही हों, परन्तु वर्तमान में साधुत्व अनन्तर साध्य है । सच्चा साधुत्व आ जाये तो सच्चे साधक बन सकते हैं । सच्चा साधक बनने वाला साध्य प्राप्त करेगा ही ।

समता, सहायता और सहनशीलता के द्वारा सच्चा साधुत्व आ सकता है ।

आपमें ये तीनों हैं न ? मुझे तो लगता है कि हैं । आपमें कैसी समता है ? आप कैसे शान्त बैठे हैं ? आप परस्पर कितनी सहायता करते हैं ? कोई भी नया व्यक्ति वाचना लेने के लिए आये तो आप उसे तुरन्त स्थान दे देते हैं । अन्य समुदाय वाले को तुरन्त ही आप आगे बिठाते हैं । सहन कर के भी आप दूसरे को आगे करते हैं । यह सब असत्य तो नहीं है न ?

संसार के सभी जीवों को समझाना सरल है । केवल अपनी आत्मा को समझाना कठिन है । दीपक दूसरों को प्रकाश देता है, परन्तु उसके नीचे ही अंधेरा रहता है । दूर पर्वत जलता हुआ दिखाई देता है, परन्तु अपने पांव के नीचे आग नहीं दिखाई देती ।

हजारों को तारने की शक्ति होते हुए भी स्व-आत्मा को यदि नहीं तार सकें तो क्या काम के ? सबका पेट भर जाये, परन्तु अपना ही पेट न भरे तो ?

* संसार के दावानल का शमन करने में समर्थ एक मात्र जैन प्रवचन है । साधु दावानल का शमन कर सकता है क्योंकि उसे जैन प्रवचन प्राप्त है ।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी कहते हैं - 'उन्हें हम अंजलिबद्ध प्रणाम करते हैं, उनकी हम उपासना करते हैं, जिन्होंने

अपनी आत्मा को जैन प्रवचनों से भावित बनाया है ।

साधु ही इस विषय-कषायमय दावानल का शमन कर सकता है ।

प्रश्न - विषय, कषाय दोनों में से भयंकर कौन है ?

उत्तर - विषय अधिक भयंकर है । विषय की - कामना की पूर्ति नहीं होने से ही जीव कषाय में सरक जाता है ।

"जे गुणे से मूल-ठाणे,
जे मूल-ठाणे से गुणे"

- आचारांग सूत्र

* हम यह सब सुनते हैं सही, परन्तु साधना को आगे के लिए स्थगित कर देते हैं । भूख-प्यास शान्त करने के लिए आहार-पानी के लिए हम कितनी शीघ्रता करते हैं ? वैसी खोज कदापि साधना के लिए की ?

* चैत्र की ओली यहां पूर्ण हो गई । यहीं रहना है, अतः यहां से ही गोचरी-पानी लेना है, ऐसा न करें । बीस वर्ष पूर्व तो हम सुदूर गांव में से गोचरी लाते थे ।

* मुनि अर्थात् करुणा-सिन्धु !

दीक्षा अंगीकार की तब से परिवार भले ही छोड़ा, परन्तु अखिल विश्व को परिवार बनाया । किसी के साथ कुछ लेना-देना नहीं; 'मैं अपना करूं' ऐसी वृत्ति नहीं चलती । सभी जीवों के साथ करुणापूर्ण जीवन जीना है ।

समस्त जीवों के साथ करुणामय जीवन !

जो निरन्तर आत्मा में रमण करे, उसका नाम श्रमण !

* कोई शक्ति या लब्धि प्रकट हो चुकी हो, लोग बिरुदावली गाते हों, परन्तु मुनि उससे फूलते नहीं हैं; वे अन्तर से निर्लित रहते हैं ।

इन समस्त ढालों को यदि कण्ठस्थ कर लोगे तो कम से कम इतना ख्याल आयेगा कि मुझे कैसा बनना है ? इन ढालों में हमारे शुद्ध साधु-जीवन का नकशा है ।

यहां जैसी करनी होगी, वैसी गति परलोक में मिलेगी ।

दोनों मुनि एक समान देवलोक में गये, परन्तु एक इन्द्र तुल्य

सामानिक देव बना; जबकि दूसरा अल्प ऋद्धिवाला सेवक देव (किल्बीषिक) बना । इसका कारण क्या ? इसका कारण साधना में अन्तर ।

हमारी हीन साधना हमें उच्च गति में ले जायेगी, ऐसे भ्रम में न रहें ।

✽ सतत शुभ-ध्यान कदाचित् हम न रख सकें, परन्तु सतत शुभ लेश्या अवश्य रख सकते हैं । ध्यान तो अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है, परन्तु लेश्या सतत रहती है ।

ध्यान चार ही है, जबकि लेश्या छः है ।

अशुभ ध्यान से अशुभ लेश्या प्रबल बनती है ।

शुभ ध्यान से शुभ लेश्या प्रबल बनती है ।

ध्यान के द्वारा शुभ लेश्या को प्रबल बनानी है ।

शुभ ध्यान एवं शुभ लेश्या में प्रयत्न नहीं करें तो अशुभ ध्यान तथा अशुभ लेश्या तो चालु ही हैं ।

लेश्या तेरहवे गुणस्थान में जाती है, परन्तु ध्यान चौदहवे गुणस्थान तक रहता है ।

✽ कषाया अपसर्पन्ति, यावत्क्षान्त्यादिताडिताः ।

तावदात्मैव शुद्धोऽयं, भजते परमात्मताम् ॥

- योगसार

क्षमा आदि से कषाय आदि को ज्यों ज्यों हटाते जाओगे, त्यों त्यों ध्यान एवं लेश्या शुभ बनते जायेंगे । ज्यों ज्यों क्षमा आदि बढते जायें, त्यों त्यों क्रोध आदि हटते जायेंगे । जिस प्रकार वीर योद्धा तीरों का प्रहार करता जाये और शत्रु-सेना पीछे हटती जाये ।

भगवान का प्रतिबिम्ब आपके मन पर पड़ता है, परन्तु कब ? जब मन मलिन न हो, निर्मल हो । मन को शुभ बनाने के लिए कषाय आदि हटाने आवश्यक है ।

हम कषायों को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कषाय ऐसे हमको क्यों छोड़ें ? पुनः वे एकत्रित होकर आक्रमण करते हैं । चेतना हार जाती है, भीतर विद्यमान प्रभु का प्रतिबिम्ब धुंधला हो जाता है, चला जाता है । इसी लिए जब तक कषायों का पूर्णतः क्षय न हो तब तक विश्वास करने योग्य नहीं है ।

बन गये । पू. उपाध्याय महाराज के चाबखे सुनने योग्य हैं ।

“निर्दय हृदय छः काय मां, जे मुनि वेषे प्रवर्ते रे;
गृहीयति लिंगशी बाहिरा, ते निर्धन गति वर्ते रे ।”

* साधु स्वयं तीर्थ रूप हैं । तीर्थ की तरह लोग साधुओं के दर्शन करने के लिए आते हैं ।

“साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः ।”

ऐसे साधुओं को नमन करने की इच्छा कब होती है ? जब पूर्व के कोई पुन्य जागृत हुए हों तब ।

* “सोनातणी परे परीक्षा दिसे ।”

स्वर्ण को ज्यों ज्यों तपाओगे, त्यों त्यों अधिकाधिक चमकेगा । यदि आप साधु की परीक्षा करो तो अधिकाधिक देदीप्यमान बनेगा ।

ऐसे साधु इस काल में नहीं दिखाई दें तो देश-काल के अनुसार साधना करने वाले साधुओं में गौतम स्वामी के दर्शन करें ।

* “अप्रमत्त जे नित्य रहे ।”

जो नित्य अप्रमत्त रहे, अनुकूलता में प्रसन्न न हो, प्रतिकूलता में उदास न हो, ऐसी हमारी आत्मा ही नैश्चयिक दृष्टि से साधु है ।

ॐ ॐ ॐ

प्रभु-प्राप्ति के चार सोपान

प्रीतियोग - प्रभु के प्रति अनन्य प्रेम विकसित करना ।

भक्तियोग - सर्वस्व समर्पण की भूमिका तक पहुंचना ।

वचनयोग - प्रभु-आज्ञा को जीवन-प्राण समझ कर उसका पालन करना ।

असंगयोग - उपर्युक्त तीनों योगों के क्रमिक एवं सतत अभ्यास से एक ऐसी अवस्था आती है कि जिसमें आत्मा सर्व संग से निर्लिप्त होकर अनुभवगम्य अपरिमेय आनन्द प्राप्त करने लगती है ।

- पू.आ.श्री कलापूर्णसूरेश्वरजी द्वारा लिखित
'मिले मन भीतर भगवान' पुस्तक से ।

नहीं जा सकता ।

* भगवान शरीर के रूप में भले ही अनुपस्थित हैं, परन्तु आत्मा के रूप में तो सिद्धशिला में हैं ही । वहां से भी वे उपकार की हेली बरसा ही रहे हैं । सूर्य चाहे दूर हो, लेकिन प्रकाश के रूप में यही है न ? भगवान चाहे दूर हो, परन्तु प्रभाव के रूप में यही है ।

आपके अन्तर में भाव हो तो भगवान दूर नहीं है । भाव को क्षेत्र की दूरी रुकावट नहीं बनती ।

आप यह न पूछें कि भगवान कहां है ?

आप यह पूछें कि आप कहां है ?

जमालि नजदीक था, सुलसा दूर थी; फिर भी जमालि के लिए भगवान दूर थे और सुलसा के लिए भगवान समीप थे ।

हम भगवान की शक्ति पहचान नहीं सकते, क्योंकि हमारी भूमिका निर्मल नहीं बनी । यदि भूमिका निर्मल बनें तो 'भक्तामर' जैसे स्तोत्रों में से भी भगवान का प्रभाव कदम-कदम पर देखने को मिलेगा ।

टेलीफोन जैसे जड़ पदार्थ के द्वारा भी यदि दूरस्थ मनुष्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता हो तो भक्ति के द्वारा क्यों नहीं स्थापित किया जा सकता ?

दीपक अपना प्रकाश दूसरों को दे सकता है । एक दीपक में से हजारों दीपक प्रज्वलित होते हैं तो भगवान दूसरों को भगवान क्यों न बना सकें ? परन्तु एक शर्त है कि कोड़िया, तेल और बाती तैयार चाहिये । कोड़िये को प्रज्वलित दीपक के पास जाना चाहिये और झुकना चाहिये । झुकेगा नहीं तो कार्य नहीं होगा । मेरे पास कोड़िया है, तेल है, बाती है । अब मुझे किसी के पास जाने की क्या आवश्यकता है ? मैं झुकूं क्यों ? यह मानकर यदि कोड़िया दीपक के पास न जाये, न झुके तो ज्योति कदापि जल नहीं पायेगी ।

* पांच ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान कौन सा है ? केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता, अतः यह महान् है; परन्तु केवलज्ञान प्राप्त कैसे हो ? उसके लिए श्रुतज्ञान चाहिये । श्रुतज्ञान की एक विशेषता

है। इसका आदान-प्रदान हो सकता है। केवलज्ञान का आदान-प्रदान नहीं हो सकता।

* आगमों की सूची पक्खिसूत्र में बोलते हैं, वह मात्र बोलने के लिए है कि पढ़ने के लिए है? गोचरी में केवल नाम गिन लें तो क्या चलेगा?

* हमारी गति चींटी की है या पोपट की है?

प्रश्न - गति शुरू हो गई तो भी बड़ी बात है।

उत्तर - गति शुरू तो हो ही गई है। तो ही आपने दीक्षा अंगीकार की है। वैसे ही तो घर-संसार छोड़कर तो नहीं आ गये।

* मुझे थकान नहीं आती। मैं भगवान का सेवक बनकर बोलता हूँ। आप में से एक भी नहीं समझे तो भी मैं निराश नहीं होऊंगा, क्योंकि मैं तो लाभ में ही हूँ। "ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्तु एकान्ततो हितम्॥" अनुग्रह बुद्धि से बोलने वाले को एकान्त से लाभ ही है। ऐसा कहने वाले उमास्वाति महाराज का साथ है।

* हम यदि दिन में ३० मिनट भी मन को संक्लेश-रहित बना सकें तो वे ३० मिनट भी मुक्ति मार्ग की ओर प्रयाण बन जायेंगी। रोज ऊंची-ऊंची सीढ़ियों चढ़कर दादा की यात्रार्थ जाते हैं तो क्या इतनी साधना नहीं करेंगे?

हम सिद्धि मांगते हैं, परन्तु साधना नहीं मांगते। साधना के बिना सिद्धि कैसे प्राप्त होगी? तृप्ति मांगे पर यदि भोजन नहीं मांगे तो? भोजन के बिना क्या तृप्ति होगी?

* हमारे मन-वचन-काया की प्रवृत्ति कम से कम हमसे तो छिपी हुई नहीं है। हमारे स्वयं के लिए तो कम से कम हम सर्वज्ञ ही हैं। उसका समुचित निरीक्षण करते रहें और उसे दिशा प्रदान करते रहें तो भी काम हो जाये। आत्म-निरीक्षण एक दर्पण है, जिसमें स्वयं को देखना है।

आगमों के द्वारा भी आत्म-निरीक्षण करना है, तो ही सच्ची दिशा दृष्टिगोचर होगी।

कोई मान-सम्मान अधिक प्रदान करे तो फूल मत जाना। आत्म-निरीक्षण के इस दर्पण में आपके भीतर विद्यमान दाग देखते

रहोगे तो आप फूल कर कुप्पा नहीं बन पाओगे । यदि कोई आपकी निन्दा करेगा तो अप्रसन्न भी नहीं होओगे ।

* ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ६ छेदग्रन्थ, १० पयन्ना, नंदी एवं अनुयोग - ये ४५ आगम हैं । दस पयन्ना में 'चंदाविज्ञय' पयन्ना भी आगम है । छोट्य सा यह ग्रन्थ क्या हम कण्ठस्थ नहीं कर सकते ? यदि कण्ठस्थ कर लें तो यह दर्पण का कार्य करेगा ।

* भगवान द्वारा कथित एक श्लोक में, अरे एक नवकार में सम्पूर्ण मोक्ष-मार्ग छिपा हुआ है, यदि हम उसे आत्मसात् करें ।

"बुज्झ बुज्झ चंडकोसिआ !"

इतने वाक्य से चंडकौशिक प्रतिबोधित हुआ था ।

'समयं गोयम मा पमायए ।'

प्रति पल इतना वाक्य भी याद रह जाये तो काम बन जाये ।

* गुणों की दृष्टि से केवलज्ञान श्रेष्ठ है । श्रुतज्ञान का भी लक्ष्य है - केवलज्ञान, परन्तु श्रुतज्ञान कारण है, केवलज्ञान कार्य है । भार कारण पर देना पड़ता है । कारण आ जायेगा तो कार्य कहां जाने वाला है ? भोजन आयेगा तो तृप्ति कहां जाने वाली है ? श्रुतज्ञान आयेगा तो केवलज्ञान कहां जायेगा ? श्रुतज्ञान केवलज्ञान को खींच लायेगा ।

श्रुतज्ञान के बिना कोई केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । मरुदेवी माता को भी चौथे गुणस्थानक पर सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ तब श्रुतज्ञान मिला ही था । केवलज्ञान उसके बाद ही प्राप्त हुआ था ।

* सम्यग्दृष्टि के लिए तो कुरान, वेद, महाभारत, रामायण आदि मिथ्याश्रुत भी सम्यग् बन जाते हैं । दृष्टि में 'सम्यग्' आना ही मुख्य बात है । ज्ञान के एकावन खमासमणों में मिथ्याश्रुत को भी खमासमण दिया है । उसमें रहा हुआ 'मिथ्यात्व' त्याज्य है, ज्ञान नहीं ।

* चौदह पूर्वी को ही केवलज्ञान होता है, क्या यह बात है ? माषतुष मुनिश्री केवलज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और चौदह पूर्वी भी निगोद में जा सकते हैं । इसीलिए कहा है - कि ज्ञान चाहे अल्प हो, लेकिन भावित बना हुआ होना चाहिये ।

* मरुदेवी माता की अनित्य भावना गहराई से समझाने योग्य है । सब अनित्य है तो नित्य कौन है ? नित्यत्व भीतर होना ही चाहिये । वह नित्य आत्मतत्त्व प्राप्त करने की तीव्र लगन ही उन्हें केवलज्ञान की ओर ले गई । प्रभु को देख कर उन्हें अपने भीतर रहे नित्य प्रभु दिखाई दिये ।

* एक ओर चौदह पूर्व का ज्ञान और दूसरी ओर भावित बना हुआ केवल अष्ट प्रवचन माता का ज्ञान दोनों समान बताये गये हैं । ऐसी सब बातों का विपरीत अर्थ लगाकर पढ़ना बन्द मत कर देना ।

भावना ज्ञान भी कब आता है ? उसकी पूर्व भूमिका में चिन्ताज्ञान चाहिये । यह भी कब आता है ? इसकी पूर्व भूमिका में श्रुतज्ञान चाहिये । इसीलिए श्रुतज्ञान पर इतना महत्त्व दिया जाता है ।

* 'चंदाविज्झय पयत्ता' में विनय, शिष्य, आचार्य (गुरु) आदि का वर्णन किया । अब ज्ञान-द्वार चलता है । आत्मा का परिचय कराने वाला ज्ञान है । आप शरीर नहीं हैं, जड़ नहीं हैं । आप ज्ञानमय आत्मा हैं । शरीर जल जायेगा, ज्ञान नहीं जलेगा ।

* भगवान के द्रव्य, गुण-पर्याय के चिन्तन के बिना शुद्ध आत्म-द्रव्य का, गुण-पर्याय का चिन्तन नहीं आ सकता । जन्म से ही बकरों के समूह में रहा हुआ शेर, अन्य शेर को देखे बिना या उसके चित्र को देखे बिना अपना सिंहत्व कैसे जान सकता है ?

कितनेक व्यक्ति अपना शुद्ध आत्म-द्रव्य 'करण' (दूसरे के उपदेश) से जानते हैं । कितनेक 'भवन' से (सहज ही) जानते हैं । यद्यपि 'भवन' में भी पूर्व भव में उपदेश कारण तो है ही ।

* आप अन्तर में मात्र आराधकभाव उत्पन्न करो । उसके बाद का उत्तरदायित्व भगवान का । आप मात्र सार्थ में जुड़ जायें, पूर्णतः समर्पित हो जाओ । फिर मुक्तिपुरी में ले जाने का उत्तरदायित्व सार्थवाहरूप भगवान का है ।

* जगत् में व्याधि है तो उसे नष्ट करने वाली औषधि भी है । राग-द्वेष आदि व्याधि हैं तो उन्हें नष्ट करने के उपाय धर्मानुष्ठान भी हैं ।

ऊंट वैद्य के पास नहीं, परन्तु निपुण वैद्य के पास हम उपचार करते हैं। यहां देव-गुरु भी भव-रोग नष्ट करने वाले निपुण वैद्य हैं।

डाक्टर या वैद्य पूछता है - शरीर कैसे है ? आप स्वस्थ हों तो उत्तर देते हैं - बहुत अच्छा है।

अब मैं आपको पूछता हूं - आपकी आत्मा को कैसे है ? कोई अन्तरंग रोग तो सताता नहीं है न ?

प्राणघातक अन्तरंग रोग का उपचार करने वाले भगवान जगत् के धन्वन्तरी वैद्य हैं। चिन्ता का कोई कारण नहीं है।

आगमों के अध्ययन से गुरु भी उपचार जानते हैं। शरीर का उपचार करने के लिए तुरन्त दौड़ने वाले हम आत्मा का उपचार करने के लिए सर्वथा उदासीन रहें, यह कैसा है ?

* “ज्ञान विना पशु सारिखा, जाणो इण संसार;

ज्ञान आराधनथी लहो, शिवपद सुख श्रीकार।”

ज्ञान पंचमी के चैत्यवन्दन में जब आप यह बोलते हैं तब स्वयं में आपको ज्ञान की दरिद्रता प्रतीत होती है ? ज्ञान-दरिद्रता के कारण आप स्वयं पशु के समान लगते हैं ? यदि ज्ञान में कभी (अपरिपक्वता) होगी तो चारित्र में भी कभी (अपरिपक्वता) आयेगी ही।

मोहराजा की जाल में से मुक्त होने का यह अवसर यदि चूक गये तो पुनः यह अवसर कहां मिलेगा ?

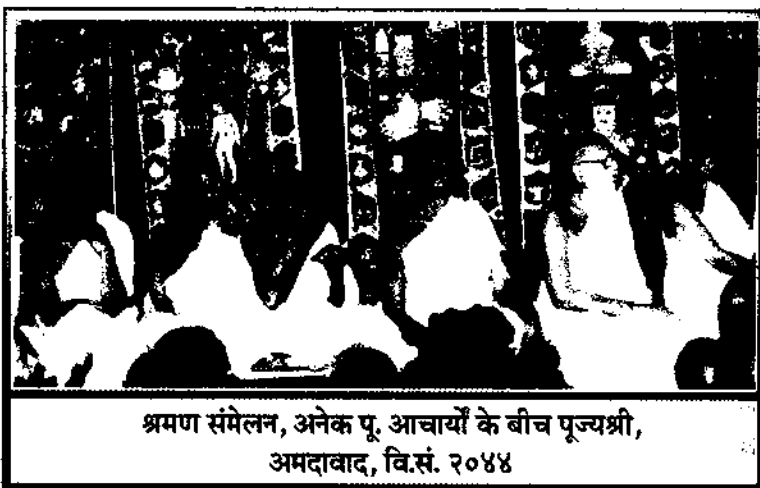
ऊंट वैद्य ठीक चिकित्सा नहीं कर सकता, उसी प्रकार से अगीतार्थ, अज्ञानी आत्मा चारित्र-शुद्धि नहीं कर सकता। चारित्र महान् है, मुक्ति प्राप्त करने वाला है। सम्यग् दर्शन महान् है मुक्ति प्रदान करने वाला है। यह सही है परन्तु उसे लाने वाला ज्ञान है, यह कैसे भूला जा सकता है ?

हम ज्ञानमय होते हुए भी आज जड़मय बन गये हैं। इस भ्रान्ति को नष्ट करने वाला ज्ञान है, ज्ञानदाता गुरु है।

“अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानांजन शलाकया।

नेत्रमुन्मीलितं येन, तस्मै श्री गुरुवे-नमः॥”

सोया हुआ व्यक्ति अपने आप उठ नहीं सकता। उसे कोई जगाने वाला चाहिये। गुरु जगानेवाले हैं।



श्रमण संमेलन, अनेक पू. आचार्यों के बीच पूज्यश्री,
अमदावाद, वि.सं. २०४४

२२-४-२०००, शनिवार
वै. कृष्णा-प्रथम-४ : पालीताणा

भगवान के मार्ग पर चलने के लिए जीवन में तीन बातें लानी आवश्यक हैं - श्रद्धा, जानकारी एवं उद्यम । इन्हें ही हम जैन परिभाषा में रत्नत्रयी कहते हैं । रत्नत्रयी ही मोक्ष-मार्ग है ।

भगवान या भगवान का मार्ग अभी तक हमें प्राप्त नहीं हुआ । इसका कारण मुख्यतः श्रद्धा का अभाव है । प्रभु में प्रभुता नहीं दिखाई दी । मार्ग में मार्ग नहीं दिखाई दिया । मोक्ष कैसे मिले ?

ज्ञान आदि हमारे भाव-प्राण हैं । यदि इनकी उपेक्षा करें तो कैसे चलेगा ? भाव-प्राण के कारण ही द्रव्यप्राण प्राप्त हुए हैं । भाव-प्राण रूपी आत्मा चली जाये तो क्या द्रव्य-प्राण का कोई मूल्य रहेगा ?

प्रभु में प्रभुता दृष्टिगोचर न हो, श्रद्धा नहीं जमे, तब तक मोक्ष-मार्ग कदापि खुलने वाला नहीं है । 'तमेव सत्त्वं नीसकं जं जिणेहिं पवेइअं ।' इतना बोलने मात्र से श्रद्धा नहीं आती । श्रद्धा कदापि शाब्दिक नहीं होती, आन्तरिक होती है । श्रद्धा का जन्म हृदय की भूमि पर होता है । श्रद्धा के द्वारा हम प्रभु में विद्यमान प्रभुता जान सकते हैं, तारकता जान सकते हैं । प्रभु में प्रभुता दृष्टिगोचर होना ही सम्यग्दर्शन है ।

* हरिभद्रसूरिजी योगदृष्टि समुच्चय में कहते हैं - हम वास्तविक रूप में जीव कब कहलाते हैं ? जब हम ज्ञान आदि गुणों को जान लें तब ।

मित्रादृष्टि में जीव आने पर ही प्रथम गुणस्थान यथार्थ गिना जाता है । इससे पूर्व का गुणस्थान केवल नाम का होता है । उस प्रकार जीव कब कहलायेंगे ? जब भीतर के गुण जान लें तब । इससे पूर्व तो नाम के जीव । बाकी जड़ के भाई ।

* यह ग्रन्थ जोर देकर कहता है कि कृपा करके आप गुरु बनने का प्रयत्न मत करना, शिष्य बनने का ही प्रयत्न करना । ऐसा करोगे तो ही विनय आयेगा । विनय आयेगा तो बाकी सब स्वतः ही आ जायेगा । विनय ही पात्रता प्रदान करता है ।

* इस ग्रन्थ में 'विनय-निग्रह' शब्द का प्रयोग हुआ है । विनय-निग्रह अर्थात् विनय पर नियन्त्रण । जिस तरह घुड़सवार का घोड़े पर नियन्त्रण होता है, उस प्रकार अपना विनय पर नियन्त्रण होना चाहिये । यही 'विनय-निग्रह' कहलाता है । जिस प्रकार कुशल घुड़सवार के पास से घोड़ा नहीं छूटता, उस प्रकार विनय का निग्रह करने वाले के पास से विनय नहीं छूटना चाहिये ।

जिस प्रकार ४५ आगम, आगम कहलाते हैं, उस प्रकार उन पर की गई टीका-चूर्ण आदि भी आगम ही हैं । टीका-चूर्ण तो आगम के अंग हैं । अंगों को छोड़ कर आप पुरुष को कैसे मान सकते हैं ?

पू. आनन्दघनजी का कथन है -

'चूर्ण, भाष्य, सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति-परंपरा अनुभव रे;

समय-पुरुष ना अंग कहा ए, जे छेदे ते दुर्भल रे...'

जो लोग (स्थानकवासी) टीका आदि को नहीं मानते, उनके लिए ऐसा लिखा है ।

आगे बढ़कर कहूँ तो हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ भी आगम कहलाते हैं । क्योंकि वे आगम-पुरुष थे । उन्होंने ने आगमों को जीवन में पचाया था, आत्मसात् किया था । उपा. यशोविजयजी म. का कथन है कि हरिभद्रसूरिजी के योग-ग्रन्थों के बिना आप आगमों के रहस्य नहीं जान सकते ।

* विनय-निग्रह अर्थात् विनय-गुण ऐसा आत्मसात् हो चुका हो कि नींद में भी विनय जाये नहीं । ऐसा विनीत शिष्य गुरु की आज्ञा का पालन करके सांप को भी पकड़ने के लिए जाये, गुरु-आज्ञा से सचित्त भी वहोर लाये और गुरु यदि दिन को रात कहे तो भी वह 'तहत्ति' कहे ।

विशेषतः छेद ग्रन्थ पढ़ाने से पूर्व गुरु यह जानने के लिए ऐसी परीक्षा करते हैं कि शिष्य परिणत, अपरिणत या अतिपरिणत है ?

* पांच प्रतिक्रमण (आवश्यक सूत्र) पूर्ण रूपेण अर्थ सहित आते हैं ? अच्छी तरह कितनों को आते होंगे ?

प्रकाश-विहीन दीपक कार्यकारी नहीं बन सकता, उस प्रकार अर्थ के बिना सूत्र कार्यकारी नहीं बन सकते । अतः उस ओर दुर्लक्ष रखें वह उचित नहीं है ।

* श्रद्धा (सम्यग्दर्शन), जानकारी (ज्ञान) अथवा उद्यम (चारित्र) में जितना कम प्रयत्न हो उतनी अपनी मोक्ष की इच्छा कम है, यह मानें । उपाय में प्रयत्न कम उस प्रकार उपेय की इच्छा कम ही माननी रही । धीरे चलने का अर्थ ही यह है कि मंजिल पर पहुंचने की शीघ्रता नहीं है ।

* अपने पू. उपा. यशोविजयजी म. का कथन है -

“जिहां लगे आतम द्रव्यनुं, लक्षण नवि जाण्युं;

तिहां लगे गुणठाणुं भलुं, किम आवे ताण्युं...?”

नरसैया कहते हैं -

“जिहां लगे आतमातत्त्व चिन्यो नहीं;

तिहां लगे साधना सर्व जूठी ।”

इस आत्मा को कब जानेंगे ? हम इसमें कब रमण करेंगे ? रत्नत्रयी आत्मा में जाने के लिए ही है ।

* कोई गृहस्थ कमाई करके लाया हुआ धन कैसे ही नहीं रख देता, खो जाये कैसे नहीं रखता । क्या हम ज्ञान रूपी धन उस प्रकार संभालते हैं ? कि यह सब भूल गये ? आज कितना कण्ठस्थ है ? हम करने के समय याद कर लेते हैं, बाद में एक ओर रख देते हैं ।

संस्कृत का अध्ययन करने वालों को पूछो - स्वाध्याय अब तक पर तो नहीं रख दिया न ?

यदि अध्ययन किया हुआ याद हो तो अभिमान न करें । ज्ञान अभिमान करने के लिए नहीं है, अभिमान नष्ट करने के लिए है । यदि अभिमान करने गये तो जो है वह भी चला जायेगा । जिस किसी वस्तु का अभिमान हुआ, तो वह वस्तु हमारे पास से चली जायेगी । प्रकृति का यह सनातन नियम है ।

* मद्रास (चैन्नई) में तो ऐसी स्थिति आ गई थी कि लगभग अन्त समय निकट आ गया ! मुहपत्ति के बोल भी भूल गया । उस समय ऐसी आशा कैसे रखी जा सकें कि बच जाऊंगा और गुजरात में आकर इस प्रकार वाचना भी दूंगा । परन्तु उस समय भगवान ने मुझे बचाया । दूसरा कोई क्या कर सकता है ? भगवान के बिना किसका सहारा ? माता-पिता आदि सब भगवान ही हैं, यह मानें । इसीलिए सिद्धसेन दिवाकर सूरिजी भगवान के साथ माता-पिता आदि का सम्बन्ध जोड़ने का कहते हैं । उस समय मेरा ही लिखा हुआ (ज्ञानसार आदि) मुझे ही काम लगता ।

* स्वदर्शन में निष्णात बन कर श्रद्धालु बनने के बाद ही पर-दर्शन में निष्णात बनने का प्रयत्न करना या दूसरा पढ़ना । उसके बिना टेढ़ा-मेढ़ा पढ़ने गये तो मूल मार्ग से भ्रष्ट हो जाओगे ।

* हमारा मोक्ष रुका हुआ है, परन्तु भरतक्षेत्र में से मोक्ष रुका हुआ है, यह न मानें । महाविदेह में से अपहृत किसी मुनि का यहां से अब भी मोक्ष हो सकता है, ऐसा सिद्धप्राभृत में उल्लेख है ।

मोक्ष के लिए मनुष्य-लोक चाहिये । मनुष्य-लोक से बाहर मोक्ष में नहीं जा सकते ।

* तप, क्रिया आदि की शक्ति होते हुए भी उसे छिपाना अर्थात् अपने ही हाथों अपनी मोक्ष गति धीमी करनी ।

* कई वस्तु बार-बार आती रहें तो थकना नहीं, वे भावित बनाने के लिए आती हैं, यह मानें । 'नवकार' कितनी बार गिनना चाहिये ? 'करेमि भंते' कितनी बार बोलना चाहिये ? कम से कम नौ बार । ये सूत्र भावित बनाने हैं ।

* पांचो प्रकार का स्वाध्याय एक प्रकार का तप है । स्वाध्याय तो ऐसा तप है जिसकी तुलना कोई अन्य तप कर नहीं सका और न कर सकेगा ।

* स्वाध्याय का चौथा प्रकार 'अनुप्रेक्षा' है । अनुप्रेक्षा अर्थात् कवि की उत्प्रेक्षा नहीं । जो पढ़ें हैं उसकी ही प्रेक्षा करनी है । इस प्रकार की अनुप्रेक्षा सभी कर सकते हैं । उसके लिए महान प्रतिभाशाली बनना आवश्यक नहीं है ।

* आज आप में बुद्धि अधिक हो तो मानना कि पूर्वजन्म में ज्ञान की साधना जोरदार की है । अब उस बुद्धि का कहां उपयोग करें ?

यहां तो कहते हैं कि बुद्धि अधिक हो या अल्प, परन्तु ज्ञान का प्रयत्न चालु ही रखें । (गाथा १०)

ज्ञान ही ऐसी सम्पत्ति है, जिसे हम परलोक में भी साथ ले जा सकते हैं । हमारी उपधि, देह आदि सब यहीं रहने वाले हैं, यह तो पता है न ?

* पास के कमरे में कोई बीमार हो तो भी हम नहीं जाते, परन्तु अपने भगवान कैसे हैं ? चंडकौशिक के वहां बिना बुलाये गये । भगवान को चंडकौशिक भयंकर रूप से बीमार प्रतीत हुआ । इसीलिए सहज परोपकारी स्वभाव के कारण भगवान वहां गये । भगवान चंडकौशिक के कोई सम्बन्धी नहीं थे, ऐसा भी नहीं सुना कि उनका पूर्वभव का कोई सम्बन्ध हो । फिर भी भगवान गये । अन्य कोई सम्बन्ध हो या न हो, जीवत्व का सम्बन्ध तो है न ?

* एक बार आप चुनाव में चुने जाकर उच्च पद पर पहुंच जाओ, परन्तु वहां जाकर ऐश-आराम ही करो; जनता का कोई कार्य न करो तो जनता क्या आपको पुनः चुन कर भेजेगी ?

पांचवे परमेष्ठी के उच्च पद पर हम सब पहुंचे हुए हैं । अब यदि यहां कार्य न करें तो क्या यह सब पुनः मिलेगा ? जिस वस्तु का हम सदुपयोग न करें, प्रकृति पुनः हमको वह वस्तु नहीं देती । प्रकृति का यह नियम अच्छी तरह समझ लेना ।

* हमारे भीतर बुद्धि कदाचित् अल्प हो तो भी प्रयत्न तो नहीं छोड़ना चाहिये । बुद्धि हमारे हाथ में नहीं है, परन्तु प्रयत्न

तो हाथ में है । प्रयत्न करते रहें । अपने आप ज्ञान बढ़ेगा । कदाचित् न बढ़े तो भी क्या ? आपका प्रयत्न तो निरर्थक नहीं है । इस ग्रन्थकार का कथन है कि कदाचित् आप पूरे दिन में एक गाथा, अरे आधी गाथा भी कर सकते हो तो भी प्रयत्न करना बंध मत करना ।

* आप ज्ञान में पुरुषार्थ करते है, स्वाध्याय करते रहते हो, तब प्रति पल ढेर सारे कर्मों का क्षय करते रहते हो, यह न भूलें । (गाथा ९१)

बहु कोडी वरसे खपे, कर्म अज्ञाने जेह;

ज्ञानी श्वासोच्छ्वासमां, करे कर्मनो छेह..

ज्ञान की यह महिमा जानने के बाद आप ज्ञानी बनना चाहेंगे या अज्ञानी ? आप पसन्द कर लें ।

ॐ ॐ ॐ

कार्य-सिद्धि हेतु सात सोपान

१. क्या चाहिये ? कैसा बनना है ? स्पष्ट करें ।
२. ध्येय को बार-बार न बदलो ।
३. संकल्प को श्रद्धा के जल से सिंचन करते रहें, परमात्मा पर परम श्रद्धा रखें ।
४. तदनुसार मानस चित्र खड़ा करें ।
५. मानस चित्र में मन स्थिर करें ।
६. मानस चित्र में जो आप चाहते हैं, वह वर्तमान काल में बन रहा है उस प्रकार देखें ।
७. वैसा ही बना है, उस प्रकार जीवन जिए ।



भक्ति में लीनता

२३-४-२०००, रविवार
वै. कृष्णा-द्वितीय-४ : पालीताणा

* ४५ आगमों में से इस समय हम 'चंदाविज्जय पयत्रा' का स्वाध्याय कर रहे हैं ।

मुक्ति का मार्ग रत्नत्रयी में है । उसे प्राप्त करने के लिए देव-गुरु-एवं धर्म है । इसे तत्त्वत्रयी कहते हैं ।

रत्नत्रयी प्राप्त करने के लिए तत्त्वत्रयी चाहिये ।

दोनों त्रयी में उपादान एवं निमित्त दोनों कारण विद्यमान हैं ।

तत्त्वत्रयी (देव-गुरु-धर्म) में निमित्त एवं रत्नत्रयी (ज्ञानादि गुण प्रत्येक में प्रच्छन्न रूप में हैं ही) में उपादान कारण विद्यमान है ।

अपनी रत्नत्रयी का पुष्ट कारण तत्त्वत्रयी है । अपनी दृढ़ श्रद्धा ऐसी होनी चाहिये ।

* देव-गुरु की भक्ति के बिना जीवन में सच्चा ज्ञान आता ही नहीं है । इसी लिए भक्ति के बिना आया हुआ ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है, अज्ञान कहलाता है ।

* सर्व प्रथम हमें नवकार मिला । इस नवकार में तत्त्वत्रयी और रत्नत्रयी दोनों हैं । दोनों त्रयी का विनय भी नवकार में है ।

* अनुप्रेक्षा में अर्थ का चिन्तन करना है । अर्थात् उसमें

उपयोग मिलाना है । उपयोग-रहित कोई भी क्रिया द्रव्य क्रिया ही रहती है ।

क्रिया का फल दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि भाव-क्रिया का अभाव है । भाव-क्रिया उपयोग के बिना मिलती नहीं है । यह मुख्य उपयोग ही हमारा अनुपस्थित रहता है ।

कालिक, उत्कालिक आदि समस्त सूत्रों में आवश्यक सूत्र मुख्य हैं । उस पर अनुशीलन करें तो ?

सभी सूत्रों का अनुशीलन करना है ।

पक्खी सूत्र में क्या लिखा है ?

आगमों के नामोल्लेख के साथ हम बोलते हैं - (अंतोपक्खस्स) १५ दिनों के भीतर (जं न पढिअं, न परिअट्ठिअं, न पुच्छिअं)

पाठ, पुनरावर्तन, पृच्छ, अनुप्रेक्षा, अनुपालन इन समस्त सूत्रों का करना है । हम करते हैं क्या ?

* पं. वज्रसेनविजयजी नित्य पाठ लेने आते हैं । उनके बालमुनि जिनभद्रविजयजी ने आज पूछ, “नाम लेते ही भगवान सामने कैसे आ सकते हैं ?”

मैंने कहा, ‘अमृती (मिठाई का नाम है) का नाम लेते ही वह आपके समक्ष चित्र रूप में आ जाती है न ?

उसी प्रकार से भक्त भी भगवान के नाम लेते ही भगवान को सामने ही देखता है ।

* मन-वचन-काया को ऐसा शिक्षण दो, ऐसी टेव डलवाओ कि वह भगवन्मय बन जाये । जैसी टेव डलवायें वैसी पड़ेगी । जब बुरी टेव पड़ सकती हो तो अच्छी टेव क्यों न पड़े ?

मन-वचन-काया आखिर नौकर हैं । हम सेठ हैं । हम जैसा चाहे वैसा प्रशिक्षण उन्हें दे सकते हैं, परन्तु हम अपना स्वामित्व भूल गये हैं । इसीलिए हमने दिवाला निकाला है । जहां नौकर सेठ बन जाये वहां दिवाला ही निकलेगा न ?

मन-वचन-काया के योग भगवान के अधीन रखते हैं या मोह के अधीन रखते हैं ?

यह वेष लिया है वह मोह के चंगुल में से छूटने के लिए

और प्रभुमय बनने के लिए लिया है, यह तो ध्यान है न ?

* बुद्धि के बल पर संसारी मनुष्य लाखों रुपये कमा सकते हैं। बुद्धिविहीन मजदूर तनतोड़ परिश्रम करने पर भी कमा नहीं सकते।

बुद्धि का अन्तर है न ?

यहां भी ज्ञान अधिक, उस प्रकार कर्म की निर्जरा रूप कमाई अधिक। ज्ञान अल्प तो निर्जरा भी अल्प !

* बीज-बुद्धि के निधान, त्रिपदी मात्र से द्वादशांगी बनाने वाले गणधरों को नित्य स्वाध्याय, पुनरावृत्ति इत्यादि करने की आवश्यकता क्या ?

उन्हें भी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता होती है तो हमें क्यों नहीं ? पुनरावृत्ति में से अनुप्रेक्षा के लिए पूर्व भूमिका तैयार होती है। अनुप्रेक्षा से अखूट आगमों के अर्थ व्यक्त होते हैं।

अध्ययन के पर्यायवाची शब्दों में एक अद्भुत शब्द है - अखीण, जो समाप्त न हो वह अखीण, अक्षीण।

अनुप्रेक्षा से इतने अर्थ व्यक्त होते हैं कि कदापि समाप्त न हों, कहीं भी समाये नहीं।

ऐसी अनुप्रेक्षा आदि से परिकर्मितता आने के बाद ही केवलज्ञान तक पहुंच सकते हैं।

ज्ञान सूक्ष्म बने तो ही ग्रन्थि-भेद संभव बनता है। कोई भी 'करण' समाधि ही है। करण से ग्रन्थि-भेद होता है। आगे-आगे के करण आगे-आगे की समाधि देते जाते हैं। ज्ञान अधिकाधिक और सूक्ष्म होता जाता है।

* इतना सारा स्वाध्याय कब करें ? उम्र बड़ी हो गई, उनके लिए उपाय बताते हैं - (दूसरे को यह इच्छित नहीं पकड़ना)

किसी एकाध पद से भी यदि आपका संवेग बढ़ता हो, भीतर चोट लगती हो, तो वह पद ही आपका सच्चा ज्ञान है। उस पद को अच्छी तरह पकड़ रखो। (गाथा ९३)

एक पद भी उसके लिए द्वादशांगी का सार बन जाता है।

चिलातीपुत्र के लिए उपशम, विवेक, संवर ये तीन ही शब्द, माषतुष मुनि के लिए केवल दो ही वाक्य, आत्म-कल्याण के कारण बने थे।

याद हो गया, क्योंकि आपने थप्पड़ मारी फिर भी मुझे क्रोध नहीं आया ।”

पाठ इस प्रकार पक्का करना है, अक्षरों से नहीं, आचरण से पक्का करना है ।

द्रोणाचार्य को तो एक युधिष्ठिर मिला । यहां कोई ‘युधिष्ठिर’ मिलेगा ?

प्रदर्शक ज्ञान से हम चकाचौध हो चुके हैं । प्रदर्शन नहीं, अपना ज्ञान प्रवर्तक होना चाहिये ।

* ज्ञान प्रकाशरूप है । ज्ञान का महत्त्व अभी तक हमने समझा नहीं । हम क्रिया में जितना समय देते हैं, उतना ज्ञान के लिए नहीं देते ।

केवल इतना ही याद रखें ।

मेरी आत्मा नित्य है, अन्य सब अनित्य है ।

“यः पश्येन्नित्यमात्मानमनित्यं परसंगमम् ।

छलं लब्धुं न शक्नोति, तस्य मोहमलिप्तुचः ॥”

ऐसा ज्ञान दृढ़ बन जाये तो शरीर में कोई रोग आये या कोई वस्तु खो जाये या किसी की मृत्यु हो जाये, तो भी हम स्वभाव से चलित नहीं बन सकते ।

मेरी चेतना मेरे साथ है ।

मेरी नित्य आत्मा मेरे साथ है ।

इतना सतत याद रहे तो कोई भी प्रसंग हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? क्या महाबल-मलया का जीवन पढ़ा है ? उनके जीवन में कितने-कितने कष्ट आये ? फिर भी केवल एक श्लोक के बल से उन्होंने ने किसी भी प्रसंग में हिम्मत नहीं हारी ।

मरणांत कष्ट के समय आपको द्वादशांगी काम में नहीं आयेगी, बड़े श्रुतधरों को भी काम में नहीं आती । उस समय तो भावित बना हुआ एक पद ही काम आता है ।

परन्तु आप उल्टा मत करना । यह तो मृत्यु के समय की बात है न ? तब देख लेंगे । एक पद को याद कर लेंगे, लेकिन जीते जी कुछ भी भावित नहीं किया तो अन्त में क्या याद आयेगा ?

संथार पोरसी क्या है ? अन्तिम समय की आराधना का



चिन्तन में मग्नता

२४-४-२०००, सोमवार
चैत्र कृष्णा-५ : पालीताणा

जो तत्त्व भगवान के पास से गणधरों को प्राप्त हुए, वे हमें भी उपयोगी हैं। उसके लिए उन्होंने सूत्रों के रूप में रचना की।

प्रत्येक सूत्र-रत्न का डिब्बा, रत्नों की मंजूषा (पेटी) मानी जाती है। अतः द्वादशांगी गणिपिटक कहलाती है। गणिपिटक अर्थात् गणि की पेटी। गणि अर्थात् गणधर ! आचार्य !

रत्न तो ठीक, चिन्तामणि रत्न से भी ये सूत्र अधिक मूल्यवान हैं, जो इस भव को ही नहीं, परलोक को भी सुधार देते हैं। क्या चिन्तामणि रत्न ऐसा कर सकता है ?

* जहां तक नया अध्ययन करने की शक्ति हो, तब तक उसका उपयोग करोगे तो ज्ञान-शक्ति बढ़ेगी। यदि उपयोग नहीं करोगे तो बिना प्रयत्न ही अज्ञान-शक्ति बढ़ती ही जायेगी।

क्षमा-शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करोगे तो क्रोध-शक्ति बिना प्रयत्न ही बढ़ती ही रहेगी।

आन्तरिक गुणों के लिए प्रामाणिक प्रयत्न करते रहेंगे तो शान्ति, समाधि आदि मूल्यवान वस्तु मिलती रहेंगी।

* चारित्र का पालन करना अर्थात् क्षमा आदि दस यति

धर्मों आदि का पालन करना, पांच महाव्रत, अष्ट प्रवचन माताओं का पालन करना । इसके फलस्वरूप आत्म-रमणता रूप समाधि मिलेगी ।

समाधि तक जाने के लिए उत्कट आत्म-शक्ति आवश्यक है । हमारी आत्म-शक्ति दबी हुई है । चारित्र का पालन करने से आत्म-शक्ति प्रकट होती है ।

समाधि में लीन योगी कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिजी की तरह बोल उठता है - 'मोक्षोऽस्तु माऽस्तु ।' मोक्ष हो या न हो, उपा. यशोविजयजी की तरह बोल उठते हैं -

'मुक्तिथी अधिक तुझ भक्ति मुझ मन वसी ।'

* कर्म-साहित्य आदि का अध्ययन इसीलिए ही करना है ।

कर्म कैसे बंधते हैं ? उनसे कैसे छूटा जा सकता है ? वह सब जाने तो उसे दूर करने के लिए प्रयत्नशील बना जाये न ?

केवल कर्म-प्रकृतियों को गिनने के लिए कर्म-ग्रन्थों का अध्ययन नहीं कराया, परन्तु कर्मों का आक्रमण रोकने के लिए (संवर करने के लिए) एवं कर्मों पर आक्रमण करके उनकी निर्जरा करने के लिए कर्म-ग्रन्थों का अध्ययन कराया है ।

निर्जरा तप से होती है । तप के बारह भेदों में सर्वाधिक शक्तिशाली स्वाध्याय बताया गया है । हमें कायोत्सर्ग-ध्यान शक्तिशाली प्रतीत होता है, परन्तु उसे भी शक्तिशाली बनाने वाला स्वाध्याय ही है ।

शेष विनय, वेयावच्च उसके साधन हैं । आप इस भ्रम में न रहें कि बड़ों की विनय-वेयावच्च आदि स्वाध्याय के बिना आ जायेंगे ।

आप इस भ्रम में भी न रहें की बाह्य तप न हो तो विनय, वेयावच्च आदि अभ्यंतर तप आ जायेंगे । एकासणे में जितना समय मिलता है उतना समय क्या नौकास्सी में मिलता है ? आप ही सोचें । खाने-पीने में, लाने में और लूणा साफ करने में ही दिन व्यतीत हो जायेगा । फिर अध्ययन कब करेंगे ? बाह्य तप के बिना अभ्यंतर तप आयेगा ही नहीं । यह अनुभव की वस्तु है ।

अट्टम, उपवास आदि करके देखें । साधना में आनन्द बढ़ता हुआ प्रतीत होगा ।

आदीश्वर दादा की यात्रा खा-पीकर करोगे कि खाली पेट करोगे ? एक बार खा-पीकर यात्रा करो तो पता लग जायेगा ।

जिस दिन खाना-पीना नहीं हो उस दिन स्वाभाविक रीति से ही आत्म-शक्ति बढ़ जाती है ।

इसीलिए उपवास घर का घर,

आर्यबिल मित्र का घर,

किगई शत्रु का घर गिना गया है ।

* सेना के जवानों को प्रशिक्षण दिया जाता है कि शत्रु पर आक्रमण कैसे किया जाये ? किस प्रकार आक्रमण नाकाम किया जाये ? उस प्रकार यहां भी बाह्य-अभ्यंतर तप के द्वारा कर्मों से संघर्ष करने का प्रशिक्षण दिया जाता है ।

यदि शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष में जाना हो तो यह प्रशिक्षण लेना ही पड़ेगा ।

यदि संभव हो तो तीन भवों में ही मोक्ष जायें ।

मध्यम प्रकार से पांच भवों में मोक्ष जायें ।

यह भी संभव न हो तो आठ भवों में मोक्ष जायें ।

परन्तु आठ से अधिक भव मत करना । बहुत हो गया । संसार में अत्यन्त परिभ्रमण किया । शास्त्रकार यहां फरमाते हैं कि इस प्रकार आराधना करने वाला तीन भवों में ही मोक्ष जायेगा । (गाथा ९८)

ज्ञान की बात पूर्ण हुई । अब शास्त्रकार चारित्र की बात कहते हैं -

चारित्र की आराधना सुख-पूर्वक कर सकें इसीलिए श्री संघ हमें इतनी सुविधा कर देता है । इतने बड़े होल आदि में रहने का किराया कितना होता है ? पूछ लें ।

चारित्र गुण प्राप्त करना हो तो सर्व प्रथम हृदयपूर्वक चारित्र गुण की प्रशंसा होनी चाहिये ।

धन्य है चारित्र ! धन्य है चारित्र का पालन करने वाले ! इस प्रकार हृदय में शुभ भावों की लहरे उठनी चाहिये ।

यदि आप धर्म की ओर एक कदम आगे बढ़ें तो भगवान भी आपको धन्यवाद देते हैं ।

* यहां दादा वैसे ही दर्शन नहीं देते । वे पूरी परीक्षा करके दर्शन देते हैं । एक घंटा जाने में और एक घंटा आने में लगता है । इतना श्रम करने के बाद में भगवान के दर्शन मिलते हैं । वहां हृदय कैसा नृत्य करता है ? भगवान की शान्त रसमय मूर्ति निहार कर हृदय नाच उठता है न ?

भगवान के समक्ष दिल खोलना । अत्यन्त सरल बन कर अन्तर की बातें करना ।

भगवान बोलने के लिए तत्पर होते हैं, बोल रहे होते हैं, परन्तु हम भगवान की भाषा समझते नहीं हैं । मुझे तो अनेक बार अनुभव होता है । भक्ति जब परम पराकाष्ठा पर पहुंचती है तब भगवान के मौलिक दर्शन होते हैं । भगवान मिलना चाहते हों, हमसे आलिंगन करना चाहते हों वैसे प्रतीत होता है, परन्तु इसके लिए आपके पास भक्त का हृदय होना चाहिये । यहां तार्किक हृदय का काम नहीं है ।

आप रोज दादा के पास जाते हैं, रोज कुछ तो मांगते ही जाना । “प्रभु ! मुझे क्रोध सताता है, माया सताती है ।” आदि प्रार्थना करें । उक्त प्रार्थना में जितने अधिक आंसू आयेंगे, उतनी अधिक कर्म-निर्जरा होगी ।

* जितनी संसार में अपनी निंदा-टीका होगी, उतने अधिक कर्म-क्षय होंगे ।

* “स्व-प्रशंसा सुनकर अप्रसन्नता हो, स्व-निन्दा सुनकर प्रसन्नता हो ।” ऐसी मनः स्थिति हो तब समझें कि अब साधना जमी है । इस प्रकार मुनिसुन्दरसूरिजी ने अध्यात्म कल्पद्रुम में कहा है ।

* प्राण-घातक उपसर्ग करनेवाले के प्रति भी क्षमा प्रदान करने वाले पूर्व ऋषि याद आयें तो अपराधी के प्रति भी कदापि क्रोध नहीं आयेगा ।

* बाहर का युद्ध तो कभी ही होता है । यह युद्ध न हो इसमें ही हमारी भलाई है, परन्तु अपना अन्तरंग युद्ध चालू है ।

क्रोध, मान, माया आदि के संस्कारों के विरुद्ध हमें सतत युद्ध करते रहना है और विजयी बनते रहना है । हारकर बैठना नहीं है ।

* सिद्धाचल पर पू. आत्मारामजी म. स्व-निन्दा करते हुए कहते हैं -

“अब तो पार भये हम साधो श्री सिद्धाचल दर्श करी;
ज्ञानहीन गुण-रहित विरोधी, लम्पट धीठ कषायी खरो;
तुम बिन तारक कोई न दीसे, ज्यों जगदीश्वर सिद्ध-गिरो ।”
कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी कहते हैं -

“त्वन्मतामृतपानोत्था, इतः शमरसोर्मयः ।
पराणयन्ति मां नाथ, परमानन्द सम्पदाम् ॥”
“इतश्चानादि-संस्कार-मूर्च्छितो मूर्च्छयत्यलम्;
रागोऽगविषावेगो, हताशः कर्वाणि किम् ?”

हे प्रभु ! एक ओर तेरा शासन मुझे उपर खींच रहा है तो दूसरी ओर अनादि के राग आदि के संस्कार मुझे नीचे खींच रहे हैं । प्रभु ! मैं क्या करूं ?

क्षणं सक्तः क्षणं मुक्तः क्षणं क्रुद्धः क्षणं क्षमी ।

मोहाद्यैः क्रीडयैवाहं ! कारितः कपिचापलम् ॥

कभी आसक्त, कभी अनासक्त, कभी क्रुद्ध, कभी शान्त मेरे मन की स्थिति मुझे ही समझ में नहीं आती । आप के समान नाथ मिले, फिर भी मेरी यह दशा ? अमुक तो ऐसे अधम पाप किये हैं कि कहने में जीभ नहीं चलती ।

ऐसे महान् ज्ञानी आचार्य भी ऐसा क्यों कहते होंगे ? यह भी आराधना का एक प्रकार है ।

कर्म बन्धन करने की योग्यता सहजमल ।

कर्म तोड़ने की योग्यता तथाभव्यता ।

तथाभव्यता को परिपक्व करने के तीन उपायों में (शरणागति, दुष्कृतगर्हा और सुकृत-अनुमोदना) दुष्कृत गर्हा भी एक उपाय है । आप तथाभव्यता को परिपक्व (दुष्कृत गर्हादि) करने का प्रयत्न करो तो आपका मोक्ष रोकने की किसी में शक्ति नहीं है ।

‘इरियावहियं’ क्या है ? स्व-दुष्कृत की गर्हा है । “हे जीव

माता-पिता ! आपकी कोई विराधना की हो तो मुझे क्षमा करें ।”
‘इरियावहियं’ में ऐसा भाव है ।

अपने अनुष्ठानों में कदम-कदम पर ये तीन (शरणागति, दुष्कृत-गर्हा, सुकृत-अनुमोदना) पदार्थ बुने हुए ही हैं ।

अन्यत्र कहीं भी हम अपनी गुप्त पापमय बातें नहीं कर सकते । कदाचित् गुरु के समक्ष भी नहीं कर सकते, परन्तु भगवान के समक्ष तो कर सकते हैं न ? भगवान के समक्ष दुष्कृत-गर्हा अवश्य करें ।

यहां शास्त्रकार सर्व प्रथम चारित्र-पालक की अनुमोदना करने का कहते हैं - जो माता-पिता आदि सभी सम्बन्ध छोड़कर जिनोपदिष्ट धर्म का पालन करते हैं वे धन्य है ।

चारित्र के योग ही ऐसे हैं कि यहां केवल कमाई ही कमाई है । वणिक् कदापि हानि का धन्धा नहीं करता ।

जिस दिन प्रसन्नता बढ़ती है । वह दिन कमाई का समझें, अप्रसन्नता संक्लेश बढ़ें वह हानि का दिन समझें ।

* गुण समृद्ध चारित्रवान् आत्मा मरणान्त कष्ट में भी उद्विग्न नहीं होता, वह सामान्य रोग में क्या उद्विग्न होगा ?

चाहें या न चाहें, मांगें या न मांगें, परन्तु मृत्यु कोई रुकनेवाली नहीं है । एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो मरा नहीं है । मृत्यु सुनिश्चित है, परन्तु वह मृत्यु इस प्रकार हो, समाधि पूर्वक और आराधना पूर्वक हो कि मृत्यु भी महोत्सव रूप बन जाये । मृत्यु की मृत्यु हो जाये । (गाथा १०१)

जिस प्रकार भिखारी को चिन्तामणि प्राप्त हो जाये, उस प्रकार हमें यह चारित्र प्राप्त हो गया है, यह मानें; परन्तु हमें ऐसा कभी लगता नहीं है ।

छः अरब की वर्तमान जन-संख्या में केवल दस हजार के लगभग (समस्त सम्प्रदाय मिलकर) साधु-साध्वी हैं । जन-संख्या के अनुपात में देखें तो आटे में नमक जितनी भी हमारी संख्या नहीं है ।

दस हजार में भी सच्चे साधु कितने हैं ? योगसारकार की भाषा में कहूं तो - ‘द्वित्राः’ दो-तीन ही ऐसे तत्त्वज्ञ पुरुष होंगे ।

हमारा नम्बर उन दो-तीन में लगे, अतः मेरा यह प्रयास है।

इस चारित्र की दुर्लभता कभी भी समझ में आती है ? जगत् में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहां अनन्त बार हमने जन्म-मरण किया न हो । ऐसे इस संसार में चारित्र केवल यहीं मिला है । ऐसा चारित्र-रत्न पाकर जो अपनी आत्मा को मोक्ष-मार्ग में जोड़ नहीं सकता वह सचमुच दयनीय है, करुणास्पद है । उसकी पुन्यहीनता का वर्णन करने के लिए कोई शब्द नहीं है । (गाथा १०२)

चारित्र-धर्म में विचलित होना अर्थात् जहाज में बैठ कर उसमें छेद करने । जहाज में बैठ कर छेद करने वाले हम संसार-सागर को कैसे तैरना चाहते हैं ? यह समझ में नहीं आता ।

ॐ ॐ ॐ

आवश्यकता नहीं है -

क्षमा हो तो बखार (कवच) की ।
क्रोध हो तो शत्रु की ।
शांति हो तो आग की ।
मित्र हो तो दिव्य औषधि की ।
दुर्जन हो तो विष की ।
लज्जा हो तो आभूषणों की ।
सुकाव्य हो तो राज्य की ।
लोभ हो तो अवगुणों की ।
पिशुनता हो तो पाप की ।
सत्य हो तो तप की ।
पवित्र मन हो तो तीर्थ की ।
सौजन्य हो तो गुणों की ।
स्व महिमा हो तो अलंकारों की ।
सुविधा हो तो धन की ।
अपयश हो तो मृत्यु की ।

- भर्तृहरि

है, ज्ञान आदि की वृद्धि के लिए है। अनुकूलता की ही आवश्यकता होती तो घर में इससे अधिक अनुकूलता प्राप्त होती, परन्तु हमने तो जान-बूझ कर कष्ट उत्पन्न किया है। ज्ञान आदि को पुष्ट एवं निर्मल बनाने का संकल्प किया है। वह संकल्प भूल तो नहीं गये न ?

बस में खड़े व्यापार का टेन्शन लेकर घूमने वाले गृहस्थ दुःख में होते हुए भी स्वयं को दुःखी नहीं मानते। सामने लाभ दिखाई देता है न ? उस प्रकार ज्ञानादि के लिए हम कुछ कष्ट नहीं उठाये ?

✱ जिस चारित्र को अंगीकार करने के लिए चक्रवर्ती भी अपनी छः खण्ड की ऋद्धि तनके की तरह फैक दें, वह चारित्र हमें प्राप्त हुआ है। उसकी खुमारी कैसी होनी चाहिये ? चारित्र ऐसा मूल्यवान है। क्या आपको यह लगता है कि तीन लोगों के स्वामी भगवान ने यह चारित्र मुझे दिया है ?

इन्द्र सहित सभी देव चारित्रधारी को वन्दन करते हैं। उस चारित्र का क्या वर्णन करें ? विरतिधर को प्रणाम करने के पश्चात् ही इन्द्र अपनी सभा प्रारम्भ करता है।

भव-भ्रमण के चक्र को चीर देने वाले चारित्र को पाकर क्या हम प्रमाद में पड़े रहेंगे ? गृहस्थों को यदि पैसे मिलते हों तो कष्ट कष्टों के रूप में नहीं लगते, तो कर्म-क्षय-कारक इस चारित्र-अनुष्ठान में क्या हमें कष्ट लेंगे ?

इस विश्व में चारित्र तक पहुंचनेवाले कितने हैं ? सबसे कम लोग हैं। उनमें भी कुछ आर्य हैं, उनमें भी कुछ जैन हैं, उनमें भी थोड़े साधु हैं और उनमें से भी थोड़े तात्त्विक साधु हैं।

“थोड़ा आर्य अनार्य जनमां, जैन आर्यमां थोड़ा;

तेमां पण परिणत जन थोड़ा, श्रमण अल्प बहु मुंडा...”

- उपा. यशोविजयजी महाराज

ऐसे दुर्लभ साधुत्व के लिए सावधानी कितनी ?

देव भी जिस सुख को प्राप्त न कर सकें, ऐसा सुख साधु इसी भव में प्राप्त कर सकता है। क्या यह कम बात है ?

परन्तु क्या आपको एक बात का पता है ? आपके पास यदि लाखों - करोड़ों रुपये आ गये हों और गुण्डों को पता लग

जाये तो वे क्या करेंगे ? वे आपको मार्ग आदि में कही लूट ही लेंगे । चरित्र रूपी चिन्तामणि तुल्य मूल्यवान् वस्तु प्राप्त होने पर मोहराजा नामक गुण्डा आपको क्या छोड़ेगा ? आपको लूटने के लिए वह अपने साथियों को भेजेगा ही ! आपको उन गुण्डों से बचना है ।

ये गुण्डे बाहर से नहीं आते, भीतर से ही आते हैं । ऐसे अवसर पर आप पूर्णतः जागृत रहें । आप अपने शुद्ध स्वरूप को याद करें । राग आदि भाव विभाव-दशा है, स्वभाव-दशा नहीं है, यह कदापि न भूलें ।

रागादि के तूफान के समय देह की शक्ति काम में नहीं आती, आत्म-शक्ति काम में आती है । संभव है कि आप देह से दुर्बल है, परन्तु उससे क्या हुआ ? एक कहावत है -

“जाड़ा जोईने डरवुं नहीं, दुबला जोईने सामे धवुं नहीं ।”

अतः देह मोटी हो या दुर्बल हो, उसकी अधिक चिन्ता न करें । गोलियाँ खाकर वजन मत बढ़ाना । भीतर आत्म-शक्ति चाहिये, धृति चाहिये । जिसमें धृति हो, वही मोह के तूफान से बच सकता है । धृति आत्म-शक्ति है ।

* हम इस समय लालच में कहते हैं - ‘संयम अत्यन्त सरल है । आ जाओ, कोई चिन्ता नहीं है ।’ यह गलत है, उसे समझाओ कि संयम अत्यन्त कष्टमय है, लोहे के चने चबाने जैसा कठिन है । साहस हो तो ही आना । हमें यही समझाया गया था ।

‘संयम सरल है’ यह कह कर यदि आप किसी को दीक्षित करेंगे तो वह यहां थोड़ी ही प्रतिकूलता में हताश हो जायेगा । कच्चे व्यक्तियों का यहां काम नहीं है ।

संयम तो योग्य व्यक्तियों को ही प्रदान किया जाता है । योग्य व्यक्तियों को संयम प्रदान करने से लाभ है, उस प्रकार अयोग्य व्यक्तियों को संयम अंगीकार कराने से हानि भी उतनी ही है, यह न भूलें ।

* हम ‘सात लाख’ नहीं बोलते अतः हमने यह मान लिया - ‘हम तो अठारहों पापों से मुक्त हो गये, हमें आवश्यकता नहीं है ।’

यदि आवश्यकता नहीं होती तो संथार पोरसी में अठारहों पापों को छोड़ने की बात क्यों लिखी ? गृहस्थों को प्राकृत भाषा समझ में नहीं आती, अतः 'सात लाख' है । हमारे संथार पोरसी में यह बात आ जाती है, अतः हम 'सात लाख' नहीं बोलते । आप यह न मानें कि उसकी आवश्यकता नहीं है या उससे परे हो गये हैं ।

संथार पोरसी में तो विशेषतः लिखा है - 'ये अठारह पापस्थानक मोक्ष मार्ग के संसर्ग में विघ्नभूत हैं ।' "मुक्खमग्ग-संसग्ग-विग्घ-भूआइं ॥" और 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि ।' यह तो बोलते ही हैं । सर्व सावद्य योग के त्याग में कौन सा पाप शेष रहा ?

* यदि चारित्र में आनेवाली शिथिलता मिटनी हो तो धृति बढ़ाओ । धृति बढ़ेगी तो शिथिलता मिटेगी । यह होगा तो मोक्ष प्राप्त होगा ।

बोलो, क्या मोक्ष चाहिये ?

साध्वी सभा - 'हां जी ।'

अभी तो बड़ा कमरा चाहिये, मोक्ष की कहां आवश्यकता है ?

जिस वस्तु की तड़पन न हो वह कदापि प्राप्त नहीं होगी । मोक्ष नहीं मिला, क्योंकि तड़पन नहीं थी । मोक्ष प्राप्त नहीं होता क्योंकि तड़पन नहीं है । तड़पन हो तो मोक्ष के उपायों में (रत्नत्रयी) प्रवृत्ति करने से कौन रोकता है । जोरदार भूख लगेगी तो आदमी भोजन प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करेगा ही ।

* कषाय आदि दोष कुत्तों के समान हैं । कुत्ते बिना बुलाये आ जाते हैं । लकड़ी से निकाल दो तो भी पुनः आ जाते हैं । सादड़ी में तो एक महाराज के पात्र में से कुत्ता लड्डू उठा कर ले गया था ।

कुत्ते को फिर भी हम निकाल देते हैं, परन्तु कषायों को तो हम निमंत्रण देकर बुलाते हैं । उनका मधुर-मधुर आतिथ्य करते हैं । फिर अतिथि (कषाय) क्यों जायेंगे ?

चारित्र की बातें करते-करते बीच में कषाय कैसे आ गये ?

कषायों के साथ चारित्र का सम्बन्ध है । ज्यों ज्यों कषाय घटते जाते हैं, त्यों त्यों चारित्र आता जाता है ।

अनंतानुबंधी कषाय जाने पर ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

अप्रत्याख्यानी कषाय जाने पर ही देशविरति चारित्र प्राप्त होता है ।

प्रत्याख्यानी कषाय जाने पर ही सर्वविरति चारित्र मिलता है ।

संज्वलन कषाय जाने पर ही यथाख्यात चारित्र मिलता है ।

यह तो हम जानते हैं न ?

कषाय नष्ट करने के लिए क्या करें ? जिन-जिन में आपको जिन-जन कषायों की मन्दता दिखाई दे, उन-उनकी आप अत्यन्त अनुमोदना करते जाओ । उन्हें नमन करते जायें । कषाय-मुक्त प्रभु को नमन करते जाओ । जिस गुण को आप नमन करें, वह गुण आपमें आ ही जायेगा, यह नियम है ।

क्रोध क्यों आता है ? क्रोध अभिमान के कारण आता है । अहंकार को टक्कर लगाने से ही क्रोध आता है । आप यदि अपनी मानसिक वृत्ति का बराबर निरीक्षण करेंगे तो यह बात तुरन्त समझ में आ जायेगी ।

क्रोध एवं मान का प्रगाढ़ बन्धन है ।

माया एवं लोभ का प्रगाढ़ बन्धन है ।

घर में कहीं कभी कभी दिखाई देने वाले सांप, बिच्छु को तुरन्त दूर निकाल देने वाले हम कषायों को दूर नहीं करते । इसका अर्थ यही है कि हमें कषाय सांपों के समान प्रतीत नहीं हुए ।

जिस प्रकार 'मोक्ष-प्राप्ति' ध्येय बनाया है, उस प्रकार कषाय आदि भावों से मुक्त बनना भी ध्येय होना चाहिये । कषायों से मुक्ति होने के बाद ही वह मुक्ति मिलेगी न ? "कषाय-मुक्तिः किल मुक्ति-रेव ।" कषाय-मुक्ति होने पर ऊपर का मोक्ष तो मिलेगा तब मिलेगा, परन्तु आपको यही मोक्ष का सुख मिलेगा ।

प्रशम का सुख इतना अधिक होता है कि उसका वर्णन करने के लिए शब्द कम पड़ते हैं ।

कषाय चित्त को चक्कर में डालते हैं, चित्त को व्याकुल एवं व्यग्र बनाते हैं । व्याकुल एवं व्यग्र चित्त में सुख आ सकता है, क्या आप यह कल्पना कर सकते हैं ?

इस भव में भी सुखी होना हो तो भी कषायों को दूर करना ही अनिवार्य है ।

* ऐसा अतिशय दुर्लभ चारित्र मिलने के पश्चात् भी यदि उसकी विराधना हो तो आपकी दशा उस व्यक्ति जैसी होगी, जिसका जहाज टूट गया है और वह समुद्र में डूब रहा है । वह व्यक्ति अन्य किसी की भूल से नहीं, अपनी स्वयं की ही भूल से डूब रहा है । उसने स्वयं ही जहाज में छेद किये थे ।

हम चारित्र रूपी जहाज में तो छेद नहीं कर रहे हैं न ? अतिचार लगाना अर्थात् चारित्ररूपी जहाज में छेद करना । (गाथा १०५)

अब निश्चय करें - मुझे छेद नहीं करना, निरतिचार चारित्र का पालन करना है । निरतिचार चारित्र का पालक चारित्ररूपी जहाज में बैठ कर आनन्दपूर्वक संसार-सागर के उस किनारे पर पहुंच जाता है ।

एक सज्जन १५-१६ व्यक्तियों के साथ परदेश में शौक के लिए नाव में बैठा और सागर में भयंकर तूफान आ गया । नाव डूबने की तैयारी में थी । मन में विचार आया - 'व्यर्थ मैंने ऐसा शौक किया ।'

परन्तु अब क्या हो ? नवकार का स्मरण प्रारम्भ किया । नवकार के प्रभाव से तत्क्षण दूसरी नाव बचाव के लिए आ पहुंची और वे बच गये । सामखियाली के नरसी जसा सावला ने हमें यह खुदका अनुभव सुनाया था ।

खैर, हमारी नाव तो सुरक्षित है न ?

जब जीवन-नैया डगमगाने लगे तब प्रभु का स्मरण करना । प्रभु ही जीवन-नैया के खेवनहार बन सकते हैं ।

पू. उपा. यशोविजयजी कहते हैं -

“तप-जप मोह महातोफाने, नाव न चाले माने रे;

पण मुझ नवि भय हाथोहाथे, तारे ते छे साथे रे...”

* कभी जब अपमान का प्रसंग आ पड़े, क्रोध भड़क उठने की तैयारी में हो तब सोचना - 'जिसका अपमान हो रहा है, वह मैं नहीं हूं । मैं (आत्मा) हूं, अनामी हूं । मेरे नाम को

कोई गाली दे तो मुझे क्या ? यह नाम तो मेरी बूआ या गुरुजी ने दिया है, उसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध ? ऐसी विचारधारा से हम कितने संक्लेश से बच जायेंगे ?

मन में क्रोध, मान बिलकुर आये ही नहीं, ऐसा तो संभव नहीं है । मुझे भी कभी-कभी आ जाता है, परन्तु कम से कम इतना निश्चय करें कि आपका क्रोध या आपका अभिमान वाणी के द्वारा बाहर न आये ।

मन में ही आयेंगे तो केवल आपको ही हानि पहुंचायेगा, परन्तु वचनों में कषाय आयेंगे तो वे अन्य को भी हानि पहुंचावेंगे । हम जल गये तो जल गये, परन्तु दूसरों को क्यों जलायें ?

ॐ ॐ ॐ

क्षमा

शूखीर की क्षमा सच्ची क्षमा है । कायर की क्षमा मजबूरी (विवशता) है ।

क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिस के पास गरल हो ।
उसको क्या ? जो दंतहीन,
विषरहित विनीत सरल हो ।
जहां नहीं सामर्थ्य शोध की,
क्षमा वहां निष्फल है ।
गरल घूंट पी जाने का,
मिथ है, वाणी का छल है ।



जयपुर, वि.सं. २०४१

२६-४-२०००, बुधवार
वै. कृष्णा-७ : पालीताणा

* हमारे लिए ही नहीं, जगत् के सभी जीवों के लिए मानव-भव दुर्लभ है। यह मानव-भव सबको चाहिये। सब उसके अभिलाषी हैं। सीट कम है, सदस्य अधिक हैं।

तेऊ-वाऊ के अतिरिक्त समस्त दण्डकों में से जीव मनुष्य हो सकता है और मनुष्य सभी दण्डकों में जा सकता है।

संसार के बहुमूल्य पदार्थ काम-कुम्भ, चिन्तामणि आदि तरजू के एक पलड़े में रखो और दूसरे पलड़े में मानव-भव रखो, तो मानव-भव का पलड़ा चढ़ जायेगा।

असंख्यात देव तरस रहे हैं कि हमें मानव-भव कब मिले ? कब हम साधु बनें ? साधुओं को वे नित्य वन्दन करते हैं, उनका नित्य स्मरण करते हैं। ऐसे साधुत्व का हमारे मन में मूल्य है क्या ?

* अरिहन्तो को वन्दन करने से पापों का क्षय होता है, उस प्रकार साधु को वन्दन करने से भी पापों का क्षय होता है। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य अथवा उपाध्याय, साधु बने बिना बना नहीं जा सकता।

दीक्षित तीर्थकर साधु ही कहलाते हैं ।

अरिहंत भी प्रथम साधु बनते हैं, उसके बाद ही वे तीर्थकर बन सकते हैं । ऐसा साधु-जीवन पाकर क्या हम प्रमाद में पड़े रहेंगे ?

मनुष्य-भव मिलना, उसमें भी बोधि मिलना, उसमें भी साधु-जीवन मिलना कितना दुर्लभ है ? यह निरन्तर सोचें ।

मानव-जीवन प्राप्त होने के पश्चात् बोधि मिलना कोई सरल नहीं है । उसके लिए गणधरों को भी भगवान से याचना करनी पड़ती है -

‘आरुग्ग-बोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दिंतु ।’

प्रश्न - गणधर तो सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, फिर बोधि के लिए याचना क्यों ?

उत्तर - इसलिए कि प्राप्त बोधि अधिक निर्मल बने । प्राप्त की हुई बोधि को खोकर निगोद में जाने वाले भी अनन्त जीव हैं ।

प्राप्त की हुई बोधि, सम्यक्त्व जा भी सकता है । क्षायिक भाव न आये तब तक विश्वास नहीं रखा जा सकता । हमारे इस समय के गुण क्षायोपशमिक भाव के हैं । कांच (शीशे) के बर्तन की तरह उन्हें संभालना आवश्यक है ।

* दूरस्थित दृश्यों को ‘दूरदर्शन’ के द्वारा आप यहां देख सकते हैं, उस प्रकार दूरस्थित भगवान को नाम-मूर्ति आदि के द्वारा आप यहां देख सकते हैं । केवल आपके पास श्रद्धा की आंख चाहिये ।

* “विनय न छोड़ें, गुरु की अवहेलना न करें, कृतघ्न नहीं बनें ।” इतना अवश्य ध्यान में रखें । जिस गुरु ने आपको यह रजोहरण (ओघा) दिया है, उन गुरु के अनन्त उपकार सदा दृष्टि के समक्ष रखें ।

* पुन्य के स्वामी भगवान हैं, हम नहीं । जब भी हमने पुन्य बांधा होगा तब किस प्रकार बांधा होगा ? अरिहंतों द्वारा कथित किसी सुकृत का जाने-अजाने आचरण करके ही पुन्य बांधा होगा न ? उस पुन्य पर हमारा स्वामित्व नहीं किया जाता । पुन्य भगवान का है तो

उनके द्वारा प्राप्त भगवान को समर्पित करो । यह कृतज्ञता है ।

* अत्यन्त आलस, अत्याधिक भूख, अत्याधिक खाने की इच्छा, अत्यन्त ही पीने की इच्छा होती हो तो समझें कि मेरी आत्मा तिर्यच गति में से आई है ।

अत्यन्त ही आवेश, लड़ाई-झगडा करने में विलम्ब नहीं, गालियों देने में विचार नहीं, किसी अपकृत्य को करने में शर्म नहीं, बात बात में विरोध में आपत्ति नहीं, अधमाई की परकाष्ठा हो और गुरु के सामने तो विशेषतया बोलना आदि लक्षण नरक में से आने के हैं ।

* आप दूसरों के प्रति डाकिनी, सांपनी, शंखिणी या ऐसे कोई अपशब्दों का प्रयोग करोगे तो याद रखना, आपको ही ऐसा बनना पड़ेगा । आगामी भव में आपको जीभ नहीं मिलेगी ।

इस जीभ के द्वारा अच्छे शब्द, भगवान के गुण-गान गाकर अपार पुन्य उपार्जन किया जा सकता है । उसके स्थान पर यदि आप जीभ का दुरुपयोग करो तो आप इतनी मूर्खता कर रहे हैं कि चन्दन के लकड़े से कोयले बना रहे हैं और उन कोयलों के द्वारा स्वयं को काला कर रहे हैं ।

* वस्त्रों आदि में रंग-बिरंगी डोरे डालने आदि में समय क्यों बिगाड़े ? आप अन्य समुदाय के हों तो भी मेरी आपको सलाह है कि इसमें आप समय न बिगाड़े । इससे अपना साधुत्व सुशोभित नहीं होता ।

* जीभ के द्वारा कठोर शब्दों का कदापि प्रयोग न करें । आपके समान कठोर शब्दों का प्रयोग गुरु तो कर सकते नहीं । ऐसा करें तो समूह एकत्रित हो जायेगा । गुरु को तो लोक-लाज होती है न ? इसलिए उस शिष्य को दुगुना बल मिलता है - 'गुरु को नियंत्रण में रखने का बढिया उपाय मिल गया । यह भयंकर स्तर का गुरु-द्रोह है जो नरक में ले जाता है । जिसे नरक में जाना हो वही ऐसे काले कार्य करता है ।

* क्या यह जीवन इस प्रकार खोने के लिए है ? आप जीवन का मूल्यवान समय किस प्रकार व्यतीत करते हैं ? समझ लो कि जीवन का कोई भरोसा नहीं है । अधिक से अधिक आप

* आप जिस वस्तु का अनादर करेंगे, वह वस्तु आपको दूसरी बार नहीं मिलेगी । यदि तप-गुण का अनादर किया तो तप नहीं कर पाओगे । यदि ज्ञान का अनादर करेंगे तो ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकोगे । इस प्रकार सभी गुणों के सम्बन्ध में समझ लें ।

गुण प्राप्ति के बाद भी नम्र बनना है । यदि नम्र नहीं बनोगे तो वे गुण भी दूसरी बार नहीं मिलेंगे ।

* अहंकार अत्यन्त ही खतरनाक है । अहंकार स्व-उत्कर्ष एवं पर-अपकर्ष दो बातें सिखाता है ।

हम इतने तुच्छ हैं कि एक थोय, स्तवन या सज्जाय सुन्दर ढंग से बोलें तो भी हम फूल जाते हैं ।

पर-अपकर्ष से निन्दा का जन्म होता है । स्व-उत्कर्ष से डंफास का जन्म होता है । हम किससे उच्च हैं ? कौन हमसे नीचा है ? समस्त जीव समान है, सिद्धों के स्वधर्मी हैं ।

क्या ज्ञानसार का प्रथम श्लोक कण्ठस्थ है ? “ऐन्द्रश्री सुखमग्नेन...”

पूर्ण आत्मा भी यदि सबको पूर्ण रूपेण देख रही हों तो किसी को अपूर्ण देखने का हमारा क्या अधिकार ?

एक ही बात को आगे रख कर जिस जीव की आप निन्दा करते हैं, उससे सबसे बड़ी हानि क्या ? उसके अन्य समस्त गुणों को आप ढक देते हैं । फलतः वे गुण आप में आ नहीं सकते ।

इसीलिए ज्ञानी कहते हैं कि दूसरों के गुण देखकर आप प्रसन्न रहें और अपना साधारण दोष देख कर भी स्वयं को हीन मानें ।

गुणवान आत्माओं का अनादर करने से ही हम भूतकाल में बोधि-दुर्लभ बने हैं । अब और कब तक बोधिदुर्लभ बनना है ।

देवों का भी अनादर नहीं करना है । किसी भी जीव का अनादर नहीं करना है । पगाम सज्जाय में क्या बोलते हैं ?

“देवाणं आसायणाए - देवीणं आसायणाए...” आगे बढ़ कर

“सव्वपाणभूअजीव सत्ताणं आसायणाए ।” समस्त जीवों का अनादर टालना है ।

प्रश्न - विराधना - आशातना में क्या अन्तर है ?

इस जीवन में हमें साधु-जीवन तो प्राप्त हो गया है, परन्तु क्या बोधि प्राप्त हुई है ? क्या देहाध्यास टला है ? ये प्रश्न आप अपनी आत्मा को पूछ लें । स्वयं को आप ही सुधार सकेंगे, अन्य किसी की भी शक्ति नहीं है जो आपको स्वयं को सुधार सके ।

इस समय हम देह को आत्मा के रूप में देख रहे हैं, जो मिथ्यात्व को सूचित करता है । जब तक भीतर मिथ्यात्व का एक कण भी पड़ा हो, तब तक देह में आत्म-बुद्धि मिटती नहीं है । जब सात प्रकृति निर्बल हो जाती है, सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है, तब देहाध्यास टलता है ।

आप हताश न हों, यह वस्तु प्राप्त नहीं हुई हो तो प्राप्त करने के लिए उद्यत बनें । यह सब मैं आपको हताश करने के लिए नहीं कहता । आप उत्साही बन कर साधना के मार्ग पर अग्रसर हो, उसके लिए कहता हूँ ।

ॐ ॐ ॐ

आधुनिक युग की सात गैर-समझ

१. टेक्नोलोजी से प्रकृति को झुकाया जा सकेगा ।
२. मनुष्य को पशु ही गिनो, ताकि उसकी भौतिक आनन्द की अमर्यादित झंखना सन्तुष्ट करने में कोई बाधा उत्पन्न न हो ।
३. मनुष्य पशु है अतः यंत्र है । (अलबत्त जीवित यंत्र)
४. मनुष्य में कामवृत्ति ही प्रमुख है, अतः उसे सन्तुष्ट करना ही मुख्य कार्य है - फ्रोइड
५. प्रकृति को दास बनाकर उसका चाहे जितना उपभोग किया जा सकता है ।
६. अब मनुष्य टेक्नोलोजी की आड-पैदाश है । अतः उसमें फिर तत्त्व-ज्ञान कैसा ?
७. भगवान मर चुका है, जो सको उस तरह जीओ ।

है। साधु-जीवन भी आस्वादन हेतु है। मिठाई का तो रसास्वादन करते हैं, सच्चे साधु-जीवन का स्वाद कब लेंगे ? साधु-जीवन के आस्वादन की तमन्ना भी जागृत हो जाये तो भी काम हो जाये।

* शरीर तो आत्मा का घर है। घर में निवास करने वाली आत्मा है। क्या आत्मा के सम्बन्ध में कोई रुचि जगी ? उसकी रुचि अध्यात्म-साधना की प्रथम कदम है। इस रुचि को ही हम सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जड़ के प्रति रुचि घटे बिना आत्म-रुचि जागृत नहीं होती। भगवान् स्वयं हमें सच्चिदानन्दमय के रूप में देखते हैं। यदि हमारा स्वरूप सच्चिदानन्दमय के रूप में हो ही नहीं तो कैसे देखेंगे ?

संसारी जीव तो विषय-कषायों से, कर्मों से, क्लेशों एवं संक्लेशों से परिपूर्ण हैं। ऐसे जीवों को सच्चिदानन्द के रूप में देखने क्या भ्रम नहीं है ? नहीं, पू. उपा. यशोविजयजी म. कहते हैं - 'चाहे जैसे संसारी जीव प्रतीत होते हों तो भी सत्ता से सभी जीव सिद्ध स्वरूपी ही हैं। परन्तु स्वयं को सिद्ध स्वरूपी जानकर अभिमान करने की आवश्यकता नहीं है कि मैं तो सिद्ध स्वरूपी हूँ।'।

निश्चयनय कहता है - आप सिद्ध स्वरूपी हैं।

व्यवहारनय कहता है - आप संसारी हैं।

जब निराशा आ जाये तब निश्चयनय याद करें।

जब अहंकार आ जाये तब व्यवहारनय याद करें।

* मनुष्य-जन्म कर्म-बंधन के लिए प्रशंसनीय नहीं है। मनुष्य सातवीं नरक में भी जाये, परन्तु उस कारण वह प्रशंसनीय नहीं है। मनुष्य कर्म क्षय कर सकता है इसीलिए उसका जन्म प्रशंसनीय है।

* कंडरीक ने हठ करके ज्येष्ठ भ्राता के पास दीक्षा ग्रहण की, एक हजार वर्षों तक दीक्षा पाली, परन्तु अन्त में रसना की आसक्ति ने उन्हे जकड़ लिया। अनुकूलता छोड़ना अत्यन्त ही कठिन है। पालीताणा में अनुकूलता जकड़ न ले यह देखना। अनुकूलता का राग खतरनाक है।

उनके परिणाम इतने बिगड़ गये कि वे स्थान छोड़ने के लिए

तैयार ही नहीं हुए । अन्त में उत्प्रव्रजित बनकर राजा बने । लघुभ्राता पुण्डरीक राजा से श्रमण बने ।

मानव जीवन में श्रमणत्व पाकर भी कण्डरीक सातवीं नरक में गये । हमें ऐसा बनना है ? उच्च भूमिका में आने के बाद पतन न हो यह विशेषतः देखना है ।

“ऊँचा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर ।

पंथी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर ॥”

* ज्ञान या दर्शन को चारित्र से भिन्न नहीं करें । दर्शन एवं ज्ञान का मिश्रण ही सम्यक् चारित्र कहलाता है । दर्शन-ज्ञान-रहित चारित्र सच्चे अर्थ में चारित्र कहलाता ही नहीं है ।

“ज्ञानदशा जे आकरी, ते चरण विचारो;

निर्विकल्प उपयोगमां, नहीं कर्मनो चारो...”

जब दर्शन युक्त ज्ञान तीक्ष्ण बनता है तब वह स्वयं चारित्र बन जाता है ।

पू. उपा. यशोविजयजी म. प्राप्त किये हुए पुरुष थे । स्वयं ने जो प्राप्त किया वे अन्य व्यक्ति भी प्राप्त करें उस उद्देश्य से उन्होंने १२५, १५०, ३५० आदि गाथाओं के स्तवन बनाये । उन्हें चिन्ता थी कि मुझे प्राप्त हुआ है वह मेरे अनुगामियों को क्यों न प्राप्त हो ? पिता को चिन्ता होती है - “मैंने यह सम्पत्ति प्राप्त की है । मेरे ये पुत्र सम्पत्ति संभाल सकेंगे न ? उसके लिए वह अनेक उपाय सोचता है ।

उपा. यशोविजयजी ने भी स्वयं को प्राप्त साधुत्व का आनन्द दूसरों को भी मिले । इसीलिए इन कृतियों की रचना की है ।

* अपने भव-भ्रमण का मूल कारण अज्ञान है । अज्ञान के कारण हम जानते ही नहीं हैं - मेरा स्वरूप कैसा है ? किसने पचा लिया है ? कर्मसत्ता ने हमारा ऐश्वर्य पचा लिया है - यह वस्तु हम जानते नहीं हैं, इसीलिए संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं । करोड़पति के पुत्र होते हुए भी रोड़पति बन कर फिर रहे हैं ।

जिस वस्तु का ज्ञान ही न हो, उसे प्राप्त करने के लिए जीव प्रयत्न किस प्रकार करे ? इसीलिए अज्ञान को समस्त दुःखों का मूल कहा गया है ।

“आत्माऽज्ञानभवं दुःखम् ।” समस्त दुःख आत्मा के अज्ञान में से उत्पन्न हुआ है ।

* कर्म के चंगुल में से मुक्त होने का मार्ग यह है -
मिथ्यात्व नहीं, सम्यक्त्व,
अविरति नहीं, विरति,
प्रमाद नहीं, अप्रमाद,
कषाय नहीं, अकषाय ।

अशुभयोग नहीं, शुभ योगों में प्रवृत्ति ।

ऐसा करेंगे तो ही कर्मों में से मुक्ति हो सकेगी, दबा हुआ ऐश्वर्य प्राप्त हो सकेगा ।

पंचाचार में प्रथम ही दर्शनाचार अथवा चारित्राचार नहीं, परन्तु ज्ञानाचार है, वह ज्ञान की मुख्यता बताता है ।

ज्ञानाचार का पालन करने से अपना ज्ञान स्थिर एवं सुदृढ़ रहता है ।

ज्ञान के आठों आचार जीवन में बुने हुए हैं न ? शिक्षक पाठ देता है, और विद्यार्थी दूसरे दिन उसे याद करके सुनाता है । यहां आप पाठ याद करते हैं ?

आठों आचार ज्ञान की वृद्धि करने वाले हैं, यह न भूलें ।

* सम्यक्त्व से पूर्व तीन करण करने पड़ते हैं । ‘करण’ अर्थात् समाधि । करण के समय आत्म-शक्ति इतनी बढ़ती है कि कदापि नहीं टूटी हुई राग-द्वेष की गांठ तब टूट जाती है ।

अचरम यथाप्रवृत्ति करण तो अभव्य को भी होता है । महत्त्वपूर्ण बात है चरम यथाप्रवृत्तिकरण की । चरमयथाप्रवृत्तिकरण का प्रमाण क्या ? उसे अब राग-द्वेष के तीव्र भाव नहीं होते । शरीर में आत्म-बुद्धि टलती जाती है ।

अभी तक शरीर में से मेरी आत्म-बुद्धि टली नहीं है । हां, उसके लिए प्रयत्न चालु है । भगवान को नित्य प्रार्थना करता हूं ।

अपवित्र, अनित्य एवं अशुचि शरीर में पवित्रता, नित्यता एवं शुचिता की बुद्धि रखना ही अविद्या है, अविवेक है । विवेक के द्वारा ही यह अविद्या तोड़ी जा सकती है ।

शरीर एवं आत्मा का भेद-ज्ञान नहीं हुआ हो तो निराश न

हों, परन्तु उसके लिए तो हम दादा की शीतल छाया में एकत्रित हुए हैं । मिलेगा तो यहां से मिलेगा ।

दादा का दर्शन सुलभ नहीं है, उसके लिए चढ़ना पड़ता है । प्रभु को प्राप्त करना हो तो इसी प्रकार से गुणस्थानों में से गुजरना पड़ता है ।

‘हिंगलाज के हड़े’ से हम कदापि लौटते नहीं हैं, परन्तु ग्रन्थि-भेद करते हुए कई बार लौटे हैं ।

* कई बार शासन-प्रभावना के नाम पर, शास्त्र ज्ञान के नाम पर अथवा अन्य किसी नाम पर अहंकार का ही पोषण किया है । आत्मा की प्राप्ति न हो तब तक संभव है कि अन्य गुण भी हमें तार न सकें ।

इसीलिए पू. उपा. यशोविजयजी ने कहा है -

“जिम जिम बहुश्रुत बहुजन सम्मत, बहु शिष्ये परिवरियो;
तिम तिम जिन-शासननो वैरी, जो नवि निश्चय धरियो ।”

* ये आदीश्वर दादा दर्शन देने के लिए ही हैं । यदि देव दर्शन नहीं देंगे तो दूसरा कौन दर्शन देगा ? साधु-जीवन मिल गया, अतः सम्यग् दर्शन प्राप्त हो ही गया है, इस भ्रम में न रहें ।

प्रभु-दर्शन की तड़प आप आनन्दधनजी के स्तवनों में देख सकते हैं । आनन्दधनजी के स्तवनों में सम्पूर्ण साधना-क्रम है । क्रमशः १४ गुण स्थानक हैं, ऐसा प्रभुदास बेचरदास पारेख ने लिखा है ।

प्रथम स्तवन में प्रभु का प्रेम, प्रभु की लगन; दूसरे स्तवन में प्रभु के मार्ग की खोज आदि स्पष्ट प्रतीत होती है । तेरहवें स्तवन में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है ।

* नरसैया हो या मीरा हो अथवा चाहे जो हो, जिस नाम से भी प्रभु को प्रेमपूर्वक चाहते हों, उन्हें अन्त में प्रभु-दर्शन होंगे ही । समस्त नदियां अन्त में सागर में मिलती हैं; उस प्रकार सभी प्रभु के नमस्कार वीतराग प्रभु की ओर ले जाते हैं ।

* मित्रादृष्टि में प्रवेश होने पर आत्मिक आनन्द की झलक प्रारम्भ हो जाती है । चाहे वह घास के तिनके की तरह जल्दी

मां दौड़ती हुई आती है तो क्या भगवान दौड़ते हुए नहीं आयेंगे ?
भगवान तो जगत् की मां हैं ।

तू वीतराग होकर छूट जाये यह नहीं चलेगा ।

मैं ऐसे तुझे छोड़ने वाला नहीं हूँ ।

मानविजयजी इस प्रकार भगवान को कहते हैं,
तो क्या हम नहीं कह सकते ?

ॐ ॐ ॐ

कौन क्या देता है ?

इतिहास चतुर्णई देता है ।

कविता मृदुता एवं वाणी-विदग्धता देती है ।

गणित सूक्ष्मता देती है ।

विज्ञान गहनता देता है ।

नीतिशास्त्र वीरता देता है ।

तर्कशास्त्र वक्तृत्व देता है ।

(धर्म सब कुछ देता है ।)

- बेकन



दक्षिण भारत में

२८-४-२०००, शुक्रवार

वै. कृष्णा-६ : पालीताणा

* भगवान द्वारा कथित मार्ग अर्थात् रत्नत्रयी - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्ष मार्ग है ।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । तत्त्वार्थ का यह प्रथम सूत्र है ।

‘चारित्राणि’ में बहुवचन, मार्ग में एकवचन क्यों ? तीनों मिल कर ही मोक्ष-मार्ग हो सकता है यह बताने के लिए ।

अकेली श्रद्धा या अकेला ज्ञान या अकेला चारित्र आपको मोक्ष में नहीं ले जा सकता ।

* ‘सिद्ध प्राभृत’में लिखा है कि महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न अपहृत आत्मा का भरतक्षेत्र में से भी मोक्ष हो सकता है । भरतक्षेत्र में से ही नहीं, ढाई द्वीप के प्रत्येक क्षेत्र में से इस प्रकार मोक्ष हो सकता है ।

इस प्रकार मोक्ष न हो तो सिद्धशिला का प्रत्येक अंश अनन्त आत्माओं से कैसे परिपूर्ण होगा ? इस अपेक्षा से सम्पूर्ण ढाई द्वीप तीर्थ है, जिन के प्रत्येक कण में से अनन्त-अनन्त आत्मा मोक्ष में गये हैं । सिद्धाचल इतना महान तीर्थ है कि अन्य की अपेक्षा

यहां से अनन्त गुने अधिक आत्मा मोक्ष में गये हैं ।

हिमालय के कई योगी जब नवकार बोलते हों; जैन परिभाषा में बात करते हों तब विचार आता है कि ये अपहृत आत्मा तो नहीं हैं ?

* इतने वर्षों से हम मोक्ष की साधना करते हैं और फिर भी जीवनमुक्ति का अंश भी प्राप्त न हो तो कहां कमी है - यह विचार क्यों नहीं आता ?

चलने पर भी मंजिल न आये, औषधि लेने पर भी रोग नहीं मिटे, तब कारण पूछने वाले हम मोक्ष के लिए पूछते नहीं हैं । साधना की कमाई कहां जाती है ? “अंधी पीसे और कुत्ते खायें ।” ऐसा तो नहीं हो रहा है न ?

अनीति के रूप्यों से उस नैगम वणिक ने घेवर तो बनाये, परन्तु जब वे घेवर दामाद खाकर चला गया, स्वयं को कुछ भी नहीं मिला तब उसकी ज्ञानदशा जागृत हुई । वणिक की ज्ञानदशा इतनी तुच्छ घटना से जग जाती है तो हमारी ज्ञान-दशा क्यों नहीं जगती ?

साधु-जीवन प्राप्त होने के बाद ज्ञानदशा अत्यन्त दुर्लभ है । यह ग्रन्थ बताता है - ‘सामन्नस्स वि लंभे, नाणाभिगमो य दुल्लहो होइ ।’

साधुत्व प्राप्त होने के बाद भी ज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है ।

भगवान के समक्ष नित्य बोलते हैं - “भवो भव तुम चरणों नी सेवा”, भवो भव की बात बाद में ।” - मैं कहता हूं - इस भव का तो करो । इस जन्म में प्राप्त हो सके वैसे ज्ञान आदि के लिए तो प्रयत्न करो ।

मोक्ष के लिए हमें शीघ्रता क्यों नहीं है ? वाचना में बैठने का स्थान प्राप्त करने के लिए शीघ्रता है, परन्तु मोक्ष-साधना के लिए शीघ्रता है क्या ?

अभी पेढ़ी के मनुष्य कहने के लिए आये थे - ‘महाराज ! प्रत्येक चौमासे में यहां तलहटी में कष्ट होता है । आगे आने वाले आधे घंटे तक खाली नही करते, अतः पीछे वाले परेशान

होते हैं। इस पर से मुझे दूसरा विचार आया - हम मोक्ष में जाकर मनुष्य की सीट खाली नहीं करते, अतः हमारे पीछे रहने वाले जीव परेशान हो रहे हैं। उनका हृदय कह रहा है - 'हटो, हटो, हटो, हमारे लिए स्थान खाली करो।'

हम मोक्ष में जाये तो पीछे वालों के लिए स्थान बनें न ? परन्तु हमें कहां शीघ्रता है ?

आप श्रावक-जीवन में जितने नियमों का पालन करते थे, क्या उतने नियमों का यहां पालन करते हैं ? सामायिक में रहे हुए श्रावक को क्या आप बातें करने की या सोने की छूट देते हैं ? हम जब सामायिक में होते तब क्या ऐसे करते थे ? यदि नहीं करते थे तो साधु-जीवन में ये कार्य कैसे हो सकते हैं ? इसीलिए साधु-जीवन में स्वाध्याय को विशेष महत्त्व दिया गया है।

स्वाध्याय चालु रखने से ही समता भाव आ सकता है।

* चन्दन को आप जलायें, या अथवा काटें, परन्तु क्या वह अपनी सुगन्ध छोड़ता है ? सुगन्ध चन्दन का स्वभाव है। हमारी समता ऐसी बन जानी चाहिये, अन्यथा नाम मात्र की समता किस काम की ?

वन्दन करने वाले श्रावक हमें क्षमाश्रमण ('इच्छामि खमासमणो', 'खमासमणो' अर्थात् क्षमाश्रमण) कहते हैं। सचमुच हम क्षमाश्रमण हैं ?

अनेक के नाम शान्तिविजयजी, क्षमाविजयजी होते हैं। नाम के पीछे संकेत होता है। नाम अच्छा है परन्तु गुण न हों तो ?

पू.पं. मुक्तिविजयजी म. (वि. संवत् २०१२, लाकड़िया) कई बार एक कथा कहते - 'एक बाबा का नाम शीतलदास था। अत्यन्त शान्त स्वभावी के रूप में उनकी ख्याति थी, परन्तु एक लड़के को विश्वास नहीं हुआ। वह उनकी परीक्षा करने गया। वह बार-बार पूछने लगा - 'बाबाजी ! बाबाजी ! आपका नाम क्या है ?

एक-दो बार बाबाजी ने शान्ति से उत्तर दिया - 'बच्चा ! मेरा नाम शीतलदास है। परन्तु बार-बार पूछने पर उनका दिमाग फिरा। बाबाजी हाथ में चीमट लेकर दौड़े।

उस लड़के ने जाते-जाते कहा, 'बाबाजी ! अब आपका नाम शीतलदास नहीं, क्रोधदास है।' अच्छा है, अपनी कोई परीक्षा नहीं लेता। यदि कोई हमारी परीक्षा ले तो क्या हम उत्तीर्ण हो जायेंगे ?

आत्मा का लक्षण उपयोग रखा है, समता नहीं। क्यों ? समता सदा नहीं होती। उसे साधना के द्वारा उत्पन्न करानी पड़ती है। यह सामायिक समता जगाने के लिए है।

* धन्य शासन ! धन्य साधना ! यदि हृदय में से ऐसा अहोभाव प्रकट हो तो भी अपना काम हो जाये।

इस शासन की अपकीर्ति हो, ऐसा हमसे कैसे हो सकता है ?

अहमदाबाद की दशा जानते हैं न ? साध्वीजियों को कोई अपनी सोसायटी में रखने के लिए तैयार नहीं है। फरियाद है कि ये गन्दगी बहुत करती हैं।

एक तो स्थान दें और ऊपर से गन्दगी सहन करें ? लोगों के मन में यह विचार स्वाभाविक रूप से आ जाता है।

आप यदि इस धर्मशाला को गन्दी करें तो दूसरी बार यहां आपको क्या उतरने को मिलेगा ?

संघों में हमें अनेक बार अनुभव हुआ है। एक बार संघ को उतरने के लिए स्कूल देने के बाद दूसरी बार देते नहीं है, कारण यही है।

हम एक कदम से दो कदम आगे जाने के लिए तैयार नहीं है। जब हम सामान्य मानवीय सभ्यता भी नहीं सीखे तो लोकोत्तर जैन शासन की आराधना कैसे कर सकेंगे ? हमारे निमित्त से जैन-शासन की बदनामी हो, किसी को साधु-साध्वी के प्रति द्वेष उत्पन्न हो, इसके समान अन्य कोई पाप नहीं है।

* हृदय में समता के द्वारा जितना मैत्री-भाव विकसित हुआ हो उतनी मधुरता का अन्तर में अनुभव होता है।

क्या नीम में मधुरता है ? यदि कोई नीम की चटनी बनाये तो क्या आप उसका उपयोग करेंगे ?

कषाय इतने कड़वे होते हैं, फिर भी हम कषाय करते ही रहते हैं, यह कितना आश्चर्य है ?

कषायों का नाश करने के लिए ही चार मैत्री आदि भाव हैं । मैत्री आदि भावों के अभ्यास से जीवन में कटुता के स्थान पर मधुरता आती है ।

मैत्री से क्रोध, प्रमोद से मान, करुणा से माया और मध्यस्थता से लोभ कषाय को जीता जा सकता है ।

✱ प्रथम सामायिक है, साम, मधुर परिणाम प्रकट होता है ।
दूसरी सामायिक है, सम, तुला परिणाम प्रकट होता है ।
तीसरी सामायिक है, सम्म, तन्मय परिणाम प्रकट होता है ।
यह समस्त विवेचन जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा किया गया है ।

पू.पं. भद्रकरविजयजी म.सा. ने ये समस्त पदार्थ दिये थे । जब ये पढ़ते हैं तब हृदय नाच उठता है ।

सम अर्थात् राग द्वेष के प्रसंगों में समता रखना, चित्त को प्रत्येक प्रसंग में समतोल रखना । यदि ये पदार्थ भावित करने हों तो पू. आनन्दधनजी म.सा. द्वारा रचित श्री शान्तिनाथजी का स्तवन पक्का करें ।

“मान-अपमान चित्त समगणे, सम गणे कनक-पाषाण रे;

वन्दक-निन्दक सम गणे, इस्यो होय तू जाण रे ।”

चित्त को तनिक विषम नहीं होने देना वह सम सामायिक है । ऐसा साधक प्रशंसा सुनने पर चले जाते हैं और स्वयं की निन्दा सुनने पर प्रसन्न होते हैं ।

वे मानते हैं कि गेहूं में से कंकड़ निकालने वाला तो महान् उपकारी है । उस पर क्रोधित होने का तो प्रश्न ही नहीं है ।

‘निन्दक नियरे रखिये’ - इसी अर्थ में कहा गया है ।

हमारा लेबल ‘क्षमाश्रमण’ का है, परन्तु भीतर माल क्या ‘समता’ का है ? ऊपर आकर्षक पैकिंग हो और भीतर माल नहीं हो तो आप क्या कहेंगे ? समता-विहीन हमें लोग क्या कहेंगे ?

माध्यस्थ भाव से समता की सुगन्ध आती है ।

✱ भगवान् ऐसे भोले नहीं हैं कि तुरन्त ही मिल जायेंगे । उनको मिलने के लिए अत्यन्त तड़पन, अत्यन्त ही लगन चाहिये । देखो पू. आनन्दधनजी म.सा. कहते हैं -



पदवी प्रसंग, मद्रास, वि.सं. २०५२, माघ शु. १३

२९-४-२०००, शनिवार
वै. कृष्णा-१० : पालीताणा

* प्रभु-वचन अमृत है, जो हमें शाश्वत-पद प्रदान करता है। प्रभु के नाम, दर्शन, आगम, शुद्धात्म द्रव्य-चिन्तन, केवलज्ञान, ध्यान आदि से हमारे भीतर पवित्रता का संचार होता है।

पानी की तरह प्रभु जगत् को निर्मल बनाने का कार्य करते रहते हैं। प्रभु पवित्र होने के कारण उनका ध्यान हमारे भीतर पवित्रता लाता है। चन्दन शीतल है, उसका विलेपन हममें शीतलता लाता है। पानी ठण्डा है। उसका पान हमारे भीतर ठण्डक लाता है। पुद्गल का भी इतना प्रभाव होता है तो भगवान का प्रभाव क्यों नहीं होगा ?

* पुद्गल के परमाणु (कर्म के अणु आदि) में भी कितनी एकता है ? वे कैसा कैसा निर्माण करते हैं ? शरीर, स्वर, पुन्य-पाप का समय आदि कर्म के अणु में फिट हो जाते हैं। यह कैसा आश्चर्य है ?

‘कर्म का, पुद्गल का यह व्यवस्थित आयोजन है, जीव को संसार में जकड़ रखने का !’ उक्त आयोजन को उत्थ गिराने का कार्य इस साधना के द्वारा करना है।

* विहार में धीमी गति से चलें तो ठण्डे प्रहर में नहीं पहुंच सकते । मोक्ष की साधना में यदि विलम्ब करेंगे तो मोक्ष में शीघ्र नहीं पहुंच पायेंगे ।

प्रश्न - आपके समान वेग हम में क्यों नहीं आता ?

उत्तर - किसका वेग अधिक है ? इसका निर्णय भगवान के अतिरिक्त कौन करेगा ?

हम आचार्य हैं, आप श्रावक हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम ही मोक्ष में शीघ्र पहुंचेंगे । पू. हेमचन्द्रसूरि म.सा. आचार्य थे, फिर भी कुमारपाल उनसे पहले मोक्ष में जायेंगे ।

धर्मनाथ भगवान की सभा में प्रश्न पूछा गया कि सबसे पहले कौन मोक्ष में जायेगा ? भगवान ने कहा - 'चूहा ।'

कितने ही केवली, आचार्य, उपाध्याय आदि बैठे होते हुए भी पहले मोक्षगामी का पद चूहे ने प्राप्त कर लिया ।

कौन प्रथम मोक्ष में जायेगा ? किसकी साधना वेगवती है ? इसका निर्णय प्रभु के केवलज्ञान में हो वही सच्चा ।

मोक्ष-मार्ग में वेग बढ़ाने की बात जाने दें । सर्व प्रथम हमें यह सोचना है कि मोक्ष-मार्ग में प्रवेश तो हो गया है न ? यदि प्रवेश ही नहीं हुआ हो तो वेग कैसे आयेगा ? मिथ्या मार्ग पर हों और वेग बढ़ जाये तो भी क्या लाभ ?

मार्ग पर चल रहे हों और पुनः पुनः वही मील का पत्थर आता हो तो ? तो समझना चाहिये कि हम गलत हैं या तो मार्ग में कोई गड़बड़ है ! उस प्रकार यहां भी समझें ।

* प्रभु का स्वभाव है - सेवक के कष्ट निवारण करना । चन्दन शीतलता प्रदान करता है, अग्नि उष्णता प्रदान करती है ।

पुद्गलों में भी ऐसी शक्ति हो तो भगवान में शक्ति न हो यह बने भी कैसे ?

“चंदन शीतलता उपजावे, अग्नि ते शीत मिटावे;

सेवक ना तिम दुःख गमावे, प्रभु-गुण प्रेम-स्वभावे ।”

* पूर्ण गुणों से युक्त भगवान भी यदि अभिमान नहीं करते हों तो हमारे जैसे अपूर्ण व्यक्तियों को तो अभिमान करने का अधिकार ही कहाँ है ? चाहे हमें कोई कितने ही विशेषणों से युक्त करे,

समाचार पत्रों में फोटो दे या चाहे जो करे, लेकिन हमारी वास्तविकता में उससे कितना फर्क पड़ेगा ?

* जीवन यापन करने के लिए आवश्यक क्या है ? भोजन, आवास, वस्त्र, पानी और हवा; ये सभी पदार्थ क्रमशः अधिकाधिक आवश्यक हैं । इनके बिना जीवन नहीं चलेगा ।

धर्म-साधना में भी छः आवश्यक (आवश्यक याने अत्यन्त जरूरी) है - सामायिक, चउविसत्थो, वांदणे, प्रतिक्रमण, काउस्सग्ग एवं पच्चक्खाण ।

वस्त्र एवं आवास के बिना फिर भी चल सकता है, परन्तु क्या वायु के बिना चलेगा ? वायु के स्थान पर यहां सामायिक है । सामायिक (समता) के बिना साधना में प्राण नहीं आता ।

* राजुल नारी रे सारी मति धरी, अवलंब्या अरिहंतोजी;

उत्तम संगे रे उत्तमता वधे, सधे आनन्द अनंतोजी ।

राजुल ने वीतरागी का संग किया, अरिहंत का आलम्बन किया । परिणाम क्या हुआ ? उत्तम पद प्राप्त हुआ । उत्तम के आलम्बन से उत्तमता बढ़ेगी ही ।

प्रभु ऐसे महिमामय हैं । उनकी महिमा समझने के लिए शक्रस्तव का पाठ करने योग्य है । वे विशेषण केवल प्रभु की महिमा के ही द्योतक नहीं हैं, परन्तु प्रभु के उपकार को भी बताने वाले हैं । प्रभु की यह उपकार-सम्पदा है ।

प्रभु का ऐसा स्वरूप जानने से हमें वह अनन्य शरण प्रतीत होते हैं, प्रभु के चारित्र के प्रति अनन्य प्रेम जागृत होता है, प्रभु के उपकार के प्रति हृदय झुक जाता है ।

“प्रभु-उपकार गुणे भर्या, मन अवगुण एक न समाय रे ।”

परन्तु क्या ऐसे उपकारी प्रभु याद आते हैं ? शरीर याद आता है, परन्तु क्या प्रभु याद आते हैं ? शरीर के लिए कितने भी दोष सहन करने के लिए तत्पर हैं, परन्तु प्रभु के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार नहीं हैं ।

* प्रभु तो हमारा उद्धार करने के लिए निरन्तर तत्पर हैं । वे करुणा की वृष्टि कर रहे हैं । सूर्य की तरह उनकी करुणा का प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है । आवश्यकता है केवल उनके सन्मुख होने की ।

प्रभु-भक्तों ने प्रभु का यह स्वरूप छिपाया नहीं है । अन्य व्यक्ति भी प्रभु की सम्पदा प्राप्त करें, प्रभु के रागी बनें, इसीलिए अपनी कृतियों में यह सब उडेल दिया है ।

जब तक हम गुण-सम्पन्न न बनें, तब तक प्रभु को छोड़ने नहीं हैं । इतना संकल्प कर लें ।

मैं स्वयं सोचूं - मुझमें समता की कितनी कमी है ? जब मन विषमता से भर जाये, समता चली जाये तब मैं प्रभु को याद करता हूं । मुझमें समता यदि इतनी अशक्त हो तो मैं प्रभु को कैसे छोड़ सकता हूं ?

प्रभु का नाम लेते ही भक्त को प्रभु का स्मरण हो जाता है, उपकारों की वृष्टि याद आती है । हृदय गदगद हो जाता है । भक्त निर्भय है, मुझे किस बात की चिन्ता ? प्रभु यदि मेरे घर में है तो मोहराजा की क्या शक्ति कि वह भीतर प्रविष्ट हो सके ?

‘तुझ मिल्ये स्थिरता लहूँ’ प्रभु ! आप मिलते हैं और मेरा चित्त स्थिर बनता है ।

बालक की तरह भक्त भगवान में माता का रूप देखता है - प्रभु, आप जाते हैं और मैं माता-विहीन बालक की तरह निराधार बन जाता हूं ।

प्रभु, आप निकट हैं तो जगत् की समस्त ऋद्धि निकट है । आप जाते हैं तब सब कुछ चला जाता है ।

प्रभु ! आपके चाहे अनेक भक्त हों, परन्तु मेरे तो आप एक ही हैं । हां, आपको यदि समय नहीं हो तो मुझे आप किसी अन्य का पता दीजिये जो मुझे आपके समान शान्ति प्रदान कर सके, परन्तु आपके समान अन्य है ही कौन ? भक्त के हृदय की ऐसी शब्द विहीन प्रार्थना हृदय में से सतत प्रवाहित होती रहती है ।

* सम्यक्त्व एवं चारित्र दोनों में से कोई एक पसन्द करने को कहे तो आप क्या पसन्द करेंगे ?

चारित्र को पसन्द करें, क्योंकि चारित्र में समकित आ ही जाता है । समकित रहित ‘चारित्र’ चारित्र ही नहीं कहलाता ।

मुक्ति हेतु प्रयाण में समकित एवं चारित्र दोनों आवश्यक हैं । चारित्र समकित युक्त हो तो ही मुक्ति प्राप्त करने में समर्थ है ।

प्राप्त चारित्र कितना निर्मल बना है ? इसका निरन्तर निरीक्षण करते रहें । चारित्र को बिगाड़ने वाले कषाय हैं । सर्व पथर्म उन्हें उदय में आने ही न दें । यदि उदय में आ जायें तो पश्चाताप के द्वारा उन्हें निष्फल बना दें । चारित्रशुद्धि का यह उपाय है ।

जिन-भक्ति, गुरु-सेवा, साधु-वेयावच्च, स्वाध्याय-तत्परता आदि चारित्र-शुद्धि के लिए अनन्य परिबल है ।

स्वाध्याय करने वाले अनेक व्यक्ति सेवा से कतराते हैं-
“ऐसे सेवा करते रहें तो अध्ययन कब करेंगे ?” यह सोचकर सेवा से दूर रहने वाले समझ लें कि ऐसा सूखा स्वाध्याय आपका कल्याण नहीं करेगा । ज्ञान कदाचित् फलदायी हो या न हो, परन्तु सेवा तो फलदायी बनेगी ही । इसीलिए वेयावच्च को अप्रतिपाती गुण कहा है ।

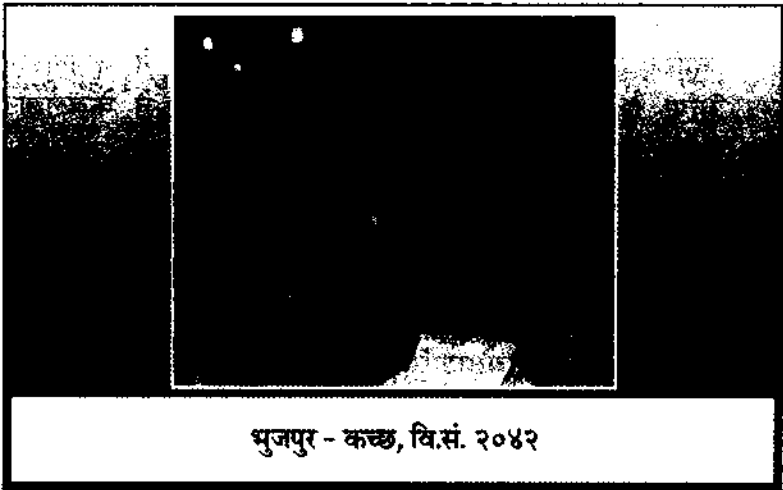
संघ की ओर से तो हम सेवा लेते रहें (श्रावक संघ अपनी कितनी भक्ति कर रहा है यह सोचा है ?) और बड़ों की सेवा न करें यह क्या आपको उचित प्रतीत होता है ? वृद्धों की सेवा तो अमृत है । इससे अनेक गुणों की वृद्धि होती है ।

हम कभी वृद्ध नहीं होंगे ? वृद्ध होने पर हमारी कोई सेवा नहीं करेगा तो क्या अच्छा लगेगा ? तो क्या हमें वृद्धों की सेवा नहीं करनी चाहिये ? किसी की सेवा करनी नहीं और सबकी सेवा लेने की इच्छा करनी कहाँ का न्याय है ?

वृद्धों के स्थान पर आप स्वयं को कल्पना से लगा कर देखें, तो आपको सब कुछ समझ में आ जायेगा ।

“मैं वृद्ध हो गया हूँ । मेरी कोई सेवा नहीं करता ।” आप ऐसी कल्पना करें । उस समय आप अपने हृदय की धड़कन देखें । मेरी ऐसी दशा हो तो वह मुझे उचित नहीं लगता तो दूसरों की दशा मुझे प्रिय लगती है, क्या यह ठीक है ? इस प्रकार स्वयं को पूछते रहें ।

* किसी समय चारित्र के परिणाम स्थिर रहने जैसे न हों तब भी श्रद्धा तो बनाये ही रखें । श्रद्धा-समकित होगा तो चारित्र आयेगा ही । परन्तु चारित्र (केवल वेष) हो और समकित न हो तो वैसा चारित्र मोक्ष प्रदान नहीं करेगा ।



भुजपुर - कच्छ, वि.सं. २०४२

३०-४-२०००, रविवार
वै. कृष्णा-११ : पालीताणा

* सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य तीनों मिल कर मोक्ष मार्ग बनता है। इन तीनों की आराधना करने पर मोक्ष प्राप्त होता है। तो क्या मेरे जीवन में सम्यग् दर्शन है ? सम्यग् ज्ञान है ? तो देखो। सम्यग् दर्शन नहीं आये तब तक ज्ञान भी अज्ञान है, क्योंकि सम्यग् दर्शन रहित ज्ञान आत्मा के दोषों का निवारण नहीं करता। आत्मा को जो प्रेरणा प्रदान करे वह ज्ञान है।

आज तक हमारा अनन्त काल निष्फल गया, क्योंकि यह मार्ग मिला नहीं।

* ज्ञान विनय से ही आता है। विनय सीख लिया तो ज्ञान आयेगा ही। जितने अंशों में विनय का अभाव होगा, उतना ज्ञान का अभाव होगा।

गौतम स्वामी में पूर्ण विनय था। उनके शिष्य भी कितने विनयी थे ? गुरु अपनी योग्यतानुसार ही मिलते हैं। योग्यता होगी तो इस जन्म में भी सद्गुरु मिल जायेंगे। सद्गुरु मिल जाये पर मैं उन्हें नहीं मानूँ तो ? इसीलिए हम 'जयवीरराय' में बोलते हैं कि सद्गुरु का योग मिले और उनके वचनों को मैं 'तहति' कह

कर सम्मान दूँ । जो गुरु के वचनों को 'तहत्ति' करता है, वह भगवान के वचनों को भी 'तहत्ति' करता है, क्योंकि गुरु एवं भगवान भिन्न नहीं हैं ।

चारित्र में स्थिरता गुरु की कृपा से आती है । आगमों में लिखा है कि आप यदि आत्म-कल्याण चाहते हो तो किसी भी दिन गुरुकुल को मत छोड़ना । उन्हें धन्य है जो आजीवन गुरुकुल में रहकर गुरु के वचनों का पालन करते हैं । जो गुरु मिले हों, उनके वचनों का यदि पालन करें तो अवश्य कल्याण होता है ।

पहले गुरु मिले होंगे, परन्तु उनके वचनों का पालन नहीं किया । इसीलिए कल्याण नहीं हुआ । भोमिया मार्ग बताता है और मंजिल तक पहुँचाता है, उसी प्रकार से भव-अटवी में परिश्रमण करते जीव को गुरु मुक्ति तक पहुँचाते हैं, परन्तु गुरु की बात माननी पड़ती है । भोमिया उधर चलने का कहे और आप कहो कि मैं तो इधर ही चलूँगा, तो क्या होगा ? भटकना पड़ेगा न ? पहुँचने में विलम्ब होगा न ? भोमिया समझाता है - महाराज साहेब ! इस मार्ग से चलने जैसा नहीं है, कांटे आयेंगे; परन्तु हम इन्कार करते हैं । उस प्रकार क्या हम गुरु के कथनानुसार करते हैं ?

धन्य हैं वे जो गुरु के दिल में शिष्य के रूप में बस जायें । इतने विनय आदि गुण प्राप्त किये हों उसे गुरु भी याद करते हैं कि वह भाग्यशाली कहाँ गया ?

* इस पयत्रा में सम्पूर्ण नींव इतनी सुदृढ़ बताई है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की ओर हमारी गति हो । गन्ने के किस भाग में मधुरता नहीं है ? गुड़ के कौन से कणों में मधुरता नहीं है ? इन जिन-वचनों का कौन सा भाग मधुर एवं गुणकारी नहीं है ? जिसके प्रत्येक वाक्य में मधुरता है, यह जानने के बाद भी क्या आप उसका स्वाध्याय किये बिना रहेंगे ?

मधुरता में शर्करा के समान कोई पदार्थ नहीं है, उस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में जिन-वचनों के समान मधुर कुछ भी नहीं है । देशी से या शीघ्रता से अटवी पार करनी हो तो भोमिया (पथ-दर्शक) के कथनानुसार ही चलना पड़ता है । उस प्रकार यह

संसार रूपी अटवी पार करनी हो तो जिन वचन मानने ही पड़ेगे ।
 “इच्छानुसार ही करुंगा” - यह मोह परतंत्रता है । इसका निग्रह
 हो तो ही गुरु-परतन्त्रता आयेगी ।

आगमों के अभ्यासी बने हुए भी कई गुरु की निश्रा में नहीं
 रहे, वैसी अनेक आत्माएँ भटक गई हैं । चौदह पूर्वी भी अनन्त
 संसारी बन गये हैं । गोशाला भी अन्त में कहेगा कि गुरु की
 आशातना करने के कारण मैं इतना भटका ।

वि. संवत् २०२७ में आधोई में चौमासा हेतु प्रवेश था, तब
 पूज्य दर्शनविजयजी म.सा. दोपहर के दो बजे तक नहीं आये ।
 चिन्ता हुई । जांच कराई तो पू. दर्शनविजयजी महाराज धरणा के
 पादर से दिशा-भ्रम के कारण पुनः लाकड़िया पहुँच गये थे ।
 लाकड़िया से ही हमने विहार किया था । जहाँ से चले थे, पुनः
 वहीं पहुँच गये ।

हमने भी प्रत्येक जन्म में ऐसा ही किया है । जानकार व्यक्ति
 की सलाह मानी नहीं, स्वच्छन्द मति के अनुसार चलते ही रहे,
 तो घाँची के बैल की तरह वहीं के वहीं रहे । अतः जीवन में
 गुरु के वचनों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये ।

गुरु में ज्ञान अल्प हो तो भी उनके प्रति श्रद्धा फलदायी
 बनती है । पू. उपा. यशोविजयजी महाराज ज्ञानी थे कि उनके
 गुरु ज्ञानी थे ? फिर भी देखो तो सही । पाँच गाथाओं का स्तवन
 होगा तो भी उसमें अपने गुरु का नाम उन्होंने लिखा है । क्या
 हमारा भाव ऐसा है ?

* इस ग्रन्थ की कितनी प्रशंसा करें ? इस ग्रन्थ का संकल्प
 है - हमें मोक्ष में पहुँचाना ।

चारित्र मिल गया है तो अब उसे विशुद्ध क्यों न बनाया जाये ?

* पाँच समिति - तीन गुप्ति में सतत उपयोग के बिना
 इन अष्ट-प्रवचन माताओं का पालन नहीं होता । प्रवचन-माता नहीं
 होती तो प्रवचनों की उत्पत्ति नहीं होगी । प्रवचन-माता न हों तो
 चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती । माता के बिना क्या पुत्र की उत्पत्ति
 सम्भव है ? क्या पुत्र बड़ा हो जायेगा ? इसीलिए इनका नाम
 अष्ट प्रवचन-माता दिया गया ।

जिसके जीवन में ये पांच समिति और तीन गुप्ति नहीं है, उसके जीवन में संयम कैसे हो सकता है ?

संयम की विशुद्धि कहां से प्राप्त करें ? अष्ट प्रवचन माता से ।

माता ने पुत्र को जन्म दे दिया, परन्तु उसे संभालने वाला ही न हो तो ? शैशवावस्था में माता पुत्र को अन्न नहीं खिलाती, परन्तु स्तन-पान कराती है । बाहर का दूध भी नहीं पिलाती । हम सब माता की गोद खूंद कर आये हैं । जिसको माता के प्रति इतना प्रेम है, वह क्या माता की उपेक्षा करेगा ? यदि उपेक्षा करे तो क्या वह जगत् में प्रसिद्धि प्राप्त करेगा ? क्या उसका विकास होगा ?

तो फिर चारित्र्य रूपी रत्न प्रदान करने वाली माता को क्या हम भूल जायें ? हरिभद्रसूरिजी ने योग ग्रन्थों में कहा है कि आत्म-संप्रेक्षणा भी एक योग है । वचनों के अनुसार तत्त्वों का चिन्तन करना योग का प्रारम्भ है । गुरु-भक्ति के प्रभाव से उन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की जो संघ का योगक्षेम करने वाले ग्रन्थ हैं । ऐसे महान् विद्वान की भी समिति-गुप्ति कैसी ? वे निश्चय एवं व्यवहार दोनों में पारंगत थे । उनकी प्रत्येक पंक्ति में निश्चय सापेक्ष व्यवहार है । व्यवहार की आराधना के बिना निश्चय नहीं मिलता । आई हुई आराधना उसके बिना नहीं टिकती । व्यवहार चारित्र्य की उपेक्षा करते हैं अतः आत्म-रमणता रूप निश्चय चारित्र्य हमें प्राप्त नहीं होता । ध्यान-समाधि की बातें कदाचित् न आयें, फिर चिन्ता न करें । समिति-गुप्ति की पालन बराबर करें तो उसमें भी ध्यान आदि आ ही जाते हैं ।

समिति प्रवृत्ति प्रधान है, जिसमें जयणापूर्वक की गई क्रिया मुख्य है । गुप्ति निवृत्ति प्रधान है, यद्यपि गुप्ति प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों स्वरूप हैं ।

भाषा समिति का बराबर पालन किया तो वचन-गुप्ति आयेगी ही । उसके फल स्वरूप मनोगुप्ति भी आने वाली ही है ।

✱ गोचरी दोष लगा कर लाये तो प्रमाद आयेगा ही ।

एक आचार्य ने अपने विनीत-अप्रमादी शिष्य को दोपहर के

समय दो-तीन घंटे तक निद्राधीन देखकर सोचा, “कदापि नहीं और आज यह प्रमाद क्यों ?”

उसे जगा कर पूछा, “आज वहोरने के लिए कहां गये थे ?”

“नित्य जाता हूं वही गया था ।”

“क्या कोई नवीन वस्तु लाये थे ?”

“आज मैं सुगन्धित चावल लाया था ।”

सायंकालीन प्रतिक्रमण में श्रावक आये तब पूछा, “आपके घर पर सुगन्धित चावल कहां से आये ?”

गुरु महाराज के समक्ष असत्य कैसे बोला जाये ?

श्रावक ने कहा, “आज जिनालय में किसी यात्री ने सुगन्धित चावलों से स्वस्तिक किया । उनसे चार-पांच गुने चावल डाल दूंगा । यह सोच कर मैं वे चावल घर ले आया, पकाये और वहोरा दिये ।

गुरु महाराज बोले, “गजब हो गया, ऐसा करना चाहिये ?”

गुरु ने शिष्य को प्रायश्चित्त दिया और उसे वमन कराया ।

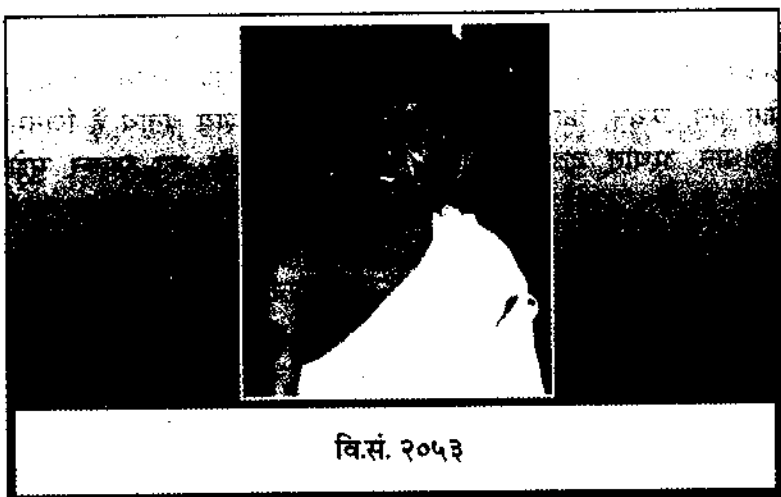
हमारे जीवन में क्या ऐसा होता है ? उन्माद उत्पन्न होता है, कुविचार आते हैं वे कहां से आते हैं ? जितने दोष लगाते हैं, उनमें से आते हैं ।

* अष्ट प्रवचन माता की ढाले कितनी अच्छी हैं ? उन पर मैंने आधोई में वाचना दी थी ।

समिति-गुप्ति के साथ जो राग-द्वेष नहीं करता, उसकी विशुद्धि होती है । पूर्णतः विशुद्धि नहीं फिर भी विशुद्धि के संस्कार पड़ेंगे तो आगामी जन्म में भी ये संस्कार साथ आयेंगे ।

* गुणों का संक्रमण होता है । अपने आचार्य देव पू. कनकसूरिजी महाराज विशुद्ध चारित्र पालते थे, अतः ऐसा विशुद्ध चारित्र पालने की हमें इच्छा होती है । वे स्वयं तो बोलने में जयणा रखते ही, परन्तु सामने वाला व्यक्ति बातें करें तो वह भी जयणा रखता था । ऐसे महात्मा अपने जीवन के द्वारा बताते थे कि चारित्र क्या है ?

* प्रवचन-माता के सम्बन्ध में सुनने को मिले, पढ़ने को मिले तब पता लगे कि प्रवचन-माता का इतना मूल्य है !



१-५-२०००, सोमवार
 वै. कृष्णा-१२ : पालीताणा

* प्रभु भले मोक्ष में गये, परन्तु उनका तीर्थ यहां है । अतः मुक्ति का मार्ग जानने एवं आचरण करने के लिए मिलता है । महापुरुषों की परिणति देखकर होता है कि मुझे भी इस मार्ग पर चलना चाहिये ।

मार्ग में भी जिस मार्ग से हम जाते हैं, उसी मार्ग से अन्य लोग भी जाते हैं तो हम कितने निर्भय रहते हैं ?

इस मुक्ति-मार्ग पर चलते समय अनेक महापुरुष हमें हिम्मत देते हैं । मार्ग पर चल कर वे महापुरुष हमें बताते हैं कि आओ, इस मार्ग पर आओ ।

* यदि प्रभु के साथ प्रेम-सम्बन्ध जोड़े तो अवश्य उन्हें मिलने का हमारा मन होगा । व्यवहार में भी प्रिय पात्र हमसे दूर हो तो भी हम उसके नाम पत्र लिखते हैं, समाचार मंगवाते हैं; परन्तु क्या प्रभु के साथ प्रेम बांधा है, जोड़ा है ?

प्रभु के साथ प्रेम बांधने का यही चिह्न है कि उनके मार्ग पर चलने का मन हो ।

* आज परोपकार सिखाना पड़ता है । प्राचीन काल में

तो स्वाभाविक तौर पर जीवन में ही परोपकार था । जैन संघ में ही नहीं, प्रत्येक जाति में, मानव मात्र में परोपकार था । खेत में भी किसान पानी की प्यास लगाने पर पानी के बजाय गन्ने का रस पिलाता था । आज भी अनेक व्यक्ति कुत्तों को रोटी, पक्षियों को दाना, गरीबों को अन्न देते हैं । इस कार्य में वे लाखों रूपये व्यय करते हैं ।

“परोपकार मेरा ही कार्य है । मेरी चिन्ता मुझे है । उस प्रकार जीव मात्र की मुझे चिन्ता करनी है । कम से कम समुदाय की चिन्ता तो करूं । इस प्रकार की भावना सब में जागृत हो तो एक भी समस्या उत्पन्न नहीं होगी ।”

शरीर के किसी भी भाग में पीडा हो तो तुरन्त ही डाक्टर को बुला कर उपचार कराते हैं । जिस प्रकार शरीर की चिन्ता करते हैं, उस प्रकार संयम आपका देह है । उस पर कोई प्रहार न लगे, चोट न लगे, वह मलिन न बने उसकी सावधानी रखनी चाहिये ।

✱ जीव चार प्रकार के हैं -

चारित्र अंगीकार करते समय शूर वीर, परन्तु फिर कायर ।

चारित्र लेते समय कायर परन्तु फिर शूर वीर ।

चारित्र ग्रहण करते समय शूर वीर और पालन करते समय भी शूर वीर ।

चारित्र अंगीकार करते समय कायर और पालन करते समय भी कायर ।

हम कैसे हैं ?

✱ मन से, वचन से, काया से किसी भी जीव की हिंसा नहीं करूंगा, न करऊंगा, करनेवाले का अनुमोदन नहीं करूंगा । यह ‘करेमि भंते’ की हमने प्रतिज्ञा ली है, उसमें क्या कमी रहेगी ? कमी रहे तो क्या हमारे दिल पर चोट लगती है ?

दो पहलवान कुश्ती कर रहे थे । कई दिनों तक उनकी कुश्ती चलती रही । जब दिन भर कुश्ती कर के वे पहलवान अपने-अपने स्थान पर पहुँचते तब उनके सेवक उन्हें पूछते कि आपको कहां चोट लगी है ? देह के किस भाग में प्रहार हुआ है ? एक

पहलवान सब बताता तब उसके सेवक उन उन स्थानों पर मालिश करते, मरहम लगाते, ताकि पुनः देह में स्फूर्ति आ जाये; परन्तु यदि पहलवान अपने सेवक को देह पर लगी चोट एवं लगे घावों के सम्बन्ध में कुछ बताये ही नहीं और कहे कि मुझे कुछ नहीं हुआ । मैं तो वीर हूँ, शक्तिशाली हूँ, ऐसा कह दे तो क्या उसकी देह में पुनः स्फूर्ति आयेगी ? अभिमान में रह कर जिसने नहीं बताया उसकी पराजय हुई । इसी तरह से चारित्र में भी अतिचार लगे तो तुरन्त गुरु के समक्ष बताकर प्रायश्चित ले लेना चाहिये ।

* चारित्र पर इतना अधिक बल क्यों दिया गया है ? मुक्ति के शाश्वत सुख की इच्छा हो तो चारित्र पालना ही पड़ता है । चारित्र इस भव में भी जीवन-मुक्ति का आनन्द प्रदान करता है । देवों तथा चक्रवर्तियों को भी जो प्राप्त न हो वह आनन्द इस चारित्र में प्राप्त होता है ।

ज्ञानसार में साधु के आनन्द के लिए 'तेजोलेश्या' शब्द का प्रयोग हुआ है । तेजोलेश्या अर्थात् आत्मिक सुख की अनुभूति । स्वयं को ही इस का पता लगता है परन्तु दूसरे को उसका तेज देख कर और उसके जीवन-व्यवहार से पता लगता है ।

आत्म-तत्त्व का स्पर्श चारित्रवान् आत्मा करता है । सम्यग्ज्ञान वाला आत्मा जानकारी प्राप्त कर सकता है । सम्यग्दर्शनी को श्रद्धा होती है परन्तु चारित्रवान् ही उसका अनुभव कर सकता है ।

* ज्ञान-दर्शन-चारित्र मुक्ति का मार्ग है । जितनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र प्राप्ति में कमी उतनी आत्म-विकास में कमी और जितनी ज्ञान-प्राप्ति में कमी, उतनी दर्शन में कमी ।

आत्मा ही दर्शन है और दर्शन ही आत्मा है ।

आत्मा ही चारित्र है और चारित्र ही आत्मा है ।

वस्तु एवं वस्तु के नाम भिन्न होते ही नहीं हैं । वस्त्र एवं वस्त्र की श्वेतता भिन्न होती ही नहीं । गुण-गुणी में अभेद है, उस प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र से आत्मा को भिन्न नहीं कर सकते । जड़ में यह नहीं मिलता । जीव मात्र में यह होता है उस प्रकार जीव के अतिरिक्त कहीं भी नहीं होता । हमारी जो प्रवृत्ति है वह ज्ञान-दर्शन के लिए ही है न ? आत्म-कल्याण की ही है न ?

क्षीरकदंबक गुरु ने तीनों को कहा था - इस मुर्गे का वध करना परन्तु जहां कोई न देखता हो वहां वध करना । पाप करने की छूट भी जहां कोई न देखे वहां । नारद को लगा, “मुझे भगवान देख रहे हैं, मैं मुर्गा कैसे मार सकता हूं ?” अन्य दोनों को यह विचार नहीं आया ।

अब आपको कितने देख रहे हैं ? आपको अनन्त सिद्ध, बीस विरहमान, दो करोड़ केवली - ये सभी देख रहे हैं । तो हम कैसी प्रवृत्ति करेंगे ? हम नारद के समान हैं या अन्य दो विद्यार्थियों के समान हैं ?

✱ इस चारित्र का बराबर पालन करें तो मोक्ष का सर्टिफिकेट (प्रमाण-पत्र) प्राप्त हुआ कहलायेगा । आपको दीक्षा, बड़ी दीक्षा प्रदान की, जोग कराये, अतः भगवान की ओर सै प्रमाणपत्र दिया गया कहलायेगा ।

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर आप मोक्ष के अधिकारी बन गये । संघ में कोई यात्री अपना ‘पास’ खो डाले तो उसे कोई जिमायेगा नहीं, प्रभावना भी नहीं देगा । हम सम्यग् दर्शन का सर्टिफिकेट खो देंगे तो मोक्ष प्राप्त नहीं होगा । इसीलिए कहता हूं - इसे संभालना । प्राप्त किये हुए महाव्रतों को बराबर संभालना । रोहिणी की तरह दूसरों को भी देना ।

पांच सभितियों और तीन गुणियों का पक्का पालन करोगे तो यह चारित्र रूपी ‘पास’ बराबर संभाल पाओगे ।

✱ कुमारपाल महाराज ने भूतकाल में मांसाहार किया था । एक बार घेवर खाते समय उसमें मांस जैसा स्वाद आया और वे चौंके - ‘मुझे यह याद क्यों आया ?’ घेवर में मांस की स्मृति हुई, इसका प्रायश्चित दीजिये । हेमचन्द्रसूरिजी ने प्रायश्चित में ३२ जिनालयों का निर्माण कराने का कहा और ३२ दांतों को दण्ड स्वरूप ‘योग-शास्त्र’ के १२ और ‘वीतराग स्तोत्र’ के २० प्रकाश का नित्य स्वाध्याय करने को कहा ।

अइयं निंदाभि = गन्दी वस्तुएँ त्याग दी हों तो भी याद आती हैं । तो इस समय यह मेरी पापी आत्मा नहीं है । इस समय तो मैं भगवान का साधु हूं । हो चुके पापों की निन्दा करता हूं ।

रक्षा करनी चाहिये । यही सामायिक है । साधु को भी जीवरशि के साथ ऐसा अभेद भाव हो तो प्रभु को तो जीव-रशि के साथ कैसा अभेदभाव होगा ? किसी भी एक जीव को दुःख दें तो प्रभु को दुःख दिया कहा जायेगा । प्रजा के किसी भी सदस्य का अपमान राजा का अपमान कहलाता है । किसी भी जीव का अपमान भगवान का अपमान कहलाता है ।

‘सर्वलोअभाविअप्पभाव ।’ ‘अजित शान्ति’ में से यह भगवान का विशेषण समस्त जीवरशि के साथ प्रभु के अभेदभाव का द्योतक है ।

प्रभु ने जो आज्ञा दी है उसका पालन न करें तो प्रभु का अनादर होता है ।

इस तीर्थ की स्थापना भगवान ने की है, अतः यह शासन प्रभु का कहलाता है । आप इस समय जिस कुटिया में रहते हैं वह कुटिया आपकी कहलाती है, आपके शिष्य आपके कहलाते हैं, तो भगवान ने जिन्हें श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी के रूप में स्थापित किया, वे क्या भगवान के नहीं कहलायेंगे ? अतः संघ का अनादर भगवान का ही अनादर हुआ ।

भव-परिभ्रमण का मूल कारण कोई हो तो प्रभु का अनादर ही है । इसीलिए ‘पगामसज्झाय’ में ३३ आशातनाओं का उल्लेख है । समस्त जीव-रशि की भी आशातना बताई है ।

आपको क्या ऐसा लगता है कि गुरु की आशातना मेरे परमात्मा की आशातना है ? भगवान के प्रति बहुमान होने से भवनिर्वेद आता है । भगवान के प्रति बहुमान हुए बिना किसी भी जीव को कोई गुण प्राप्त नहीं होता । इसीलिए मानें कि समस्त गुणों के दाता भगवान हैं । प्रश्न उठेगा कि गुण तो हमने उत्पन्न किये वे भगवान के द्वारा प्रदत्त कैसे कहलायेंगे ?

भोजन की क्रिया भले ही आपने की परन्तु भोजन में यदि भूख मिटाने की शक्ति न हो तो ? पत्थर खाने से क्या भूख मिटती है ?

उस प्रकार भगवान थे तो बहुमान हुआ न ? बहुमान भले ही अपनी आत्मा में हुआ परन्तु यदि भगवान नहीं होते तो क्या बहुमान होता ? भगवान नहीं होते तो क्या गुण आते ?

* हमने चारित्र तो अंगीकार कर लिया है, परन्तु उसमें आनन्द क्यों नहीं आता ? हम प्रभु-भक्ति-रूप उसका उचित उपाय जानते नहीं हैं, अतः आनन्द नहीं आता । जितनी प्रभु की भक्ति बढ़ती है उतनी श्रद्धा बढ़ती है, आत्मानुभूति का द्वार खुलता है ।

भगवान की भक्ति करने से समता आती है । समता का दूसरा नाम सामायिक है और योग में समता का नाम समापत्ति है । समापत्ति अर्थात् भगवान के साथ सम्पूर्ण एकता ।

कहां हमने भूल की ? आए हुए चारित्र में आनन्द तो नहीं आता, परन्तु आनन्द नहीं आने का दुःख भी नहीं है ।

घडियाल खो गई हो तो तुरन्त चिन्ता होती है । उसके उपाय करते हैं, परन्तु समता खो गई हो तो उसकी चिन्ता होती है क्या ? समता-समाधि को रोकनेवाले विषय-कषाय हैं । अनुकूल विषय मिलने पर राग होता है । प्रतिकूल विषय आयें तो द्वेष होता है । दाल तो लाये, परन्तु पानी-छिलके अलग हैं । बनाने वाले के प्रति द्वेष होता है । अच्छी दाल हो तो राग होता है । ऐसे राग-द्वेष नहीं आयें वह समता कहलाती है । इन्द्रियों पर विजय की हो तो कषाय नहीं आते । मन को चंचल करने वाले ये विषय-कषाय ही हैं ।

अच्छी तरह समितियों का पालन करने से पांच इन्द्रियों पर विजय मिलती है और गुप्तियों का पालन करने से मन पर विजय प्राप्त होती है ।

ॐ ॐ ॐ

पांच नमस्कार

१. प्रहास नमस्कार - मजाक से अथवा ईर्ष्या से नमस्कार करना ।
२. विनय नमस्कार - माता-पिता आदि को विनय से नमन करना ।
३. प्रेम नमस्कार - मित्रों आदि को प्रेम से नमन करना ।
४. प्रभु नमस्कार - सत्ता आदि के कारण राजा को नमन करना ।
५. भाव नमस्कार - मोक्ष के लिए देव-गुरु आदि को नमन करना ।



अपने दो पट्ट शिष्यों के साथ चैत्यवन्दन

३-५-२०००, बुधवार

वै. कृष्णा-१४ : पालीताणा

* आत्मा के गुण कर्मों से दबे हुए हैं वे वैसे ही प्रकट नहीं होते । गेहूं पौधे पर पकते हैं उस प्रकार रोटी पौधे पर नहीं पकती । उसके लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है । उस प्रकार गुणों को प्रकट करने के लिए भी पुरुषार्थ करना पड़ता है । गुण कहीं भी गये नहीं हैं । हमारे भीतर ही विद्यमान हैं । बैक-बेलेन्स मौजूद हैं । हमें उसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई । जिन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई उन महात्माओं ने उनका उपयोग किया । हमारे पास इतना आनन्द का और गुणों का खजाना है, फिर भी हम पुरुषार्थ क्यों नहीं करते ? क्या अरिहंत का यह वचन असत्य है, मिथ्या है कि आत्मा में ही पूर्ण गुणों का खजाना है ।

भगवान स्वयं के समान ही स्वरूप सभी जीवों का देख रहे हैं । अपने पास ही खजाना है फिर भी प्रयत्न क्यों नहीं होता ? सुना है कि धन यहां से प्राप्त हो सकता है, फिर आप रुकेंगे क्या ? उस प्रकार यह बात सुनकर भी यह आनन्द का अनुभव करने का विचार क्यों नहीं आता ?

“स्वामी दरिद्रता समो निमित्त लई निर्मलो,
जो उपादान ए शुचि न थाशे ।”

प्रभु ! तेरा शासन प्राप्त करने के बाद भी, तेरे समान मेरा आनन्द है यह जानने के बाद भी उसे प्राप्त करने का मन क्यों नहीं होता ? क्या कमी है मुझ में ? निर्मल एवं पुष्ट निमित्त आपका मिला है । आत्मा का एकान्त से हितकारी, इस लोक और परलोक में भी हितकारी ऐसा शासन मिला है, फिर भी क्यों उसमें पुरुषार्थ नहीं होता ? क्यों देव-गुरु-धर्म की आराधना नहीं होती ? क्या मेरा जीव अभव्य का होगा या दुर्भव्य का होगा ?

अभव्य जीव तो मोक्ष जाने का इनकार ही करता है । दुर्भव्य कहता है कि जाना तो है परन्तु अभी नहीं ।

* इस काल में मोक्ष नहीं है, चारित्र्य की विशुद्धि नहीं है, ऐसा संघर्ष आज नहीं है । यह सब स्वीकार है, परन्तु कम से कम प्रभु के दर्शन तो कर सकते हैं न ?

स्पष्टतर-स्पष्टतम दर्शन करने की तमन्ना जगी है ?

जो परमात्मा मोक्ष में है, महाविदेह में है, केवली भगवान के में है, वे ही परमात्मा मेरे देह में, सकल आत्म-प्रदेश में विद्यमान हैं । ऐसा जानने के बाद भी आप उनके दर्शन की तमन्ना नहीं करो ?

* आपकी धन-राशि बैंक में जमा हो, और आप यहां ‘चेक’ लिखकर बैंक में भेजो तो बैंक के केशियर को धन-राशि देनी ही पड़ती है । उस प्रकार आप की आत्मसम्पत्ति आपको मिलेगी ही । आप उसके हकदार हैं ।

* दर्पण के समक्ष जाकर खड़े रहो, तो आपको चेहरा तत्क्षण दिखाई देता है, उस प्रकार निर्मल चित्त में तत्क्षण प्रभु के दर्शन होते हैं । दर्पण में तो फिर भी प्रतिबिम्ब है । यहां साक्षात् प्रभु के दर्शन होते हैं ।

दर्पण निर्मल नहीं हो तो प्रतिबिम्ब निर्मल नहीं पड़ता, उस प्रकार चित्त निर्मल न हो तो प्रभु चित्त में नहीं आते । अब निर्मल बनने का पुरुषार्थ ही करना है । यह कब होगा ? मलिनता को दूर कौन करता है ? निर्मलता कौन लाता है ?

समता से चित्त निर्मल बनता है । चारित्रवान को ही यह वस्तु प्राप्त होती है । चारित्र में निर्मलता कषायों पर विजय से प्राप्त होती है । हमारी कमी कहां है, वह देख लो । निर्मलता को रोकने वाले, मलिनता लाने वाले ये कषाय हैं, जिन्हें हम छोड़ते नहीं हैं । गुरु महाराज को, गुरु भाइयों को, गुरु बहनों को छोड़ देते हैं, परन्तु इन कषायों को हम छोड़ते नहीं हैं । उपकारी कौन लगते हैं ? ये कषाय या गुरु महाराज ?

जमालि ने अपने ही गुरु भगवान महावीर को अहं के कारण छोड़ दिये । गौतम स्वामी एवं उनके पचास हजार शिष्यों को, अपने ७०० शिष्यों को केवलज्ञान हो गया, परन्तु जमालि जो निकट का रिश्तेदार था, मान के कारण रह गया । मान में लोभ भी है न ? लोभ केवल धन का नहीं होता, बड़प्पन आदि का भी लोभ होता है ।

हमने ऐसी भूलें कितनी की हैं ? कितनी बार पीछे रहे ? कषाय ऐसे बुरे हैं जो भले-भलों को पछाड़ देते हैं । चढ़े हुए को भी पछाड़ देते हैं । कषाय घटे तो समता प्रकट हो, आत्म-शुद्धि हो ।

आत्मा की शुद्धि करने वाली समता जितनी अधिक होगी, उतने प्रभु के दर्शन शीघ्र होंगे । अनन्तानुबंधी कषायों का निग्रह करके मन पर विजयी बन कर प्राप्त किये गये सम्यग्-दर्शन की जितनी शुद्धि होती है उतने प्रमाण में प्रभु दर्शन होते हैं ।

मां काम करती हो, परन्तु झूला (लोरी) गाती है, झूला हिलाती है, और बालक को लगता है क मां मेरे पास ही हैं; उस प्रकार चित्त में निर्मलता आने पर पता लगता है कि प्रभु समीप ही हैं । जो बच्चा मां के बिना रह नहीं सकता हो, उसे ऐसा अनुभव होता है । हम सब 'बड़े' हो गये अतः माता ने चिन्ता छोड़ दी । हमने माता को विश्वास दिलाया कि हमारी संभाल नहीं रखोगी तो चलेगा । माता को जवाबदारी से मुक्त कर दी, परन्तु क्या हमारी स्थिति ऐसी है ? क्या हम जवाबदारी निभा सके ऐसे हैं ?

गुरु की कब तक सेवा करें ? जब तक शिष्य क्षायिक भाव का प्रकाश प्राप्त न करे तब तक । फिर तो छोड़े न ? नहीं । १५०० तापस केवली बन गये फिर कहा नहीं कि हम जाते हैं ।



भीमासर - कच्छ, वि.सं. २०४६

४-५-२०००, गुरुवार
वै. कृष्णा-३० : पालीताणा

* अनन्त गुणों के भंडार महावीर भगवान ने विश्व के कल्याणार्थ तीर्थ की स्थापना की । जिस तीर्थ के द्वारा स्वयं तीर्थकर बने, उस तीर्थ का प्रभु उपकार मानते हैं । अपनी साधना के फल स्वरूप वे तीर्थकर बने । उन्होंने ने तीर्थ की स्थापना की । मेरे समस्त आत्म-बंधुओं का मुझ पर उपकार है । उसका बदला चुकाने के लिए इस तीर्थ की स्थापना आवश्यक है, इस प्रकार प्रभु तीर्थकर नामकर्म खपाते हैं ।

प्रभु संयम धर्म को ऐसा आत्मसात् करते हैं कि जो उन्हें दूसरे जन्म में ऐसी शक्ति प्रदान करता है कि उनके उपदेश से अन्य भी तीर्थकर, गणधर या केवलज्ञानी बन सकें । यह सर्वोत्कृष्ट विनियोग कहलाता है । ऐसी शक्ति तीर्थकरो को ही मिलती है, दूसरों को नहीं । दूसरे नम्बर में गणधरों को मिलती है । ऐसी शक्ति क्यों मिली ? क्योंकि पूर्व भवों में ऐसे ऐसे मनोरथों से प्रयत्न किये ।

मोक्ष-मार्ग का यह संघ है । इस संघ के हम सदस्य हैं या नहीं ? जो आत्मा सम्यग् दर्शन प्राप्त कर चुके हों, श्रुत सामायिक,

सम्यक्त्व सामायिक प्राप्त कर चुका हो, वह भगवान के संघ का सदस्य कहलाता है । आपके पास क्या यह सर्टिफिकेट है ?

जब तक भाव चारित्र न आये, तब तक नहीं चलता ।

हमारी पात्रता पर महापुरुषों ने हमें यह चारित्र प्रदान किया है । जीवन के अन्त तक इस गुणस्थानक का स्पर्श करे वैसा भाव उत्पन्न न हो तो क्या काम का ?

* प्रभु ने ऐसी साधना की, कि वह धर्म उन में आत्मसात् हो गया । धर्म पर भगवान का स्वामित्व हो गया । जिस प्रकार चक्रवर्ती के अधीन नगर, गांव सब हो जाते हैं, उस प्रकार प्रभु के अधीन तीनों लोक तथा समस्त गुण हो गये ।

‘ललितविस्तरा’ ग्रन्थ पढ़ने पर ये पदार्थ विशेषतया समझ में आयेंगे ।

‘सुलसा आदि नौ व्यक्तियों को भगवान ने तीर्थकर पद दिया’ – इस प्रकार पं. वीरविजयजी म.सा. ने कहा वह क्या उचित है ?

“सुलसादिक नव जण ने जिन-पद दीधुं रे...”

इन नौ व्यक्तियों को प्रभु ने तीर्थकर-पद दिया था कि उन्हें अपनी साधना से मिला था ? दूसरों को क्यों नहीं मिला ? उन नौ को ही क्यों मिला ?

क्योंकि उन नौ का उत्कृष्ट योग था । तदुपरान्त उन नौ को भी पहले तीर्थकर पद क्यों नहीं मिला ? और प्रभु की उपस्थिति में ही क्यों निकाचित हुआ ? आप यदि यह सोंचेंगे तो प्रभु की मुख्यता समझ में आयेगी ।

इन्द्रभूति आदि में गणधर पद की योग्यता होती तो जिस समय यज्ञ किया तब उन्होंने ने गणधर-पद क्यों नहीं पाया ? आपको उपादान मुख्य प्रतीत होता होगा । मुझे प्रभु मुख्य प्रतीत होते हैं ।

भूख हो फिर भी भोजन की सामग्री न हो तो क्या करेंगे ? क्या भूख मिटेगी ? आप भोजन की सामग्री का उपकार मानोगे या नहीं ? उस प्रकार चाहे जितना जीव योग्य हो, परन्तु सामने प्राप्त कराने वाला नहीं हो तो क्या करेंगे ?

कोडिये में तेल, दीवट सब कुछ है, परन्तु प्रकाश कब होगा ? इतनी योग्यता होते हुए भी जलती ज्योति से उसे नहीं मिलायेंगे

तब तक प्रकाश नहीं होता । जब तक हम प्रभु के सम्मुख नहीं होंगे, तब तक हम प्रभुमय नहीं बन सकते ।

‘भगवान कुछ करते नहीं हैं । हमारा उद्यम (पुरुषार्थ) काम करता है’ - यदि ऐसा मानोगे तो आप भक्त कदापि नहीं बन सकोगे । ग्यारह गणधरों की तैयारी नहीं थी, परन्तु समवसरण में गये और काम हो गया । अब कहोगे न कि गणधर-पद का दान भगवान ने किया । हमारे जैसे भटकते रहे ।

✽ भगवान के साधुओं की अपेक्षा साध्वीजीयों की संख्या अधिक थी । उनकी संख्या ३६००० थी । क्या इस का कारण जानते हैं ?

स्त्रियों में कोमलता अधिक होती है । कोमल हृदय समर्पित हो सकता है । समर्पण ही स्त्रियों को मुक्ति तक पहुंचाता है । भगवान के साधु तो ७०० ही मोक्ष में गये, परन्तु साध्वीजी १४०० मोक्ष में गई । इसका कारण शायद ये ही होगा ।

ॐ ॐ ॐ

चार शरणों का चार कथायों को टालने के लिए सन्देश
अहिंस - क्रोध त्याग कर क्षमाशील बनो । देखो, मैंने अपने जीवन में शत्रुओं के प्रति भी क्रोध नहीं किया ।
सिद्ध - मान त्याग कर नम्र बनें । छोटों को भी बहुमान भाव से देखें । मैं निगोद के जीव को भी अपना स्वधर्मी बन्धु मानता हूँ ।
साधु - माया छोड़कर सरल बनें । सरल होता है वही साधु बनता है और उसकी ही शुद्धि होती है ।
धर्म - लोभ त्याग कर सन्तोषी बनें । मैं ही परलोक में चलनेवाला वास्तविक धन हूँ । मुझे जो अपनायेगा वह सन्तोषी बनेगा ।

समझें । प्रभु ने जिन्हें अपना माना, उन्हें हम पराया कैसे मान सकते हैं ? इसीलिए तो हमने दीक्षा ली है । दीक्षा लेने से तात्पर्य है छः जीवनिकाय के प्रति प्रेम बढ़ाना ।

प्रभु के साथ अभेद-भाव तब ही उल्लसित होता है । हम प्रभु को अकेले ही समझ बैठे हैं, परन्तु उनका परिवार बहुत बड़ा है । प्रभु आते हैं तो परिवार के साथ ही आते हैं, अकेले कदापि नहीं आते ।

इस तरह जो परिवार सहित प्रभु को हृदय में प्रतिष्ठित करता है, उसकी समाधि-मृत्यु निश्चित है ।

* दुर्गति में से सद्गति में आये, इतनी धर्म-सामग्री मिली, इसमें आप पुरुषार्थ को कारण न मानें । यह सब प्रभु के प्रभाव से ही प्राप्त हुआ है । नजर के सामने प्रभु का प्रभाव होते हुए भी इन्कार करना प्रत्यक्ष रूप से सूर्य का इन्कार करने के बराबर है । लाखों अंधे भी सूर्य का इन्कार करें तो भी आंखोवाला सूर्य को मानेगा ही । लाखों नास्तिक प्रभु का इन्कार करेंगे तो भी भक्त तो भगवान को मानेगा ही ।

* आज आप सब दादा की यात्रा करके आये हैं न ? आज क्या देखा ? अपार भीड़ देखी । मेरे दादा का कैसा प्रभाव है कि लोग दूर-दूर से खिंच कर आते हैं ।

परन्तु दादा तो ऐसे ही हैं - निरंजन, निराकार ! भक्तों की भीड़ से वे प्रसन्न नहीं होते या कोई न आये तो वे अप्रसन्न नहीं होते ।

* इस सिद्धगिरि पर जैसे भाव आते हैं, वैसा अन्यत्र कहीं भी नहीं आते, यह बात केवल साधक को समझ में आती है । इसके लिए साधक का हृदय चाहिये ।

* मरुदेवी माता प्रभु के आलम्बन से ही मोक्ष में गये थे । प्रारम्भ का रुदन भक्ति में परिवर्तित हो गया । उसके बाद ही तो प्रभु की वीतरागता एवं विराटता दिखाई दी ।

* केवलज्ञान प्रभु में प्रकट है । अन्य जीवों में प्रच्छन्न है । केवलज्ञान अर्थात् समस्त जीवों में विद्यमान आनन्दमयी सत्ता । प्रभु उस सत्ता का सर्व में दर्शन करते रहते हैं, हम नहीं करते ।

करोड़ों रत्नों को कांच के भाव में बेचनेवाले पुत्रों के समान ही हम हैं । भक्ति की जा सकें वैसे इस जीवन में केवल शक्ति एकत्रित करते रहते हैं । थोड़ी सामग्री एकत्रित करते रहते हैं । प्रभु बना जा सके ऐसे जीवन में केवल दो-पांच लाख रुपयों में सन्तुष्ट हो जाते हैं ।

* सर्व प्रथम बाल्यकाल में यहां यात्रा की थी तब कुछ भी मैं जानता नहीं था । दादा को देख कर 'वाह-वाह' बोल उठा था, परन्तु बीज रूप में विद्यमान वे ही संस्कार आज काम आते हैं ।

दादा के समक्ष आकर कोई भक्त 'वाह-वाह दादा' बोले (अधिक तो समय कहां होता है ? दर्शनार्थी अधिक होते हैं ।) इतने से ही उसका काम हो गया समझो, क्योंकि 'वाह' बोलते ही उसने दादा के समस्त गुणों का अनुमोदन कर लिया ।

* सम्यक्त्व प्राप्ति का चिन्ह क्या ?

प्रभु की प्रतिमा दिखते ही प्रभु हमारे समक्ष हो वैसे दिखता है । आगे बढ़कर आत्मा में भी प्रभु दिखाई देता है । इस तरह सम्यक्त्व से दूर-दूर स्थित प्रभु समीप-समीप लगते हैं । दूर स्थित भगवान को समीप ले आये उसका नाम सम्यग्दर्शन ।

भगवान चाहे सात राजलोक दूर हो, परन्तु भक्त के मन से यहीं है, सामने ही है, हृदय में ही है, सम्यक्त्वी बनना अर्थात् भक्त बनना ।

यहां तो दादा केवल पर्वत पर है, परन्तु मोक्ष में गये हुए भगवान तो सात राजलोक दूर हैं ।

इन्टरनेट, फैक्स, ई-मेल, फोन इत्यादि के द्वारा आप दूर अमेरिका में स्थित व्यक्ति के साथ भी सम्पर्क कर सकते हैं, उस प्रकार भक्ति के द्वारा आप दूर स्थित भगवान के साथ भी सम्पर्क कर सकते हैं ।

"सात राज अलगा जई बेठा, पण भगते अम मन मांहि पेठा" मन में भगवान कैसे आये ?

भक्ति के माध्यम से !

ध्यान के माध्यम से !

फिर क्या बाकी रहता है ?

काया, वचन, मन तो प्रभु को सौंप दिये, परन्तु ज्ञान आदि भाव भी प्रभु को सौंप देना वह पूजा है ।

परन्तु हमारी लोभी वृत्ति है । 'मेरा मेरे बाप का, तेरे में मेरा आधा भाग' की वृत्ति वाले हम प्रभु को कुछ भी समर्पित नहीं करते । हां, प्रभु के पास प्राप्त करने के लिए भरचक प्रयास करते हैं । प्रभु को कुछ देना नहीं है और सब कुछ प्राप्त कर लेना है । दिये बिना कैसे मिलेगा ?

✽ आपको प्राप्त ज्ञान आदि गुण दूसरे को दो तो ही आपको वे गुण आगामी जन्म में मिलेंगे । जितना आप दूसरों को दोगे उतना आपका निश्चित रूप से सुरक्षित रहेगा ।

✽ गुण प्राप्त करने के लिए इतना करो -

पन्द्रह - बीस दिनों के लिए क्षमा का प्रयोग करो । चाहे कितने भी हो जाये, कोध करना ही नहीं । बीस दिनों तक क्षमा का प्रयोग करो । क्षमा आत्मसात् होने के पश्चात् नम्रता, सरलता, सन्तोष आदि एक-एक गुण लेते जाओ और पूर्ण शक्ति से उन गुणों को जीवन में उतारने का प्रयत्न करो । बीस दिनों तक प्रयोग करके देखो ।

✽ कुछ भी नहीं चाहिये । किसी वस्तु की खप (आवश्यकता) नहीं है । वस्तु चाहे जितनी आकर्षक हो, परन्तु मुझे नहीं चाहिये । इससे आपके सत्त्व में अत्यन्त ही वृद्धि होगी ।

ये गुण ही अपना वास्तविक धन है ।

गुण-प्राप्ति का प्रमुख राजमार्ग प्रभु-कृपा है । प्रभु गुणों के भण्डार हैं । उनकी शरण में जाने से गुण आते ही हैं ।

✽ अपना सच्चा (वास्तविक) जन्म-दिन दीक्षा-दिन है, जब हमें अध्यात्म का मार्ग मिला । आज तो भौतिक देह का जन्म-दिन है ।

आज के दिन अभिलाषा, कामना करता हूं कि इस देह के द्वारा मैं अधिकाधिक साधना करूं, साधना करने वाले अन्य व्यक्तियों को सहायता करूं और यथा-सम्भव शासन-सेवा करता रहूं ।

ॐ ॐ ॐ



वि.सं. २०५४

६-५-२०००, शनिवार
वैशाख शुक्ला-३ : पालीताणा

* 'चंदाविज्झय' में साधु-जीवन की कला बताई गई है।
चारित्र पूर्णतः विशुद्ध हो तो इसी जन्म में मोक्ष मिलता है।
चारित्र की शुद्धता जितनी दूर होगी, उतना ही मोक्ष भी दूर होगा।
ज्ञान-दर्शन से युक्त चारित्र ही सच्चा चारित्र कहलाता है, यह
बात मैं अनेक बार समझा चुका हूँ। जब-जब 'चारित्र' शब्द का
प्रयोग आये तब ऐसा अर्थ समझें।

'सीरे' (हलवे) के प्रत्येक अंश में शक्कर, घी और आटा व्याप्त
है। तीनों वस्तु एक होने पर ही 'सीरा' बनता है। उस प्रकार
ज्ञान-दर्शन चारित्र तीनों एक रूप बनने पर ही मोक्ष मार्ग बनता
है।

दर्शन-ज्ञान रहित चारित्र का हमने अनेक बार पालन किया।
इस भव में भी ऐसा चारित्र नहीं है न ? ऐसी शंका भी हम
रखें तो आत्म-निरीक्षण करने की इच्छा होती है। आत्म-निरीक्षण
बढ़ें तो कभी सच्चे गुण आ सकते हैं।

कमी ही यदि समझ में न आये तो उसे दूर करने की इच्छा
कैसे हो ?

चारित्र को पुष्ट बनाने वाले दर्शन-ज्ञान हैं, यह लगता रहे तो किसी विहित अनुष्ठान में हम प्रमाद नहीं कर सकते ।

दूसरे के गुणों की प्रशंसा करना, प्रभु-भक्ति करना आदि दर्शनाचार हैं, अध्ययन करना आदि ज्ञानाचार है, समिति-गुप्ति आदि चारित्राचार हैं ।

* हमारे समस्त अनुष्ठानों का समावेश दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र में हो जाता है । दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र में जिसका समावेश नहीं है वह साधु का आचार नहीं है, यह भी कहा जा सकता है ।

* अन्य धर्मावलम्बियों में विद्यमान गुणों की भी अनुमोदना करनी होती है तो साधुओं के गुणों की अनुमोदना करने के सम्बन्ध में कहना ही क्या ?

यदि हम अपनी आंखों के समक्ष विद्यमान गुणी व्यक्ति की अनुमोदना न करें तो अतिचार लगता है । अतिचार में क्या बोलते हैं ?

“संघमांहि गुणवंततणी अनुपबृंहणा कीधी ।”

भगवान जैसे भगवान भी सुलसा, आनंद, कामदेव जैसे की प्रशंसा करते हैं तो हमें नहि करना चाहिये ?

पौषध पारते समय क्या बोलते हैं ?

“जास पसंसइ भयवं दढवयत्तं महावीरो ।”

अनुमोदना मन, वचन, काया से हो सकती है । उपबृंहणा वचन से हो सकती है । यदि आप संघ में दिखाई देने वाले गुणी को धन्यवाद नहीं देते तो आप दोषी बनते हैं ।

यह विहित अनुष्ठान है । विहित अर्थात् भगवान द्वारा कथित । जिस अनुष्ठान को करते समय भगवान का स्मरण रहे, वह अनुष्ठान भी महान बन जाता है । भगवान के साथ जुड़ाव हो तो वह अनुष्ठान कमजोर कैसे होगा ?

कैसा अनुष्ठान ? कैसे सूत्र ? मेरे भगवान ने बताये हैं ।

ऐसे गद्गद् भाव से किये गये अनुष्ठान केवलज्ञान भी प्रदान कर सकते हैं । चाहे कचरा निकालने का अनुष्ठान हो या ‘इरियावहियं’ करने का अनुष्ठान हो । अइमुत्ताने इसी ‘इरियावहियं’ से केवलज्ञान प्राप्त किया था ।

* ब्याज लेकर धन उधार देनेवाला व्यापारी दानी नहीं कहा जाता । तो किसी बदले की भावना से अन्य मुनियों का किया जाने वाला कार्य 'सेवा' किस प्रकार कहा जायेगा ?

* हमारी आत्मा की हमें जितनी चिन्ता नहीं है उतनी, ओरे ! उससे भी अधिक चिन्ता प्रभु को है । इसीलिए वे करुणा-सागर हैं । उनके द्वारा बताई गई किया हृदयपूर्वक करें तो कल्याण होगा ही, मृत्यु में समाधि प्राप्त होगी ही ।

मृत्यु में समाधि की तो आवश्यकता है न ? क्या परलोक का भय लगता है ?

अपनी क्रियाओं से तो यही लगता है कि मानो हम परलोक से पूर्णतः निरपेक्ष हैं ।

मृत्यु के समय वेदना, व्याधि आदि की पूर्ण सम्भावना है । यदि शरीर को बराबर कसा नहीं हो तो बड़े-बड़े आचार्य भी समाधि में थाप खा सकते हैं ।

भारी कर्म वाले को कदापि समाधि प्राप्त नहीं होती ।

ये सभी अनुष्ठान हमें लघु-कर्मों बनाने के लिए हैं ।

कर्मों का बन्धन तनिक भी नहीं हो, बंधे हुए कर्मों का क्षय होता रहे । ऐसी सावधानी भगवान के प्रत्येक अनुष्ठान में है । 'इरियावहियं' में हम क्या बोलते हैं ?

तस्स उत्तरी करणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोही करणेणं विसल्ली करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ।

पाप कर्मों को नष्ट करने के लिए 'इरियावहियं' आदि सभी अनुष्ठान करने के हैं ।

* आज वर्षीतप के पारणे का दिन है । भगवान को ४०० दिनो तक अन्न-पानी नहीं मिले थे, उसमें कर्म कारण था । भगवान को भी कर्म नहीं छोड़ता तो हमें कैसे छोड़ेगा ?

जिस रीति से कर्म बांधते हैं, उस रीति से उदय में आता है ।

खाने में अन्तराय करो तो खाने को नहीं मिलता ।

तप में अन्तराय करो तो तप नहीं कर सकते ।

दान में अन्तराय करो तो दान नहीं कर सकते ।

दीक्षा में अन्तराय करो तो दीक्षा नहीं मिलती ।

तप, स्वाध्याय, ध्यान, लोच, विहार आदि अनुष्ठान इस प्रकार बांधे हुए कर्मों की निर्जरा के लिए हैं, ऐसी अविहङ्ग, अटल श्रद्धा होनी चाहिये। वे पाप कर्म उदय में आयें तो तो समतापूर्वक भोगने ही हैं, परन्तु उदय में न आयें तो भी बलपूर्वक उदय में लाने हैं। कर्मों को बलपूर्वक उदय में लाना उदीरणा कहलाती है। लोच आदि से पाप की उदीरणा होती है।

क्या कभी कर्मों का विचार आता है ? कितनेक व्यक्ति तो ऐसे मूढ़ होते हैं कि कर्म तो ठीक, मृत्यु भी याद नहीं आती। वे अपने बाप का राज्य हो उस प्रकार व्यवहार करते हैं - मानो मृत्यु आवेगी ही नहीं। मृत्यु के समय विद्वत्ता, प्रवचन, शिष्य, भक्त, ज्ञान-मन्दिर, पुस्तकें आदि कोई नहीं बचा सकेगा।

इस लोक की हम कितनी चिन्ता करते हैं ? यह वस्तु चाहिये, वह वस्तु चाहिये, लाओ-लाओ-लाओ, परन्तु परलोक में जिस वस्तु की आवश्यकता है, उस वस्तु को कदापि याद की कि नहीं ?

साधु तो सदा मृत्यु के लिए तत्पर होते हैं। वे मृत्यु से डरते नहीं हैं। मौत को मुट्ठी में लेकर घूमते हैं।

जिस योद्धा ने कदापि युद्ध की तैयारी नहीं की, छोड़े (अश्व) को प्रशिक्षण दिया नहीं, अश्व पर नियंत्रण किया नहीं, ऐसा व्यक्ति केवल अपनी या अश्व की शक्ति पर मुश्ताक रहकर लड़ने के लिए संग्राम भूमि में पहुँच जाये तो क्या वह युद्ध में विजयी हो सकेगा ?

मृत्यु की पूर्व तैयारी के बिना हम मृत्युञ्जयी कैसे बन सकेंगे ? मृत्युञ्जयी बनना अर्थात् समाधिपूर्वक मृत्यु का स्वागत करना।

इस ग्रन्थ में लिखा है कि जिसने परिषह सहन नहीं किये, तप नहीं किया, नित्य तीनों समय खाने का ही कार्य किया है, वह साधु तीव्र वेदनाओं के बीच समाधि नहीं रख सकेगा। (गाथा ११९)

कष्ट पड़े तब विहार बन्द।

कष्ट पड़े तब तप बन्द।

कष्ट पड़ने पर किसी भी कष्टकारी अनुष्ठान से दूर भागने वाले व्यक्ति इस पर विचार करें।

मृत्यु के समय असमाधि हुई तो क्या होगा ? आर्त ध्यान !

ही उनके कोई शिष्य न हो ।

इस देह को आप जितनी सेवा में लगाओगे, उतनी दवाएँ कम लेनी पड़ेंगी, डाक्टर के पास नहीं जाना पड़ेगा । सेवा से परिश्रम बढ़ता है । परिश्रम से रोग दूर भागते हैं ।

सेवा से सबसे बड़ा लाभ विषय-कषाय की वृत्ति पर प्रहार होना है । विषय-कषाय की वृत्ति एवं प्रवृत्ति बंध हो उसके लिए ही भगवान की आज्ञा है ।

* आर्त ध्यान के समय तिर्यच गति का, रौद्र ध्यान के समय नरक गति का आयुष्य बंधता है, उसका ध्यान है न ?

धर्म-ध्यान से सद्गति और शुक्ल ध्यान से सिद्धि गति प्राप्त होती है ।

इन पांच गतियों में से हमें किस गति में जाना है ? कौन सी टिकिट चाहिये ? पांचो गतियों की टिकिट मैंने बता दी ।

बिना टिकिट यात्रा करने का तो विचार नहीं है न ? यहां पोपाबाई का राज्य नहीं है । बिना टिकिट के यात्रा हो नहीं सकती ।

पांचवी गति की टिकिट आजकल बन्ध है ।

ॐ ॐ ॐ

मानव अगर

बुलाने पर शान्त हो,
कहने पर क्षमाशील बने,
प्रसंग पर धैर्यवान बने,
आवश्यकता पड़ने पर विशाल बने,
भूमिका में संयमी बने,
विचार करने पर संस्कारी बने,
औचित्य पर सात्त्विक बने,
अधिकार में प्रौढ बने ,
चारित्र बल में सबका विश्वासपात्र बने,
तो जीवन नन्दनवन बने ।



वढवाण, वि.सं. २०४७

७-५-२०००, रविवार
वैशाख शुक्ला-४ : पालीताणा

* अपने नाम का विस्मरण कराने वाला प्रभु का नाम है। अपने रूप को भुलाने वाला प्रभु का रूप है। मुंह में प्रभु का नाम आ जाये, नैनों में प्रभु की प्रतिमा बस जाय तो सभी विडम्बना कम हो जाय।

* पंच परमेष्ठी को नमन करने के पश्चात् नवपद में किसे नमन करना चाहिये ? दर्शन आदि सब पंच परमेष्ठी में आ गये, फिर भी जिसमें भी सम्यग्दर्शन आदि गुण हैं उन सबको नमस्कार करने हैं।

आचार्य भगवान भी जब साध्वीजी वन्दन करती हैं तब 'मत्थएण वंदामि' कहते हैं। क्यों ? वे तो छोटे हैं न ? छोटे हैं तो क्या हो गया ? गुण तो हैं न ? उन्हें नमस्कार करने हैं।

बहुमान उन गुणों को लाने का द्वार है। गुणों को प्राप्त करने के लिए जिसमें वे गुण हैं उसे प्रणाम करो। उसकी माला गिनो। बीस स्थानक क्या हैं ? एक-एक गुण के लिए काउस्सग-माला आदि हैं। क्यों ? क्योंकि वह गुण प्राप्त करना है इसलिए। उसमें साधु पद आता है कि नहीं ?

आपकी (साधु की) आराधना से जीव तीर्थकर बनते हैं और आप रह जाओ ? जहां गुण दिखाई दे वहां नमस्कार करो । गुणों को नमस्कार उनकी लगन को कहते हैं । जिसे आप नमस्कार करते हैं वह आपको प्रिय लगता है, यह निश्चित है ।

दोष बिना बुलाये आते हैं । गुण उत्तम हैं । अतः उन्हें निमंत्रण देकर बुलाने पड़ते हैं ।

* जितनी गुणों की पुष्टि उतनी अपनी आत्मा पुष्ट । गुणों के बजाय दोषों की वृद्धि की तो आत्मा भी दोषयुक्त बन जायेगी ।

* अपने नाम की तरह मैंने 'योगसार' को पक्का किया है । मृत्यु के समय यही साथ आयेगा । आप सब समीप ही होंगे तो भी साथ नहीं आओगे । भावित बना हुआ ज्ञान ही साथ आयेगा । बुने हुए गुण ही साथ आयेंगे ।

हम सब किसके भरोसे हैं ? आग लगेगी तब क्या कुंआ खोदेंगे ?

जिसने ज्ञान का अध्ययन नहीं किया शरीर को कसा नहीं, उसे समाधि मिलना कठिन है । जन्म से अनन्तगुनी वेदना मृत्यु के समय होती है । ऐसी वेदना में भी आत्मा को भावित बनाई हुई हो तो समाधि ठहरती है ।

शरीर के साथ अभेद सम्बन्ध बांधने के कारण वेदना होती है । छः महिनों के पश्चात् लोच करते हैं । क्यों ? इसलिए कि वेदना के समय समाधि रहे ।

मुनि प्रतिकूलता सहकर अशांता का क्षय करता है । हम सहन न करके सुख-शील बन कर शांता वेदनीय का क्षय करते हैं ।

* हाथी के भव में मेघकुमार ने शशक (खरगोश) को बचाया तो वह कहां पहुंचा ? अपने लिए मैदान साफ किया परन्तु आग लगने पर निर्भय स्थान की सब पशु-पक्षी खोज करते हैं । हाथी ने सबको स्थान दिया । हम हों तो ? क्या स्थान देंगे ? हाथी ने किस को स्थान नहीं दिया ?

खाज करके पांव नीचे रखने से पूर्व हाथीने नीचे देखा । आप पहले पांव रखते हैं कि नजर रखते हैं ? इर्यासमिति का हाथी भी पालन करता है और आप नहीं ? और देखा तो नीचे

शशक (खरगोश) का बच्चा था । उसे हटाया जा सके या नहीं ? आप रेलगाड़ी में बैठो और बाद में शौच गये हो और आप की सीट पर अन्य कोई बैठ जाय तो ? क्या उसे उठाओगे या उपकार मानोगे कि इसने मुझे लाभ दिया ? क्या उसे नहीं उठाने की सज्जनता बता सकेंगे ? आपके आसन पर अन्य कोई बैठ जाय तब आपको क्या होता है ?

जितनी देह के साथ आत्मीयता बनाई है उतनी जीव के साथ आत्मीयता नहीं बनाई । इसीलिए आप सौजन्यपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकते ।

मेरी शरण में आये हुए को कोई कष्ट न हो, यह सोचकर हाथी ने खरगोश के प्राण बचा लिये । हाथी ने ढाई दिनों तक पैर ऊंचा रखा । खरगोश के कारण हाथी को क्या मिला ? यह आप जानते ही हैं ।

ॐ ॐ ॐ

पुस्तक

विचारों के युद्ध में पुस्तकें शस्त्र हैं ।

- बर्नार्ड शो

कोट पुराना पहनो परन्तु पुस्तक नया खरीदो ।

- थोरो

आपके पास यदि दो रूपये हों तो एक रूपये से रोटी और दूसरे रूपये से पुस्तक खरीदो । रोटी जीवन देती है, तो सुन्दर पुस्तक जीवन जीने की कला सिखाता है ।

मैं नरक में भी सुन्दर पुस्तकों का स्वागत करूंगा क्योंकि उनमें ऐसी शक्ति है कि वे जहां होंगी वहां स्वयं स्वर्ग बन जायेगा ।

- लोकमान्य तिलक



वस्त्राण, वि.सं. २०४७

८-५-२०००, सोमवार
वैशाख शुक्ला-५ : पालीताणा

* हम संसारी जीव हैं अतः मृत्यु के बिना छुटकारा नहीं है। तो क्या कुमौत मरें ? कि समाधिपूर्वक मरें ? मृत्यु के समय जिसके साथ जन्म से सम्बन्ध है, उस देह तक का भी परित्याग करना होगा।

पहले से ही ऐसा जीवन जीना चाहिये कि मृत्यु के समय समाधि प्राप्त हो। स्वयं अपनी ओर से कष्ट खड़े करने से मृत्यु के समय समाधि रह सकेगी।

* चारित्र में दोष लगाना अर्थात् नाव में छेद करना। हमारा जहाज सागर में चल रहा है कि किनारे पहुंच गया ? सागर में तैरते जहाज में छेद पड़े तो स्वयं तो डूबेगा ही, परन्तु जहाज में जो बैठे हों वे सभी डूबते हैं।

हम जितने दोष लगाते हैं उन्हें देखकर दूसरे भी वे दोष लगाते हैं। शास्त्रीय भाषा में उसे अनवस्था दोष कहते हैं, और आप यदि उत्तम प्रकार का चारित्र पालन करो तो उसे देखकर दूसरे भी वैसा पालन करें तो उत्तम परम्परा चले।

हमें कैसे उत्तम गुरु मिले हैं कि उन्हें देखकर भी चारित्र

सीखा जा सके ।

तप के द्वारा शरीर को कसा नहीं है, ध्यान से मन को कसा नहीं है तो अन्तिम समय में वे तूफानी (शररती) घोड़े रूपी इन्द्रियों आत्मा को बाधा पहुंचाती हैं - यह ला, वह ला; ऐसी इन्द्रियों की लालसा सताती है ।

इन्द्रियों पर विजय और कषायों पर विजय दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं । इन्द्रियों पर विजय नहीं करे तो कषाय होंगे और कषाय होने पर संकल्प-विकल्प होंगे । उनका कार्य ही यह है । अतः अभी से सचेत हो जाना चाहिये ।

अपनी जांच हमें स्वयं करनी है । कोई भी उत्तम वस्तु का रस ऐसा है कि मुझे उसके बिना नहीं चलेगा ? ऐसा आत्मा को कदापि पूछा है ? क्या प्रभु-भक्ति में रस है ? क्या आगमों में रस है । इतने स्तर तक पहुंचने के बाद भी अन्य हीन रस (रुचि) रखें तो दुर्गति में जाना पड़ता है ।

* हमारी आत्मा को विजय दिलाने वाला अन्य कोई नहीं है, अपना सत्त्व ही है ।

अन्य कुछ याद न रहे तो दुष्कृत-गर्हा आदि तीन याद रखें । नित्य तीन बार दुष्कृत-गर्हा आदि करने ही हैं । जब तक मन की व्याकुलता नहीं मिटे तब तक यह करना ही है ।

* देह के तीन दोष हैं - वात, पित्त और कफ ।

आत्मा के तीन दोष हैं - राग, द्वेष और मोह ।

इनका निवारण तीन से होता है - शरणागति, दुष्कृत गर्हा और सुकृत-अनुमोदना ।

राग करें तो सुकृतों का करें - सुकृत - अनुमोदना ।

द्वेष करें तो दोषों पर करें - दुष्कृत - गर्हा ।

मोह करें तो भगवान का करें - शरणागति ।

हरड़े, बहेड़ा एवं आमला के मिश्रण से त्रिफला रूप औषध बनता है, उस प्रकार इन तीनों के मिश्रण से भाव-औषध बनता है ।

* राग की अपेक्षा द्वेष अधिक खतरनाक है, क्योंकि द्वेष सदा जीवों पर ही होता है । जीव के प्रति द्वेष अन्ततोगत्वा प्रभु के प्रति द्वेष है ।

ॐ ॐ ॐ



अंतिम दर्शन, शंखेश्वर

९-५-२०००, मंगलवार
वैशाख शुक्ला-६ : पालीताणा

* मृत्यु किसी भी प्रकार से रूकती नहीं है । उसका सामना होता नहीं है । यह अनिवार्य है, परन्तु इसे सुधारी जा सकती है । मृत्यु उस की ही सुधरती है, जिसका जीवन सुधरता है । अभी से समाधि देना सीखोगे, थोड़े-थोड़े कष्ट सहन करते रहोगे, प्रत्येक परिस्थिति में मन-वचन-काया को सम रखना सीखोगे तो अन्त में समाधि आयेगी ।

* जड़ होते हुए भी चन्दन अपना स्वभाव (शीतलता) नहीं छोड़ता, तो क्या मुनि अपना स्वभाव छोड़ देगा ? ऐसी समता तक पहुंचने की अपनी तैयारी न हो तो भी इस समय उसका थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करना है ।

यदि समता प्राप्त करने का प्रयास नहीं करे तो भव-भ्रमण बढ़ जायेगा । हमें मालूम नहीं है कि त्रस काय में आये कितने वर्ष हो गये हैं ? परन्तु ज्ञानियों ने मौका दिया कि २००० सागरोपम में आप मोक्ष में पहुंच जाओ । यदि यह काम नहीं किया तो पुनः एकेन्द्रिय में जाना पड़ेगा ।

‘योगसार’ में उल्लेख है कि केवलज्ञान समता के बिना नहीं

मिलता, चाहे इस जन्म में प्राप्त करो या जब भी प्राप्त करो, परन्तु समता के बिना प्राप्त नहीं होगा ।

आगमों का ज्ञान होते हुए भी इन्द्रियों का रस हो तो भी समता प्राप्त नहीं होगी; परन्तु जिसने इन्द्रियो पर, कषायो पर एवं मन पर विजय प्राप्त की है, वैसे मुनि को संयम एवं मृत्यु दोनों में समाधि प्राप्त होगी । फिर तो उसकी मृत्यु भी महोत्सव रूप बन जाती है ।

दीक्षा अंगीकार करते समय महोत्सव क्यों किया था ? घर में से सर्वस्व त्याग कर त्याग-मार्ग पर जाते हैं इसलिए । तो मृत्यु के समय तो माया-ममता-उपकरण-परिवार एवं देह का भी परित्याग करना है । तो फिर क्यों न उस मृत्यु को महोत्सव रूप बनायें ?

मुनि स्वयं ही अपनी मृत्यु को महोत्सव बनाते हैं ।

* पांच इन्द्रियों की अनुकूलता में जिन्हें रस है, उन्हें जब घोर परिषह आते हैं तब उनमें व्याकुलता उत्पन्न होती है । आत्मा में घबराहट होती है, क्योंकि काया को कसी नहीं है । जीवन में उसका अभ्यास किये बिना वह वस्तु आत्मसात् नहीं होती । अन्य सब कुछ विस्मृत हो जाये, यही रह जाये परन्तु वासित हो चुके संस्कार साथ आयेंगे । इसीलिए उन संस्कारों को सुदृढ़ बनाने चाहिये ।

जिसको शरीर कसने का अभ्यास है, वह इससे इतना शक्तिशाली हो जाता है, कि मोहराजा के योद्धा आयें तो भी वह भयभीत न हो ।

* हममें जिन गुणों का अभाव हो, उन गुणों का अनुमोदन करने से वे गुण हमें प्राप्त हो जाते हैं । जिस व्यक्ति में जो गुण दिखाई दें, उनके प्रति बहुमान उत्पन्न हो तो वे गुण हममें आने लगते हैं ।

अब तक हमारे में दोष क्यों भर गये ? और वे दोष अभी तक क्यों नहीं जाते ? क्योंकि उनको आदर दिया, उनकी प्रशंसा की इसलिए ।

पहले गुण नहीं आते, गुणों की प्रशंसा आती है । पहले धर्म नहीं आता, धर्म की प्रशंसा आती है । खेत में उपज पहले

नहीं आती, पहले बीज बोना पड़ता है। योग धर्म साधना का अन्तिम फल है, परन्तु जिसकी योग साधना देखकर हमें आनन्द प्राप्त होता है, वह उसका बीज है।

‘ज्ञानीना बहुमान थी रे ज्ञानतणुं बहुमान’

यह तो आपने सुना है कि ज्यों ज्यों हम रटन करते रहेंगे, त्यों त्यों ज्ञान बढ़ेगा, परन्तु ये गुण कहां से आये ? ज्यों ज्यों आप पंच परमेष्ठी की, गुणी की सेवा करेंगे, आदर-बहुमान करेंगे, त्यों त्यों गुण आयेंगे।

एक गुणी की सेवा करो, उसे नमस्कार करो तो जगत् में विद्यमान समस्त गुणवानों को नमस्कार होता है। उनकी सेवा का लाभ मिलता है। इसीलिए एक तीर्थंकर का अपमान करो तो, समस्त तीर्थंकरों का अपमान होता है। एक गुरु का अपमान हो तो सब गुरुओं का अपमान होता है। षट्काय में से एक काय की विराधना करो तो समस्त काय की विराधना होती है। भूतकाल में इस प्रकार अनेक कर्म बांधे, अब उन्हें छोड़ना है। तो भले ही अभी ज्ञान कम आये, परन्तु कम से कम बहुमान तो रख सकें न ?

गुणों का प्रवेश कराना हो तो उसका द्वार है - गुणों का बहुमान।

* सम्यग्दर्शन भगवान को, गुरु को अपना मानता है। क्या हम प्रभु को, गुरु को अपना मानते हैं ? भगवान् मेरे नहीं, सबके हैं - क्या ऐसा आप मानते हैं ? यह वस्तु सबकी है। ऐसा कहें तो क्या आप में ममता जगेगी ? यह वस्तु मेरी है कहे तो कैसी ममता जगती है ?

* भगवान ने जिन्हें छोड़ा, उन्हें हमने पकड़ लिया है। भगवान ने जिन्हें छोड़े, उसका क्या हम अब संग्रह करें ?

जब कोई वस्तु लेने की इच्छा हो तब सोचना कि क्या मेरे प्रभु ने यह वस्तु ली थी ? जब क्रोध आनेवाला हो तब सोचना, कि क्या मेरे प्रभु ने क्रोध स्वीकार किया है या उसका परित्याग किया है ?

* ज्ञानी मुनि ने एक किसान को प्रतिज्ञा दी कि ‘मन कहे वैसे नहीं करना।’

उसे भूख, प्यास, धूप लगने लगे फिर भी उसने खाया-पिया नहीं या वह छाया में गया नहीं, क्योंकि मन कहे वैसे करना नहीं है। खड़ा था फिर भी बैठा नहीं, क्योंकि मन कहे उस प्रकार करना नहीं है।

इस प्रकार उसे ध्यान लग गया। मन की बात नहीं मानने का दृढ़ संकल्प उसे मन के उस पार ले गया। अल्प समय में उसे केवलज्ञान हो गया।

‘भगवान ने कहा है उस प्रकार मुझे करना चाहिये’ - इतना संकल्प यदि हम कर लें तो बेड़ा पार हो जाये।

ॐ ॐ ॐ

खिड़की एवं द्वार

द्वार : मैं बड़ा हूँ। मेरे द्वार ही प्रवेश एवं निर्गम संभव है। मेरा जगत् में मान है।

खिड़की : किस बात की शेखी मारता है ? तू चाहे जितना बड़ा हो तो भी मालिक को तेरा भरोसा नहीं है। रात्रि में या बाहर जाये तब तुझे बंध कर दिया जाता है, क्योंकि तू चोर-डाकुओं को रोक नहीं सकता। मैं तो मालिक की परम विश्वासु हूँ। अतः मुझे सदा खुली रखी जाती है और मैं मालिक को सदा हवा एवं प्रकाश देती हूँ।



दो पट्टशिष्यों के साथ, मद्रास, वि.सं. २०

१५-५-२०००, सोमवार
वैशाख शुक्ला-१२ : पालीताणा

(पूज्यश्री गारियाधार गये थे, जिससे पालीताणा में पांच दिन तक वाचना बंध रही थी ।)

* जिनागम, जिनमूर्ति को भगवत् तुल्य मानकर आराधना करें तो महाविदेह क्षेत्र के साधकों के समान ही हम बन सकते हैं । महाविदेह क्षेत्र में से भी कोई सभी मोक्ष में जाने वाले नहीं है । वहां भी सातवीं नरक में जाने वाले हैं, अनन्त संसार में परिभ्रमण करनेवाले हैं । कौन से क्षेत्र में अपना जन्म हुआ है वह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी हमारी साधना महत्त्वपूर्ण है ।

* धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, पृथ्वी, पानी, वनस्पति, वायु आदि सब सतत उपकार कर रहे हैं ।

हम कदापि विचार नहीं करते कि मैं किसी पर उपकार कर रहा हूँ या नहीं ? उपकार न करूँ तो कुछ नहीं, अपकार तो नहीं कर रहा न ? अपकार करने का फल ही यह संसार-परिभ्रमण है । हमारा कार्य एक ही रहा है । : (हो सके इतना अपकार करना) पुद्गल भी मन, वचन, काया, श्वास आदि में सतत उपकार

करते ही रहते हैं । जब तक मनन करने वाला मन नहीं मिले तब तक क्या मोक्ष मिलेगा ? (स्मरण रहे मनोवर्गणा पुद्गल है।)

जीव का भी परस्पर उपकार है ही । केवल उस ओर अपनी दृष्टि जानी चाहिये ।

जड़ पुद्गल भी उपकार करते हों तो हम तो चेतन हैं ।

हम उपकार करें तो भी अभिमान नहीं करना है । उपकार करें तो ही ऋण-मुक्त हो सकते हैं । इसके अलावा अनन्त ऋण से मुक्त होने का अन्य कोई भी मार्ग नहीं है ।

इस मानव-जीवन में संयम जीवन अपनाकर ही हम ऋण-मुक्त हो सकते हैं, क्योंकि इस संयम जीवन में किसी भी जीव को सताना नहीं है, पीड़ित नहीं करना है । ऐसा जीवन यहीं पर सम्भव है ।

किसी दिवालिये व्यक्ति को कोर्ट क्या दण्ड देती है ? हम भी दिवालिये हैं । कर्मसत्ता उसका बदला लिये बिना नहीं रहेगी ।

ऋण-मुक्ति की दृष्टि निरन्तर दृष्टि के समक्ष रखें तो कदापि अहंकार नहीं आयेगा, कृतघ्नता नहीं आती, ऋण से सिर निरन्तर झुका रहता है ।

* परहित के बिना आत्मा का हित संभव ही नहीं है । परोपकार के बिना स्व उपकार असंभव है । सचमुच तो परोपकार एवं स्वोपकार का भेद हमारी दृष्टि से है । ज्ञानी की दृष्टि से तो स्व-पर का कोई भेद ही नहीं है ।

हम प्रभु की पूजा करते हैं अतः 'पर' की पूजा नहीं करते, परन्तु 'परम' की पूजा करते हैं और वह 'परम' हमारे भीतर ही छिपा हुआ है ।

उनके समान न बनें तब तक प्रभु की पूजा करते रहना है ।

'शीघ्र सिद्ध बनो' यही ज्ञानियों की आज्ञा है । मन्दिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा मूक रूप से निरन्तर यही सन्देश दे रही है । हम यह सन्देश सुनते नहीं हैं, यही कष्ट है । यदि यह सन्देश सुनाई दे तो प्रभु के अनन्त गुण याद आने लगते हैं, हृदय प्रभु के प्रति झुक जाता है ।

प्रभु कितने करुणासागर हैं ? वे कितने तारणहार बुद्धि वाले

हैं ? चंडकौशिक को पुनः दुर्भाव न आये, अतः भगवान महावीर उसी जंगल में १५ दिन तक रहे । कितनी करुणा ?

✽ शक्कर के ढेर में कोई भी दाना बिना मिठास वाला नहीं है, उस प्रकार जिनागम की कोई भी पंक्ति आत्महित-रहित नहीं है ।

नमक के ढेर में से कोई भी दाना (कण) चखो तो वह खारा ही होगा, नीम का कोई भी पत्ता कड़वा ही होगा ।

कितने ही नीम के समान कड़वे होते हैं ।

कितने ही नमक के समान खारे होते हैं ।

कितने ही शक्कर के समान मधुर होते हैं ।

हम कैसे हैं ?

संसार के विषय नीम के समान कड़वे हैं । ऊंट को कड़वा नीम भी मधुर लगता है, उस प्रकार भवाभिनंदी को कड़वे विषय भी मधुर लगते हैं ।

कषाय नमक के समान खारे हैं । संसार-रुगी को वे भी मधुर लगते हैं ।

जिन-वचन शक्कर के समान मधुर हैं । विषय-कषाय हमें खारा, कड़वा और कठोर बनाते हैं, जिन-वचन हमें मधुर बनाते हैं ।

✽ समस्त द्रव्यों से जीव भिन्न है, क्योंकि उसके लक्षण भिन्न हैं । परन्तु हम ज्ञानादि लक्षण भूल गये, इसीलिए दुःखी हो गये । शरीर को ही 'मैं' मान बैठे । उसके सुख में सुखी और उसके दुःख में दुःखी हो गये । फलतः जड़ तो नहीं बने परन्तु जड़ जैसे अवश्य बन गये ।

सवासौ गाथाओं का स्तवन पढ़ें । प्रभु की प्रार्थना के माध्यम से कैसे पदार्थ जमाये हैं ?

“जिहां लगे आतम द्रव्यनुं, लक्षण नवि जाण्युं;

तिहां लगे गुणठाणुं भलुं, किम आवे ताण्युं ?”

अन्यत्र देखो -

‘हुं एहनो ए माहरो, ए हुं एवी बुद्धि;

चेतन जड़ता अनुभवे, न विमासे शुद्धि ।’

आत्मा की अपेक्षा अधिक प्रधानता शरीर को दे दी । सच कहें - चौबीस घंटे में आत्मा कब याद आती है ?

उसके लिए तो सम्पूर्ण सज्ज होकर एक दम सीधा खड़ा रहना है ।

शास्त्रकारों ने कैसे जीना यह बताया है, उस प्रकार मरना कैसे यह भी सिखाया है । जिसका जीवन अच्छा हो उसकी मृत्यु भी अच्छी ही होगी । फिर भी भरोसे नहीं रहना है । सदा सावधान रहनेवाला ही मृत्यु पर विजयी हो सकता है ।

निदानरहित, शल्यरहित आत्मा ही मृत्यु को जीत सकता है ।

यदि आप मांगो कि मुझे स्वर्ग मिले या राज्य मिले, तो आप मृत्यु के समय हार जाओगे । यहि हृदय में शल्य होगा तो हार जाओगे ।

यदि किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान या काल में आसक्ति होगी तो आप हार जाओगे । तुच्छ आसक्ति भी आपको डुबो देगी ।

प्रभु के अतिरिक्त कुछ भी याद रखने योग्य नहीं है, देखने योग्य नहीं है, साथ ले जाने योग्य कुछ नहीं है ।

प्रभु का सम्बन्ध ऐसा प्रगाढ बनाओ कि भवान्तर में भी वह साथ चले । प्रभु ही माता, पिता, नेता, देव, गुरु आदि हैं । इस प्रकार हृदय से स्वीकार करो । आप समर्पित होओगे तो प्रभु अवश्य रक्षा करेगा ।

माता अपने बालक को नहीं भूलती तो भगवान् भक्त को कैसे भूल सकेंगे ?

यह शरणागति का कवच पहन कर आप मृत्यु की संग्राम भूमि में कूद पड़ें । विजय अवश्य आपकी है ।

“पीनोऽहं पाप पंकेन, हीनोऽहं गुणसम्पदा ।

दीनोऽहं तावकीनोऽहं, मीनोऽहं त्वद्गुणाम्बुधौ ॥”

प्रभु ! मैं भले ही पाप-पंक से पीन हूँ, गुणों से हीन हूँ और दीन हूँ तो भी तेरा हूँ । तेरे गुण-सागर में मीन हूँ । इस प्रकार प्रभु को निवेदन करके शरणागति को सुदृढ बनाओ ।

राधावेध की साधना करने के लिए वर्षों तक साधना करनी पड़ेगी, निरन्तर अभ्यास करते रहकर सावधान रहना पड़ता है । अर्जुन ही केवल राधावेध कर सका क्योंकि उसका पूर्व अभ्यास था । यहां भी मृत्यु के समय समता का पूर्व अभ्यास हो तो ही समाधि रह सकती है ।

ॐ ॐ ॐ

* तीर्थ अर्थात् तीर्थकर का मुख्य कार्यालय । हम उसमें कार्यकर्ता हैं ।

जिनशासन प्राप्त किये हुए एक आत्मा का सम्पर्क होने पर काम हो गया, समझें । उस आत्मा का कल्याण होगा ही ।

अनार्य देश के आर्द्रकुमार ने अभयकुमार से सम्बन्ध बांधा जिससे आर्द्रकुमार का काम हो गया ।

मयणा से सम्बन्ध होने पर कुछ-रोगी श्रीपाल महान् श्रीपाल बना ।

मयणा की माता का गुरु मुनिचन्द्रसूरिजी के साथ सम्बन्ध हुआ और वह सम्यक्त्वी बन गयी ।

जिनशासन को प्राप्त करनेवाले के साथ सम्बन्ध हो और उसका कल्याण न हो यह हो ही नहीं सकता ।

* चार प्रकार के सर्वज्ञ -

१. सर्वज्ञ ।

२. श्रुतकेवली ।

३. भगवान द्वारा कथित तत्त्वों के प्रति श्रद्धालु ।

४. भगवान द्वारा कथित तत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखकर तदनुसार आचरण करने वाले ।

इस अपेक्षा से कन्दमूल का त्याग करनेवाला भी सर्वज्ञ कहलाता है ।

* भगवान के शासन में हम प्रविष्ट हुए तो यह अर्थ हुआ कि अब मोह की गुलामी नहीं रहेगी ।

प्रभु, प्रभु-शासन, प्रभु का आगम मिल गया फिर चिन्ता कैसी ? कर्म सत्ता का भय क्यों ? प्रभु-प्रेमी को विश्वास होता है कि अब ये बिचारे कर्म क्या कर सकेंगे ?

* संयत के दस धर्म हैं - क्षमा आदि १० धर्म ।

उनके साथ असंयत के क्रोध आदि १० अधर्म हैं ।

दस यतिधर्म

दस अयतिधर्म

क्षान्ति

क्रोध

मार्दव

मान

आर्जव

माया

मुक्ति	लोभ
संयम	असंयम
सत्य	असत्य
शौच	अपवित्रता
आर्किचन्य	परिग्रह
ब्रह्मचर्य	अब्रह्म

* मृत्यु को वही जीत सकता है, जिसने व्रत की विराधना नहीं की हो । कदाचित् विराधना हो चुकी हो तो आलोचना से शुद्धि कर लेना, यदि मृत्यु के समय समाधि प्राप्त करनी हो । लक्ष्मणा साध्वीजी थोड़े से शल्य के कारण ही कितने ही समय तक संसार में परिभ्रमण कर चुके हैं, यह हम जानते हैं ।

हम किसी को कहते तो नहीं हैं, परन्तु स्वीकार भी करते नहीं हैं । हमारे शल्यों का उद्धार कैसे होगा ? समाधि-मरण के लिए विशेषतया निःशल्यता चाहिये ।

आराधना पुन्य को पुष्ट करती है ।

विराधना पुन्य को निर्बल करती है ।

* संयम की सुगन्ध मिलते ही लोग झुकते आर्येंगे । लोग आप का वक्तृत्व या पाण्डित्य नहीं देखेंगे, परन्तु संयम देखेंगे ।

आपके पास लोग निर्मल संयम का सरोवर देखेंगे तो वे पिपासु बनकर दौड़ते हुए आर्येंगे । इसके लिए कोई विज्ञापन की आवश्यकता नहीं पड़ेगी ।

केवल आपके दर्शन से, नाम-श्रवण से या पत्र के द्वारा मार्ग-दर्शन मात्र से साधक आत्मा झूम उठेगी ।

पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. पत्रों के द्वारा अनेक जिज्ञासुओं को मार्गदर्शन कराते थे । उन्होंने ने मुझे भी पत्रों के द्वारा अनेक बार मार्ग-दर्शन दिया है ।

वि. संवत् २०२५ में अहमदाबाद की विद्याशाला में पू. देवेन्द्र-सूरिजी विद्यमान थे । व्याख्यान आदि का उत्तरदायित्व मुझ पर था । रविवार को दो बार व्याख्यान रहता था । तब पू.पं. भद्रंकरविजयजी महाराज ने लिखा था कि इतना परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है ।

हमारा भ्रम होता है - 'अधिक बोलेंगे तो अधिक लोग प्राप्त करेंगे ।

आपके जीवन में होगा तो ही श्रोता के हृदय पर प्रभाव पड़ेगा । गुड़ खाने वाले संन्यासी ने उस लड़के को तब ही प्रतिज्ञा दी जब संन्यासीने स्वयं गुड़ खाना त्याग दिया । 'मैं ही गुड़ खाता होऊं तो दूसरे को उसका त्याग करने का कैसे कह सकता हूँ ?'

तब से मैंने निश्चय किया कि कदापि दो व्याख्यान नहीं दूंगा । तब से सार्वजनिक व्याख्यान भी बंद कर दिये ।

* केवल प्रभावक नहीं, हमें आराधक बनना है । पू.पं. महाराज खास पूछते - 'आपको क्या बनना है ? प्रभावक या आराधक ? वे हमें गीतार्थ एवं आराधक बनने का परामर्श देते ।

अन्त में आराधक ही विजयी होता है, प्रभु-भक्त ही विजयी होता है, वे यह समझाते थे ।

दूसरें भले ही चाहे जो बनें अथवा चाहे जो करें, परन्तु मैंने तो आराधक बनने का ही लक्ष्य रखा । बोलो, मुझे कोई हानि हुई ?

* चिन्तामणि रत्न की अपेक्षा भी अधिक मूल्यवान हमारा निर्मल मन है । उसे कदापि मलिन मत बनने दो । आराधना का यही सार है ।

'चित्तरत्नमसंक्लिष्टमान्तरं धनमुच्यते ।'

* एक राजा के पांच सौ ही कुमार जब राधावेध साधने में निष्फल हुए तब मंत्री ने गुप्त रूप से पाले पुत्र को बाहर निकाल कर कहा, "निराश होने की आवश्यकता नहीं है । राजन् ! अब भी आशा की एक किरण है ।"

जब वह पुत्र राधावेध साधने के लिए खड़ा हुआ तब २२ शरारती राजकुमार तथा नंगी तलवारें लिए खड़े दो सैनिक उसमें विघ्न डालने के लिए तत्पर हुए, परन्तु उसने राधावेध साध ही लिया ।

दो सैनिक राग-द्वेष और २२ व्यक्ति २२ परिपह । उनसे चलित हुए बिना हमें समाधि-मरण को साधना है ।

समाधि-मृत्यु की साधना राधावेध जितनी कठिन है, बल्कि

सच्चमुच तो वह राधावेध से भी कठिन है ।

* क्षमा गुण तो आया, परन्तु साथ ही मृदुता नहीं आई तो क्षमा कर के भी अभिमान आयेगा - मैं कैसा क्षमाशील हूँ ?

यह अहंकार आठ फण वाला सांप है । जाति, लोभ आदि आठ मदस्थान आठ फण हैं ।

मृदुता को सहज बनाने के लिए ऋजुता की आवश्यकता होगी । इस प्रकार दसों यतिधर्मों के क्रम में रहस्य है ।

समस्त गुणों की आवश्यकता हो तो एक भगवान को पकड़ लो । भगवान आयेंगे तो कोई दोष खड़ा नहीं रहेगा । सभी गुण आ जायेंगे । प्रभु हमारे बन गये तो प्रभु के गुण हमारे ही बन गये ।

जहां सिंह हो वहां क्या अन्य प्राणी आ सकते हैं ? जिस हृदय में प्रभु हो वहां क्या दोष आ सकते हैं ?

आप केवल प्रभु-भक्त बन कर देखें ।

इस काल में यही एक मात्र आधार है । बाकी कोई वैसे तप, जप अथवा अन्य कोई अनुष्ठान हम कर नहीं सकते । कम से कम मेरे लिए तो इस समय प्रभु ही एकमात्र आधार हैं ।

सच्ची तरह से प्रभु-भक्ति हो तो दोष रहेंगे ही नहीं ।

“प्रभु उपकार गुणे भर्या, मन अवगुण एक न माय रे ।”

समस्त दोषों को नष्ट करने वाले केवल एक प्रभु हैं, ऐसा उपाध्यायजी यशोविजयजी म.सा. जैसे अनुभवियों को समझ में आया है । हमें यह कब समझ में आयेगा ? जब यह बात समझ में आयगी तब ही साधना प्रारम्भ होगी ।

* प्रभु की स्तवना से प्रसन्नता होती ही है । यह बात स्पष्ट है ।

“अध्यर्चनादर्हतां मनःप्रसादस्ततः समाधिश्च ।

ततोऽपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ।”

- तत्त्वार्थ कारिका, उमास्वातिजी

कोई पगला, घर में सांपो और बिच्छुओं को एकत्रित करता रहे और कहे कि मेरे घर में निर्भयता नहीं है, ऐसे व्यक्ति को क्या कहा जाये ?

हम ऐसे ही हैं । क्रोध आदि दोष रूपी सांप-बिच्छुओं का संग्रह करते रहते हैं और फिर प्रसन्नता एवं निर्भयता के लिए इच्छा रखते हैं ।

ॐ ॐ ॐ

दूध-दही-घी-छास

दूध - मैं महान् हूँ । कहा है - 'अमृतं क्षीर-भोजनम्' ।

दही - जाने दे अब, मधुर पदार्थों में मैं प्रथम हूँ । 'दधि मधुरम्'

घी - आप दोनों चुप रहें । सार तो मैं ही हूँ । 'घृतमायुः'

छास - आप सब मेरी महिमा भूल गये ? कहा है - 'तक्रं शकस्य दुर्लभम्'

आदमी - आप सब व्यक्तिगत महिमा गाना छोड़ें और सब साथ मिलकर बोलें - 'हम गोरस हैं ।'

ही हिंसा आदि की उत्पत्ति होती है ।

क्रोध से हिंसा

मान से असत्य

माया से चोरी

लोभ से अब्रह्म एवं परिग्रह के पाप फूलते-फलते हैं ।

भगवान कहते हैं - 'मैंने इस धर्म का विधिपूर्वक पालन किया है और मैं इस स्थिति तक पहुंचा हूं । आप भी इस का पालन करके देखें ।

धर्म दुर्गति से बचाता है ।

धर्म सद्गति में स्थापित करता है ।

अन्त में स्वभाव में स्थिर करता है ।

आत्मा को अब कह दो - अब मैं धर्म का ऐसा पालन करूंगा कि हे आत्मन् ! तुझे कदापि दुर्गति में नहीं भेजूंगा, तुझे सद्गति तथा सिद्धिगति में भेज कर ही दम लूंगा ।

हाथ में आया हुआ यह धर्म खो न जाये उसके लिए सावधान रहना ।

हाथ में आया हुआ चिन्तामणि रख यदि खो जाये तो ? कोई मूर्खता से उसे समुद्र में फेंक दे अथवा कौए उड़ाने के लिए फेंक दे तो ? क्या चिन्तामणि रख दूसरी बार मिलेगा ? चिन्तामणि रख कदाचित् दूसरी बार मिल भी जाये, परन्तु खोया हुआ धर्म दूसरी बार मिले उसका कोई भरोसा नहीं है ।

* आप जिस धर्म में हैं, वहां से अधिकाधिक आगे बढ़ने की भावना आपके अन्तर में होनी ही चाहिये । तो ही आप जहां हैं वहां भी स्थिर रह सकोगे ।

सम्यक्त्वी है तो देशविरति की कामना करो ।

देशविरति है तो सर्वविरति की कामना करो ।

सर्वविरति है तो सिद्धिगति की कामना करो ।

गिरिराज की यात्रा पर जाते समय आप कहां तक चलते हैं ? मार्ग में कई स्थान आते हैं, परन्तु जब तक दादा का दरबार नहीं आता तब तक आप बीच में कहीं भी बैठते नहीं हैं; उस प्रकार जब तक सिद्धिगति प्राप्त न हो तब तक कहीं भी शान्ति

करके बैठना नहीं है ।

इस मार्ग पर जाते हुए कषायों, विषयों, परिषहों आदि अनेक को जीतते हुए जाना है ।

जहां विषय-कषाय होते हैं वहां एकाग्रता नहीं होती । मन चंचल रहता है । चंचल मन में साधना नहीं जमती ।

चंचलता का मूल आसक्ति है । किसी वस्तु या व्यक्ति पर आसक्ति होगी या कहीं भी द्वेष होगा तो मन में खलबली मचेगी । आप आत्म-संप्रेक्षण करेंगे तो यह स्पष्ट दिखाई देगा । चंचलता का मूल प्रिय-अप्रिय में रहा हुआ है । प्रियता एवं अप्रियता जितनी कम होगी, मन की चंचलता भी उतनी कम होगी ।

यह प्रिय है, यह प्रिय नहीं है ।

यह ठीक है, यह ठीक नहीं है ।

यह चलता है, यह नहीं चलता ।

ये समस्त राग-द्वेष के तूफान हैं, यह आत्म-संप्रेक्षण से समझ में आयेगा । राग-द्वेष घटते हैं तब गुण बढ़ते हैं ।

गुण बढ़ने पर प्रसन्नता बढ़ेगी ।

प्रसन्नता का सम्बन्ध गुणों के साथ है ।

अप्रसन्नता का सम्बन्ध दोषों के साथ है ।

कषाय आदि दोष हमारे भीतर विद्यमान ही हैं । कषाय आदि दोषों पर हम अब विजयी बन सकते हैं, परन्तु उनका क्षय नहीं कर सकते । इसीलिए ये दोष ढकी हुई अग्नितुल्य हैं । उसके भरोसे रहने जैसा नहीं है ।

दोषों का क्षय नहीं हुआ । क्षय हो तो क्षायिक गुण प्राप्त होते हैं, परन्तु हमारे गुण तो क्षायोपशमिक भाव के हैं । इसीलिए उनके भरोसे न रहें । साधना में अविरत सावधानी की आवश्यकता है ।

* आज पू.पं.श्री भद्रंकरविजयजी महाराज की स्वर्गारोहण तिथि है । पूरे बीस वर्ष हो चुके हैं । वि. संवत् २०३६ में वैशाख शुक्ला-१४ को स्वर्गवास हुआ था ।

बारह नवकार गिनो । उनके खास बारह नवकार थे । बारह नवकार का प्रचार उन्होंने ही किया था । (सबने बारह नवकार

गिने १) उनकी थोड़ी प्रसादी ग्रहण करें ।

आप में से अनेक व्यक्तियों ने पू.पं. महाराज को देखे होंगे, उनके प्रवचन सुने होंगे ।

मुझे उनके साथ तीन चातुर्मास करने का लाभ मिला । शेषकाल में भी लाभ मिला ।

जिनशासन के ज्ञाता ही नहीं, परन्तु इन अनुभवी महापुरुष की छाया प्राप्त करने के लिए अन्य सब गौण किया ।

उनके पास रहने से अनेक लाभ मिले । वर्षों तक बड़े बड़े ग्रन्थ पढ़ने से जो मिले, वह उनसे सहज ही मिल जाता था ।

इतनी साधना के बीच भी आश्रितों के योग-क्षेम की चिन्ता, संघ के कल्याण की चिन्ता, जिज्ञासुओं को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष मार्ग-दर्शन, अत्यधिक प्रमाण में वांचन, वांचन के पश्चात् नोट लेखन, सतत नवकार की अनुप्रेक्षा आदि उनकी आकर्षक विशेषताएँ थी ।

एक नोटबुक मुझे भी दी थी । मैंने अभी तक उसे सुरक्षित रखी है, जिसमें क्रोध-निवारण करने की कला बताई गई है । क्या आपको वह चाहिए ?

चलो, हम उनके चिन्तन का अवगाहन करें । -

क्रोध का आवेश आये तब क्या करना चाहिये ?

क्रोध करके कई बार हम आनन्द का अनुभव करते हैं । क्रोध किया अतः कार्य हुआ - इस प्रकार हम अनेक बार मानते हैं ।

यही मिथ्यात्व है ।

भगवान ने जिसका निवारण करने का कहा, क्या उसे ही हम प्रोत्साहन देंगे ? क्रोध का आवेश आने पर भगवान का नाम लें । नाम लेते ही भगवान आयेंगे । भगवान आते हैं वहां क्रोध का शैतान उठर ही नहीं सकता ।

क्रोध किससे उत्पन्न होता है ? वह देखो ।

हमारी कामना पूर्ण नहीं होने से क्रोध आता है ।

हमें दो कमरों की आवश्यकता थी, एक कमरा ही मिला । समाचार दिये फिर भी समय पर 'बोक्स' आया नहीं । इच्छित गोचरी नहीं मिली, समय पर नहीं मिली । शिष्य ने आज्ञा का

पालन नहीं किया ।

अब सोचो -

यह कामना कैसे हुई ?

अज्ञान के कारण हुई ।

आत्मा के अज्ञान में से ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं ।

अज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ?

अज्ञान अविवेक से उत्पन्न होता है ।

विवेक से अज्ञान नष्ट होता है ।

ज्ञान से कामनाएँ मिटती हैं ।

कामनाएँ नष्ट होने पर क्रोध भी चला जाता है ।

मेरा नाम अन्य किसी ने रखा है । इस नश्वर नाम के लिए कोई चाहे जैसे बोले, उसमें मुझे इतना क्रोध क्यों करना चाहिये ?

दिखाई देता है वह शरीर है ।

आत्मा दिखाई नहीं देती ।

यह ज्ञान हमें विवेक प्रदान करता है ।

‘मैं’ - ‘मेरा’ यह मोह का मंत्र है ।

उसे हमें “मैं शरीर नहीं हूँ, ये बाहर का मेरा कुछ भी नहीं है ।” इस प्रतिमंत्र से जीतना है ।

यह विवेक भगवान, गुरु एवं शास्त्रों से प्राप्त होता है ।

साधु में क्षमा आदि होती हैं, अविवेक कहां से होगा ? हो तो अठारह हजार शीलांग में से अंगो का भंग होता है ।

* क्रोध का आवेश आये तब क्या करें ?

१. आवेश आता है यह प्रतीत होते ही वह स्थान छोड़ दें ।

२. वह बात और उस व्यक्ति को भूल जायें, भूलने का प्रयत्न करें । नहीं भूल सको तो मन को किसी अन्य में लगाये । उनके दृष्टिकोण को उनकी दृष्टि से भुलाने का प्रयत्न करें ।

३. बात को अन्य मोड़ दें ।

४. भीतर खलबली मचे तब आंखे बंद करके भीतर झांकने का प्रयत्न करें ।

५. ऐसा करने पर भी न जाये तो मन को अन्य विचारों में लगा दें ।
६. ऐसा करने पर भी आवेश नहीं मिटे तो क्रोध के कटु फलों का चिन्तन करें । जिनके फल कटु हों, वैसे कृत्य क्यों करें ?
७. सन्त एवं अरिहंत कैसे शान्त होते हैं ? उनकी शान्ति हमारे भीतर क्यों नहीं आती ?

भगवान सदा शान्त स्वरूपी हैं । यह स्वरूप भगवान भक्त को ही बताते हैं ।

‘भगवान रूप बदलते हैं ।’ ऐसा अनेक व्यक्तियों को प्रतीत होता है । वास्तव में तो भगवान रूप नहीं बदलते, हमारे चित्त के परिणाम बदलते हैं । परिणाम बदलने पर प्रभु बदले हुए प्रतीत होते हैं ।

जब क्रोध आया हुआ हो तब ‘फोटो’ न खिंचवायें । अन्यथा लोग समझेंगे कि यह मनुष्य नहीं, भूत है ।

क्रोध आया हुआ हो तब दर्पण में देखें । भूत के समान चहरा आपको अच्छा नहीं लगेगा । अतः आप शान्त हो जायेंगे ।

जिन प्रशान्त महापुरुषों को आपने देखा हो, पू. कनकसूरिजी, पू. देवेन्द्रसूरिजी आदि को याद करें ।

८. क्रोध मोहनीय के कारण यह क्रोध आया है । अब यदि क्रोध करेंगे तो अधिकाधिक क्रोध-मोहनीय कर्म का बंध होगा । इस प्रकार विचार करें ।

९. यदि उसे नहीं रोका गया तो उसकी श्रृंखला गुणसेन अग्निशर्मा आदि की तरह कितने ही भवों तक चलेगी ।

आवेश में यदि आप उत्तर देंगे तो सामने वालों को तीर की तरह आपके शब्द चुभेंगे और उनके हृदय में वैर का बीज बोया जायेगा ।

आप यह पहले विशेष रूप से सोचें कि क्रोधावेश में बोले गये मेरे शब्दों का क्या प्रभाव होगा ?

१०. क्रोध मेरी ही शान्ति का शत्रु है । शत्रु को मैं अपने आत्मप्रदेशों में स्थान कैसे दे सकता हूँ ? दूसरे भले ही दें, मैं कैसे दे सकता हूँ ?

क्रोध से स्मृति-शक्ति नष्ट होती है । जो मनुष्य जितने आवेश वाले होंगे, उतनी उनकी स्मरण-शक्ति मन्द होगी । आप देखें । बुद्धि-स्मृति नष्ट हो गई तो साधना कैसे कर सकोगे ? क्रोध को जीतने के शस्त्र क्षमा-मैत्री आदि हैं ।

सामने वाले पर भी आपका मैत्री-भाव अखण्ड रहे उसकी सावधानी रखें ।

✿ ✿ ✿

इतना सहन नहीं करोगे ?

सेवाभावी व्यक्ति का क्रोध आप सहन करते हैं ।

कमाऊ पुत्र का रोष सहन करते हैं ।

दुधारु गाय की लात सहन करते हैं ।

रोग मित्यनेवाली औषधि की कड़वाहट सहन करते हैं ।

तो भविष्य में अनन्त लाभ प्रदान करनेवाले, तप आदि धर्म का तनिक कष्ट सहन नहीं करोगे ?

कुछ कट्ट वचन सहन नहीं करोगे ?



क्रिया लीनता

२०-५-२०००, शनिवार

ज्ये. कृष्णा-२ : हस्तगिरि : प्रात १०.३०

(बी. एफ. जसराज लुक्कड़ मन्नासगुडी - आयोजित शत्रुंजय डेम से पालीताणा छ'री पालक संघ, २०० यात्रिक, ज्येष्ठ कृष्णा-१ से ज्येष्ठ कृष्णा-६)

* भगवान के स्वरूप, उपकारों आदि का परिचय हमारे समान बाल-जीवों को समझ में आये अतः स्तुतियों, स्तवनों आदि की रचना की गई है ।

भगवान का उपकार समझ में आने के बाद थोड़ा-बहुत भी अन्य जीवों पर उपकार करते रहने से ही ऋण-मुक्त बना जा सकता है ।

अब तक हमारे जीवने अन्य व्यक्तियों के उपकार लेना ही चालु रखा है, ऋण चुकाना तो सीखे ही नहीं हैं ।

वायु, पानी, वनस्पति, पृथ्वी आदि का प्रति क्षण कितना अधिक उपकार हो रहा है ? इस सम्बन्ध में कभी विचार किया है ?

अपकाय के असंख्य जीव बलिदान देते हैं तब हमारी प्यास बुझती है । वायु काय के असंख्य जीव अपने प्राणों की आहुति देते हैं तब ही हम सांस ले सकते हैं ।

क्या इन सबका हम पर कोई भी ऋण नहीं है ? वह ऋण चुकाने के लिए हमने क्या किया है ? और भविष्य में क्या करने की इच्छा है ?

यहां (साधु-जीवन में) आने के बाद इन छः काय के जीवों को पूर्णतः अभयदान देना है । जीवों के ऋण से मुक्त होने का यह एक ही मार्ग है ।

आप (पं. वज्रसेनविजयजी, चन्द्रसेनविजयजी आदि) और हम सब एक ही हैं । पू. दादाश्री मणिविजयजी महाराज में सब एकत्रित हो जाते हैं । उस प्रकार जगत् के समस्त जीवों के रूप में हम एक हैं ।

जगत् के जीव अपना परिवार लगे तब ही ऋण के बोझ से मुक्त हो सकते हैं ।

* जीव के एक-दो-तीन अनेक भेद हैं ।

एक - चेतना की अपेक्षा से ।

दो - सिद्ध संसारी की अपेक्षा से ।

तीन - तीन वेदों की अपेक्षा से ।

चार - चार गतियों की अपेक्षा से ।

पांच - पांच इन्द्रियों की अपेक्षा से है ।

ये समस्त भेद, प्रभेद यहां तक कि ५६३ भेद भी हम में से सबको याद होंगे, परन्तु भेद जानकर बैठा नहीं रहना है, परन्तु सभी जीवों के साथ अभेद भाव बनाना है । भेद-अभेद सीखने के लिए हैं ।

* प्रश्न - सभा में धनाढ्यों को आगे बिठाये जाते हैं, उस प्रकार नवकार में अरिहंत धनाढ्य हैं, उन्हें पहले बिठाया गया, सिद्ध आठों कर्मों से मुक्त होते हुए भी दूसरे क्रम पर बिठाया । क्या यह पक्षपात नहीं है ?

उत्तर - पक्षपात नहीं है, परन्तु अरिहंतों में परोपकार की मुख्यता है । अतः सिद्ध इससे अप्रसन्न नहीं होते । (यद्यपि उनके अप्रसन्नता का प्रश्न नहीं है, परन्तु यह तो अपनी भाषा की बात है ।) प्रत्युत प्रसन्न ही होंगे, क्योंकि संसार में से निकालकर जीवों को सिद्धगति में भेजने का कार्य अरिहंत ही निरन्तर करते ही रहे हैं ।

अरिहंत ही नहीं होते तो मोक्ष-मार्ग कौन बताता ? मोक्ष-मार्ग ही नहीं होते तो सिद्ध कौन बनेंगे ? इसीलिए अरिहंत मध्य में प्रतिष्ठित हैं ।

* धोबी का कार्य एक ही है, कपड़े स्वच्छ करने का ।
तीर्थकरो का कार्य एक ही है, जगत् को स्वच्छ करने का,
अपवित्र जीवों को पवित्र करने का ।

नाम, आकार, द्रव्य एवं भाव से भगवान सर्वत्र सदा जगत् में पवित्रता का संचार करते रहते हैं ।

श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने कहा है -

“नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।”

* लोगस्स (दूसरा नाम - नामस्तव) से नाम अरिहंत ।
‘अरिहंत चेइआणं’ से स्थापना अरिहंत ।

‘जे अ अइआ सिद्धा’ से द्रव्य अरिहंत ।

‘सव्वन्नूणं सव्वदरिसिणं’ से भाव अरिहंत की स्तुति हुई है ।

मन को प्रिय लगने वाली वस्तु सुनते ही हृदय नृत्य करने लगता है न ? उस प्रकार प्रभु का नाम सुनते ही क्या हृदय नाचता है ? यदि नहीं नाचता हो तो समझें कि अभी तक प्रभु प्रिय लगे नहीं हैं ।

जिसको प्रभु प्रिय लगते हैं, उसे प्रभु का नाम, मूर्ति आदि भी प्रिय लगेंगे ही ।

भगवान की ऐसी करुणा है कि “मेरा साधु संसार छोड़कर संयम-जीवन व्यतीत करे और कुछ प्राप्त न करें, यह कैसे चले ?”

इसीलिए उन्होंने शास्त्रों की रचना की है ।

यहां से लगा कर मोक्ष तक जितने भी गुणों की आवश्यकता हो, वे सभी इस शासन में से मिल सकेंगे, ऐसी शास्त्रकार गेरण्टी देते हैं ।

भगवान जगत् के नाथ हैं तो हमारे नाथ क्यों न हों ? नाथ उन्हें ही कहा जाता है जो अप्राप्त भूमिका हमें प्राप्त करायेँ और प्राप्त भूमिका को अधिक स्थिर बना दें ।

इन भगवान के साथ माता-पिता, बन्धु आदि की अपेक्षा भी प्रगाढ़ सम्बन्ध हो जाना चाहिये ।



वडवाण, वि.सं. २०४७

२१-५-२०००, रविवार
ज्ये. कृष्णा-३ : हस्तगिरि

❖ तीनों काल के स्वरूप के ज्ञाता भगवान ने सबका कल्याण हो वैसा मार्ग बताया है। उसके लिए योग्यता होनी चाहिये, परन्तु कहूं...? यह योग्यता भी प्रभु ही देते हैं।

❖ प्रभु पर प्रेम कब प्रकट हुआ कहा जायेगा ? जब उनके वचन, उनका नाम, उनकी प्रतिमा देखते ही हृदय नाच उठे तब।

प्रभु का नाम स्मरण करके भव्य आत्मा आनन्द प्राप्त करते हैं। अपने हृदय में आनन्द उत्पन्न हुआ यह सत्य है, परन्तु वह आनन्द दिया किस ने ? भगवान ने दिया। पानी में प्यास बुझाने की शक्ति है। पानी के बजाय पेट्रोल पियो तो क्या प्यास बुझेगी ? थोर का दूध पियो तो क्या प्यास बुझेगी ? प्यास बुझी उसमें आप ही कारण नहीं है, पानी भी कारण है, क्या आपको यह लगता है ? क्या आपको लगता है कि हमारे आनन्द के परम कारण भगवान हैं ?

❖ भगवान नाम आदि चारों से समस्त कालों में, समस्त क्षेत्रों में सम्पूर्ण जगत् को पावन कर रहे हैं। अमुक क्षेत्र में ही नहीं, सर्वत्र पावन कर रहे हैं। अमुक समय में ही नहीं, (भगवान

विद्यमान हो तब ही नहीं) सब समयों में पावन कर रहे हैं। यह ध्यान से पढ़ें। भगवान की भगवत्ता कितनी सक्रिय है ? यह समझ में आयेगा। हेमचन्द्रसूरिजी जैसे वैसे ही नहीं लिखते - “नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः।”

पवित्र हम बनते हैं यह सत्य है, परन्तु पवित्र बनाता है कौन ? क्या केवल हमारे भाव ? परन्तु ये शुभ भाव भी भगवान ही देते हैं, यह कभी भी समझ में आया ?

आप भगवान की मुख्यता स्वीकार करें तो ही भगवान में आपको सर्वस्व दिखाई दे और तो ही आप सत्त्वे अर्थ में समर्पण भाव उत्पन्न कर सकें।

नाम-स्थापना आदि के द्वारा भूमिका तैयार करनी है। भूमिका तैयार होने के पश्चात् भाव भगवान मिलेंगे। यही मानें कि हमें यहां परीक्षा के लिये भेजा गया है। यहां नाम-स्थापना आदि की कैसी आराधना करते हैं ? इस आराधना के प्रभाव से ही हमें भाव भगवान की प्राप्ति होगी।

नाम, प्रतिमा आदि भगवान की शाखाएँ हैं, ब्रान्व हैं। भाव भगवान मुख्य कार्यालय है। मुख्य कार्यालय में प्रविष्ट होना हो तो ब्रान्व में अर्जी करनी पड़ती है, यह पता है ?

* नारक वेदना में पीड़ित हैं। देव सुख में मस्त हैं, तिर्यच वेदना से त्रस्त हैं। अब केवल मनुष्य ही ऐसे हैं जो धर्माश्रय कर सकते हैं। यह जीवन हमें मिला, इसमें भी कितने वर्ष व्यतीत हो गये ? अब कितने बाकी हैं ? मैं अपना स्वयं का कहूँ तो ७६ वर्ष चले गये। अब कितने रहे ? काल राजा किसी भी समय आक्रमण कर सकता है। इसीलिए नित्य संथारा पोरसी पढ़ानी है। संथारा पोरसी अर्थात् मृत्यु का सत्कार करने की तैयारी। साधु चाहे जब मृत्यु के लिए तैयार होता है। कल नहीं, आज। आज नहीं, अब; परन्तु मृत्यु आ जाये तो साधु डरता नहीं है। यदि डरे तो वह साधु नहीं है।

* “हे आत्मन् ! तेरा स्वरूप अवर्ण, अगंध, अरस, अरूप, अस्पर्श है।” आत्मा का ऐसा ‘नेगेटिव’ वर्णन क्यों किया ? क्योंकि अनादि काल से हमें वर्णों आदि के साथ एकता लगी है। इसी

में 'अहं' दिखा है । इसीलिए कहा कि यह तू नहीं है । मकान में आप रहते हैं, परन्तु आप मकान नहीं हैं । कपड़ों में आप रहे हैं, परन्तु आप कपड़े नहीं हैं । शरीर में आप रहे हैं, परन्तु आप शरीर नहीं हैं । ऐसी अनुभूति प्रति पल होनी चाहिये । तो ही मृत्यु से भय नहीं लगेगा, मृत्यु को जीत सकोगे ।

* धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय या आकाशास्तिकाय का आत्मा के साथ सम्बन्ध बाधक नहीं है, परन्तु उपकारक है । सिद्धों को भी आकाश आदि का सम्बन्ध है, परन्तु पुद्गल का सम्बन्ध विचित्र है । वह साधक भी बनता है, बाधक भी बनता है । इसीलिए पुद्गलो के सम्बन्धों से सचेत होना है ।

* अन्य जीवों के साथ जैसा आप व्यवहार करेंगे, वैसा ही आप पायेंगे । अच्छा व्यवहार करोगे तो आपका ही हित होगा । दूसरे का अच्छा हो या नहीं हो, परन्तु आपका तो अच्छा होगा ही । इसी प्रकार से दूसरे का अच्छा-बुरा करने का प्रयत्न करोगे तो दूसरे का बुरा हो या न हो, परन्तु आपका तो बुरा (अहित) होगा ही । धवल सेठ ने श्रीपाल का वध करने का प्रयत्न किया, श्रीपाल का कुछ नहीं बिगड़ा, परन्तु धवल सेठ को सातवीं नरक में जाना पड़ा । इसी प्रकार से दूसरे का भला करने के प्रयत्न में कदाचित् भला न भी हो, तो भी अपना तो भला होगा ही । 'सवि जीव करूं शासन रसी' की भावना वाले तीर्थंकर समस्त जीवों का उद्धार कब कर सके हैं ? फिर भी उनका तो भला हुआ ही है ।

* जगत् के सर्व जीवों के कल्याण-कर्ता भगवान हैं । भगवान यदि नहीं होते तो अपना क्या होता ? भगवान ही जगत् के चिन्तामणि हैं, कल्पवृक्ष हैं, वैद्य हैं, नाथ हैं, सर्वस्व हैं । हृदय में यह सतत लगना चाहिये ।

* हमारे भीतर विद्यमान चेतना वफादार है । वह जीव रूपी स्वामी को छोड़कर कदापि कहीं नहीं जाती । वफादारी छोड़ती नहीं है । हम गुरु को छोड़ देते हैं, परन्तु चेतना हमें कभी भी नहीं छोड़ती ।

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ग्राहकत्व, रक्षकत्व आदि शक्तियां

जीव में हैं। एक ज्ञातृत्व शक्ति पर आवरण हैं। वह यदि अनावृत बने तो शेष समस्त शक्तियाँ हमारे विकास में सहायक बनती हैं।

जीव के अतिरिक्त अन्य किसी में यह शक्ति नहीं है। अन्य पदार्थ तो स्वयं को भी नहीं जानते, तो दूसरे को किस तरह जानेंगे ? या वे दूसरे का हित कैसे करेंगे ?

* द्रव्य की अपेक्षा से जीवास्तिकाय अनन्त जीवों का पिण्ड है। क्षेत्र की अपेक्षा से लोकाकाश प्रमाण है, लोकाकाश से बाहर नहीं है।

एक आत्मा को रहने के लिए असंख्य आकाश प्रदेश चाहिये, क्योंकि आत्मा के प्रदेश असंख्य है, परन्तु साथ ही साथ यह भी याद रखें कि एक आकाश प्रदेश में अनन्त आत्मा विद्यमान हैं।

काल की अपेक्षा से जीवास्तिकाय त्रिकालवर्ती है। हम जीवास्तिकाय में हैं न ? हम पहले थे, अब हैं और भविष्य में भी रहेंगे। फिर मृत्यु का भय कैसे ?

पर्याय बदलते हैं, परन्तु द्रव्य नहीं बदलते। दस वर्ष पूर्व मुझे किसी ने देखा हो और आज पुनः देखे तो कहेगा - कद छोटा हो गया, कमर झुक गई। ये बदलते पर्याय हैं, परन्तु द्रव्य कदापि नहीं बदलते।

* पुद्गल के साथ तो हमने एकरूपता की है और प्रभु के साथ अलगाव रखा है। ज्ञानी कहते हैं - पुद्गल भिन्न है, प्रभु के साथ एकता है। इस तत्त्व को समझो।

* ध्वजा आदि के हिलने से नहीं दिखाई देने वाली - वायु को भी हम मानते हैं, उस प्रकार नहीं दिखने वाली आत्मा कार्य से जानी जा सकती है, उपयोग के द्वारा जानी जा सकती है। उपयोग के दो प्रकार हैं - साकार एवं निराकार।

सामान्य है वह निराकार (दर्शन)

विशेष है वह साकार (ज्ञान)

छद्मस्थ पहले दर्शन करता है (देखता है) फिर जानता है।

केवली पहले जानता है फिर देखता है।

जिसमें उपयोग हो उस जीव में परस्पर उपग्रह करने की शक्ति भी होती ही है।

* पुद्गलो के साथ भेद, जीवों के साथ अभेद रखने के स्थान पर हमने विपरीत किया है ।

तीर्थ के वातावरण में कुछ नवीन मिलेगा, ऐसी आशा से आये होंगे, परन्तु मैंने पुराना ही दिया है । थकान तो नहीं आई न ? नींद तो नहीं आई न ?

आपको चाहे जैसा नहीं, परन्तु आपके लिए हितकारी हो वह प्रदान करे वही सच्चा वैद्य है । मैं आपकी आत्मा को हितकारी बातें देना चाहता हूँ ।

प्रभु सभी जीवों के साथ अभेद करके मोक्ष में गये ।

हम सभी जीवों के साथ भेद करके संसार में भटकते रहे ।

यह बात हम भूल गये हैं, परन्तु ज्ञानी कैसे भूलेंगे ? शरीर में क्या हुआ है या भीतर क्या पड़ा है ? इसका पता हमें नहीं लगता, विशेषज्ञ डाक्टर को तो पता लगता है न ? भगवान विशेषज्ञ हैं ।

दूर स्थित नहीं दिखनेवाली वस्तु दिखाये वह दूरबीन होती है । अदृश्य एवं अगम्य पदार्थों को दिखाये वे जिनागम हैं । इसीलिए जिनागम को साधु की आंखे कहा गया है । लोगस्स में आप बोलते हैं न । 'एवं मए अभिथुआ ।' "मेरे समक्ष प्रतिष्ठित भगवान की मैंने स्तुति की है ।" भगवान हमारे समक्ष कहां से आये ? श्रुत की आंखों से आये ।

'भगवान हमारे समक्ष ही हैं' - ऐसी श्रद्धा से ही चैत्यवन्दन करना है । "सात राज अलगा जइ बैठा पण भगते अम मनमांहि पेठा..." यह बात इसी परिप्रेक्ष्य में कही गई है ।

* जीवास्तिकाय का स्वरूप जानने के पश्चात् 'भगवान मेरे हैं ।' ऐसा लगना चाहिये । यही दृष्टि-बिन्दु साधना के लिए महत्त्वपूर्ण है ।

जीवास्तिकाय अनन्त प्रदेशी है । ऐसा प्रथम बार पढ़ने के पश्चात् शंका हुई कि कुछ अशुद्ध तो नहीं है न ? असंख्य के स्थान पर भूल से अनन्त तो नहीं लिखा गया न ? परन्तु आगे टीका आदि में भी 'अनन्त' शब्द का ही प्रयोग था । बाद में लाईट हुई, यह जीव की बात नहीं है, जीवास्तिकाय की बात है ।



प्रभु दर्शन में लीनता, वि.सं. २०५३, कोइम्बतूर

२४-५-२०००, बुधवार
ज्ये. कृष्णा-६ : पालीताणा

* महान् तैराक भी अकेला महासागर को तैर कर पार नहीं कर सकता । महान् साधक भी यह भव-सागर अपने आप तैर नहीं सकता । भक्ति रूपी जहाज का, संयमरूपी जहाज की शरण लेनी ही पड़ेगी ।

* पन्द्रह दुर्लभ वस्तुओं में केवल तीन वस्तु ही बाकी हैं - क्षपकश्रेणी, केवलज्ञान एवं मोक्ष । अब यदि ध्यान नहीं रखा तो किनारे आई हुई नाव डूब जायेगी ।

* कितनेक व्यक्ति तो कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते । कितनेक कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं, परन्तु बीच में छोड़ देते हैं ।

कितनेक व्यक्ति कार्य प्रारम्भ करते हैं और पूर्ण भी कर डालते हैं ।

हम किस के समान हैं ? सिंह की तरह संयम ग्रहण करके सिंह की तरह पालन करने वालों का यहां काम है । यहां सिंह का सीना चाहिये । सियार की छाती वालों का यहां काम नहीं है ।

संयम का आनन्द एवं शुभ ध्यान बढ़ता रहना चाहिये । यदि नहीं बढ़ें तो समझें कि अपने हृदय में सियार बैठा है ।

हृदय में सिंह को बिठाओ । सिंह कदापि पुरुषार्थ रहित नहीं होता । जो प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूर्ण करने में पूर्ण उत्साह से जुट जाये वह सिंह है ।

* साधु का एक विशेषण है - 'परोपकार निर्या' साधु सदा परोपकार में रत होता है ।

गृहस्थ हो तो धन आदि दान करके परोपकार करेगा । हम क्या करेंगे ? हम सम्यग् ज्ञान का दान करेंगे । समस्त जीवों को अभयदान देंगे । यह महान् परोपकार है ।

जीवों को तनिक भी कष्ट देना परापकार है । साधु परापकार निरत न होकर, परोपकार-निरत होते हैं ।

‘पउमाइनिदंसणा’

साधु कमल आदि के समान होते हैं ।

छद्मस्थ भगवान का वर्णन कल्पसूत्र में सुनते हैं न ? वह केवल पढ़ने सुनने के लिए नहीं है । हमें वैसे बनना है, ऐसा भाव लाना है ।

पू. कनकसूरिजी को सुनो तब ऐसा होता है न कि मुझे उनके समान बनना चाहिये ?

बोलो, मेरा यहां आना क्यों हुआ ?

एक बार पू. लब्धिसूरिजी महाराज का फलोदी में चातुर्मास था । मेरे दादा ससुर लक्ष्मीचंदजी ने रात को एक बार उन्हें पूछा था - ‘इस काल में उत्कृष्ट संयमी कौन हैं ?’

उस समय पू. सागरजीमहाराज, पू. नेमिसूरिजी महाराज आदि अनेक महारथी थे, परन्तु अन्य किसी का नाम न देकर पू. लब्धिसूरिजी ने कच्छ वागड़वाले पू. कनकसूरिजी का नाम दिया था । उस समय उनके पुत्र मिश्रीमलजी (कमलविजयजी) भी उपस्थित थे । उन्होंने ने मन में गांठ लगा ली कि दीक्षा ग्रहण करनी तो पू. कनकसूरिजी के पास ही लेनी ।

मेरी दीक्षा की भावना होने पर मैंने यह बात अपने ससुर मिश्रीमलजी को कही । ससुरजी ने कहा, ‘दीक्षा तो मुझे भी अंगीकार

करनी है, परन्तु पू. कनकसूरिजी के पास ही लूंगा । हम सभी साथ-साथ ही वहां दीक्षा अंगीकार करेंगे ।’

मैंने उनकी बात स्वीकार की ।

और मेरी दीक्षा यहां हुई ।

आज लगता है - भगवान ने मुझे कैसी उत्तम जगह पर जमाया ! कैसी उत्तम परम्परा मिली ?

पू. कनकसूरिजी की बात इसलिए करता हूं कि उनके आलम्बन से उनके समान गुण हमारे जीवन में आयें ।

✽ ‘ज्ञानज्झयण संगया ।’ साधु सदा ध्यान अध्ययन में रत होता है ।

चौबीस घंटों में ध्यान-अध्ययन हेतु स्थान कितना ? पहले बड़े आचार्य महाराज भी पत्र में लिखते थे -

“स्वाध्याय-ध्यानादि गुण सम्पन्न मुनिवर श्री”

ऐसे विशेषण सार्थक कब होते हैं ?

हमें ध्यान-अध्ययन में रत रहकर उन विशेषणों को सार्थक करने हैं ।

सूत्र, अर्थ, आलम्बन आदि में मन को समान करना है ।

बालकों के समान मन उछल-कूद करने वाला ही है । उसे ऐसे आलम्बनों में जोड़ना है ।

✽ अपने गुणों का विनियोग न करें तो वे सानुबंध नहीं बनते, भवान्तर में वे साथ नहीं चलेंगे । सर्व प्रथम अपने जीवन में गुणों की सिद्धि प्राप्त करनी है । गुणों की सिद्धि हो जाने के पश्चात् ये गुण दूसरों में वितरित करने हैं, बैठे नहीं रहना है । दूसरों का विचार करना है । ‘मुझे मिल गया अतः बस...’ यह विचार स्वार्थमय है, जिसके हम सब शिकार हो चुके हैं । स्वार्थ के इस खड्डे में से बाहर निकलना हो तो ‘परोक्ष्यार निरया’ परोपकार-निरत बनना ही पड़ेगा ।

दूसरे को दी गई सहायता में से उत्पन्न होने वाला आनन्द एक बार चखेंगे तो जीवन में कदापि भूलोगे नहीं । स्वार्थ का आनन्द बहुत चखा, वास्तव में तो स्वार्थ में कोई आनन्द होता ही नहीं है, केवल आनन्द का भ्रम ही होता है ।

सच्चा आनन्द परोपकार में है, अन्य को सहायक बनने में है। यह बात हम पूर्णतः भूल ही गये। हमारे भगवान परोपकार-व्यसनी और हम सर्वथा स्वार्थान्ध ! भगवान के पास कैसे पहुंचेंगे ? भगवान का इतना वर्णन सुनें, नित्य भगवान के दर्शन करें, फिर भी परोपकार की बूंद भी नहीं आये तो वह हमारा श्रवण कैसा ? अपने दर्शन कैसे ?

भगवान के दर्शन करते-करते भगवान जैसा बनना है, भगवान के गुण प्राप्त करने हैं।

* हमने तो कर्म के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला जंग छेड़ा है। उसके आक्रमण निरन्तर चालु ही रहेंगे, उल्टे बढेंगे। उसके सामने हमें सीधा खड़ा रहना है। विषय-कषायों के आवेश के समय हमें मजबूत रहना है।

प्रतिक्रमण आदि में मुझे तो इतना आनन्द आता है, एक लोगस्स में ही इतना आनन्द आता है कि उससे अलग ध्यान करने की इच्छा ही नहीं होती। छः आवश्यकों के अतिरिक्त दूसरा ध्यान कौन सा है ?

नित्य प्रतिक्रमण करना है यह समझ कर। इसकी उपेक्षा न करें। इसकी उपेक्षा अर्थात् अपनी आत्मा की उपेक्षा। नित्य-नित्य अभ्यास करने का नाम ही तो भावना है।

ऐसे प्रतिक्रमण की उपेक्षा कैसे की जाये ?

जिसकी रचना स्वयं गणधरों ने की हो, जिस पर मलयगिरि जैसे महात्माओं ने हजारों श्लोक प्रमाण टीका लिखी हो, उसके पीछे कुछ तो रहस्य होगा न ? इसे छोड़कर अन्य कौन सी ध्यान-प्रक्रिया हम सीखना चाहते हैं ? उनसे भी क्या हम बढ़कर हैं ?

एक लोगस्स की माहात्म्य तो देखो। पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. तो इन्हें समाधि-सूत्र कहते थे। चौबीस भगवानों के महा मंगलकारी नाम इसमें हैं। भगवान के नाम की अपेक्षा दूसरा मंगल कौन सा है ? भगवान का नाम लेते-लेते, वीर... वीर... बोलते-बोलते तो गौतम स्वामी को केवलज्ञान हो गया था।

जिस में ऐसे समाधि-सूत्र विद्यमान हों, उस प्रतिक्रमण की उपेक्षा करके आप कौन से अन्य ध्यान की खोज में हैं,

यही मुझे समझ में नहीं आता ।

एक 'नमुत्थुणं' की महिमा तो जान लो । जिस पर पू. हरिभद्रमूरिजी जैसे ने 'ललित विस्तरा' जैसी टीका की रचना की, जिसके पठन से सिद्धार्थि गणि जैन-दर्शन में स्थिर बने, जिस का पाठ इन्द्र स्वयं भगवान के पास करते हैं, उस 'नमुत्थुणं सूत्र' की पवित्रता कितनी, महिमा कितनी ?

नमुत्थुणं की स्तोतव्य संपदा, उपकार संपदा, स्वरूप संपदा आदि संपदाओं को बताने वाले पद पढ़ो तो आप नाच उठोगे । भगवान की महिमा आप जान सकोगे । जिस क्षण आप भगवान को सम्मुख लाते हैं, उसी क्षण भगवान की कृपा सीधी ही उतरने लगती है ।

पानी और प्रकाश के साथ जोड़ कर आप नल और लाईट की स्विच के द्वारा उसे प्राप्त कर सकते हैं । उस प्रकार भगवान के साथ जोड़ कर आप अनन्त ऐश्वर्य के स्वामी बन सकते हैं । आवश्यक है केवल जोड़ने की । जोड़ने वाले को ही योग कहते हैं ।

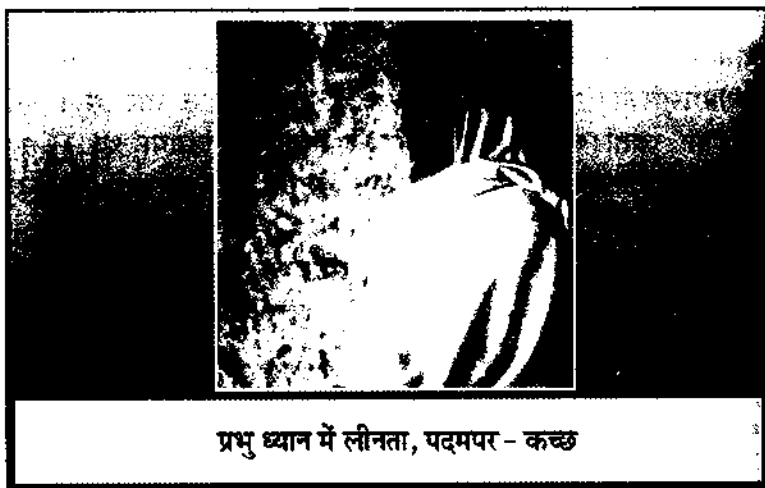
हमारे ये पवित्र सूत्र जोड़नेवाले माध्यम हैं ।

अकाल के समय भी भर ग्रीष्म ऋतु में हरा-भरा वृक्ष देखो तो समझ लेना - उसकी जड़ पाताल के पानी के साथ जुड़ी हुई है ।

नल खोलते ही पानी आये तो समझें कि उसका सरोवर के साथ जोड़ा हुआ है । स्विच दबाते ही प्रकाश हो जाये तो समझें कि उसे 'पावर हाउस' के साथ जोड़ा हुआ है । उसी प्रकार से किसी महात्मा में आप कोई विशिष्ट ऐश्वर्य देखें तो समझें कि उनकी चेतना परम चेतना के साथ जुड़ी हुई है ।

प्रभु की महिमा समझ में आये और हृदय भावित बने उसके लिए पालीताणा चातुर्मास में 'ललित विस्तरा' ग्रन्थ रखने का विचार है । सबको चलेगा न ?

प्रतिक्रमण, चैत्यवन्दन आदि सूत्रों में आप रूचि लेना सीखे । विधिपूर्वक करें, आदि बातों के लिए मेरा यह प्रयास है ।



प्रभु ध्यान में लीनता, पदमपर - कच्छ

२५-५-२०००, गुरुवार
ज्ये. कृष्णा-७ : पालीताना

* एक बार धोने से वस्त्र स्वच्छ नहीं हो तो आप उन्हें बार-बार धोते हैं। उस प्रकार आत्म-शुद्धि के लिए यहां बार-बार यात्रा करनी है।

वस्त्रों के दाग अच्छे नहीं लगते, (यद्यपि मलिन वस्त्र तो साधु का भूषण है।) परन्तु आत्मा पर लगे हुए राग-द्वेष दाग हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता, इनके प्रति घृणा भी नहीं होती।

प्रिय-अप्रिय पर घृणा होनी चाहिये, जो होती नहीं है, यही बड़ी करुणता है।

राग-द्वेष को कमजोर किये बिना आप मृत्यु के समय समाधि प्राप्त कर ही नहीं सकते। मृत्यु के समय यदि किसी के प्रति वैर की गांठ होगी, कहीं प्रगाढ़ आसक्ति होगी तो आप समाधि-मृत्यु प्राप्त नहीं कर सकोगे।

उपमितिकार ने राग को सिंह की और द्वेष को हाथी की उपमा दी है। पांच इन्द्रियाँ राग की खास दासियाँ हैं।

राग-द्वेष में से ही संसार के सभी पापों का जन्म होता है। “दोहिं बंधणेहिं राग-बंधणेणं दोस-बंधणेणं।” राग-द्वेष स्वयं बंधन

चारित्र-गुण को रोकने वाले कषाय हैं ।

इसीलिए साधु का नाम 'क्षमाश्रमण' कहा गया है, शीलश्रमण अथवा नम्रता-श्रमण नहीं । क्रोध कषाय नष्ट होने से उत्पन्न होने वाली क्षमा ही साधु का आभूषण है ।

प्रश्न - अधिक खतरनाक कौन है, राग या द्वेष ?

उत्तर - अपेक्षा से द्वेष खतरनाक है । यदि राग को प्रभु के प्रेम में मोड़ दो तो काम हो जाये ।

द्वेष में ऐसा नहीं हो सकता और द्वेष विध्वंसक है ।

राग को वीतराग के राग में रूपान्तरित कर लें तो वह मुक्ति का मार्ग बन सकता है, परन्तु द्वेष का रूपान्तर करके उसे मुक्ति मार्ग नहीं बनाया जा सकता ।

राग प्रभु के प्रति रखा जा सकता है, समस्त जीवों के प्रति रखा जा सकता है, परन्तु द्वेष तो किसी के प्रति भी नहीं रखा जा सकता । राग का व्याप बढ़ा कर उसे प्रशस्त किया जा सकता है । द्वेष में यह संभव नहीं है ।

प्रभु का राग मोक्ष प्रदान कर सकता है, परन्तु किसके प्रति किया हुआ द्वेष मोक्ष प्रदान कर सकता है ?

प्रभु के प्रति राग हो तो ही उनके साथ एकता हो सकती है, परन्तु राग ही न हो तो ?

राग को जीतने के लिए अनित्य आदि १२ भावनाएं हैं ।

द्वेष को जीतने के लिए मैत्री आदि चार भावनाएं हैं ।

यह सब हम जानते हैं, परन्तु समय आने पर हम प्रयास नहीं करते । जो सही समय पर काम न आये, वह सीखा हुआ क्या काम का ? सही समय हट जाये वह खोपड़ी किस काम की ?

महापुरुषों का कथन है कि यदि भावनारूपी अनुपान का आपने प्रयोग नहीं किया तो धर्मरूपी औषधि कुछ भी लाभ नहीं करेगी ।

* मन-वचन-काया के योगों को यदि अशुभ में जोड़ो तो दण्डरूप बनते हैं, यदि उन्हें शुभ में जोड़ो तो इनाम दिलायेगी । मन-दण्ड आदि को जीतने के लिए मनोगुप्ति आदि की आवश्यकता होगी ।

पांच समितियों हमें शुभ प्रवृत्ति में जोड़ती हैं ।

तीन गुप्तियों हमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों में जोड़ती हैं ।
यद्यपि वैसे गुप्ति निवृत्ति प्रधान हैं, फिर भी शुभ-प्रवृत्ति सर्वथा निषिद्ध नहीं है ।

गुप्ति का अभ्यास अर्थात् ध्यान का अभ्यास मन आदि दण्ड का अभ्यास अर्थात् दुर्ध्यान का अभ्यास ।

समाधि-मृत्यु के लिए आराधक बनना पड़ेगा ।

आराधक बनने के लिए यह सब करना पड़ेगा ।

यह सब कठिन तो है, परन्तु यदि भव-सागर पार करना हो तो यह करना ही पड़ेगा । बाकी, अनुकूलता की खोज में ही जीवन पूर्ण करना हो तो आपकी इच्छा ! परन्तु एक बात कह देता हूँ -

अनुकूलताओं का उपभोग करने के लिए तो हम यहां नहीं आये । अनुकूलताएँ तो घर पर बहुत थी ।

मन को अशुभ बनानेवाले, उसे दण्ड रूप बनाने वाले राग-द्वेष ही हैं । इसीलिए प्रथम राग-द्वेष जीतने की बात कही है ।

राग-द्वेष के आवेश से ग्रस्त मन जो कुछ भी सोचेगा वह मनोदण्ड बनेगा । जो कुछ भी वचन निकलेंगे वे वचन-दण्ड बनेंगे, जो कोई भी काया आचरण करेगी, वह काया-दण्ड बनेगी ।

भोट, गधा, ठोठ आदि शब्दों का प्रयोग करते समय कभी ध्यान आता है कि यह वचन दण्ड हैं ?

“तू कहां सूली पर चढ़ी थी ?” “तेरी क्या कलाइयों कट गई थी ?” ऐसा बोलनेवाले को भवान्तर में सूली पर चढ़ना पड़ा था और दूसरे के हाथ कट गये थे । यह दृष्टान्त यदि हम जानते हों तो वचन-दण्ड का प्रयोग कैसे कर सकते हैं ?

ऐसे प्रभु का शासन मिलने के बाद भी मन-वचन-काया की गर्हित प्रवृत्ति चलती रही तो हमारा कब ठिकाना पड़ेगा ?

हम दूसरों को सुधारने के लिए सतत प्रवृत्त रहते हैं, परन्तु स्वयं पर तनिक भी ध्यान नहीं देते । मैं उपदेश ही देता रहूँ और मेरा जीवन सर्वथा कोरा हो तो मेरा जीवन वास्तव में दयनीय है ।

क्या यह मन दुष्ट ध्यान के लिए मिला है ?

क्या ये वचन दुष्ट वचनों का प्रयोग करने के लिए मिले हैं ?

क्या यह काया दुष्ट प्रवृत्ति करने के लिए मिली है ?

* 'प्रशमरति' मे कहा है - 'अन्य पदार्थों के अच्छे-बुरेपन के विचार में आप समय व्यतीत करते हैं (गुण-दोषों का चिन्तन यहां गुण से व्यक्ति या वस्तु का बाह्य श्रेष्ठत्व लेना है, जैसे कि यह आम अच्छा है । यह गुण हुआ । यह आम खराब है, यह दोष हुआ) उसकी अपेक्षा आत्म-ध्यान में डूब जाते तो कितना उत्तम हो ?

* इस समय वर्तमान जीवन में समता-समाधि नहीं रखें तो मृत्यु के समय समता-समाधि कहां से रख सकेंगे ? क्या डाक द्वारा समता-समाधि मिल जायेगी ? क्या उस समय समाधि का पार्सल उतरेगा ?

समाधि का पार्सल मिल नहीं सकता । उसे तो भीतर से उत्पन्न करनी पड़ती है ।

विहार में दूसरे के पास रहा हुआ पानी का घड़ा क्या हमारे काम में आ सकता है ? हमारे पास हो तो ही घड़ा हमारे काम में आ सकता है । उसी प्रकार से अपने भीतर ही समाधि के संस्कार विद्यमान हों तो काम में आते हैं । कदाचित् विहार में दूसरे का घड़ा भी काम में आ सके, परन्तु समाधि दूसरे की काम में नहीं आयेगी । वह तो स्वयं ही खड़ी करनी पड़ेगी ।

* दूसरे किसी को नहीं, और आपको यह चारित्र क्यों मिला ? भले द्रव्य तो द्रव्य, परन्तु यह चारित्र मिला तो सही, संसार का त्याग किया तो सही, क्या यह कम बात है ? पूर्व जन्म में निश्चित रूप से कोई पुन्याई की होगी, साधना की होगी । इतना नित्य सोचो तो भी काम हो जाये ।

* भगवान आपको श्रेष्ठ तो लगे, परन्तु मैं पूछता हूँ भगवान आपको मेरे लगे ? गुरु श्रेष्ठ तो लगे परन्तु क्या मेरे लगे ? मेरेपन का भाव आते ही अहोभाव सहज ही आ जाता है ।

* समाधि-मरण के निष्णात वे ही बन सकते हैं, जिन्होंने तीन गुप्ति के द्वारा तीन दण्ड रोके हो; कषायों को, राग-द्वेष को मन्द किये हों ।



वासक्षेप प्रदान, भुज, वि.सं. २०४३

२६-५-२०००, शुक्रवार
ज्ये. कृष्णा-८ : पालीताणा

* घोर जंगल में आप मार्ग भूल गये हों, लुटेरों ने आपको लूट कर आंखों पर पट्टे बांध दिये हों, आप भूखे-प्यासे हों, उस समय कोई साहसी व्यक्ति आकर लुटेरों को ललकारे, "खबरदार ! यदि इन पथिकों का नाम लिया तो ! खोल दो इनकी आंखों के पट्टे ! छोड़ दो इन्हें !" तो हमें कितना हर्ष होता है ?

इस समय अपनी यही दशा है । हम भव-अटवी में भूल गये हैं, हमें राग-द्वेष रूपी लुटेरों ने लूट लिया है । हमारी आंखों पर ज्ञानावरणीय कर्म का पट्टा बांधा है ।

भगवान आकर हमें बचाते हैं ।

भगवान सर्व प्रथम अभय देते हैं - अभयदयाणं ! बाद में नेत्रों पर से पट्टा हटाते हैं - चक्षुदयाणं । उसके बाद मार्ग बताते हैं - मग्गदयाणं । तत्पश्चात् शरण देते हैं - सरणदयाणं । फिर बोधि देते हैं - बोहिदयाणं ।

ऐसे भगवान के मिलने का आनन्द कितना होता है ? ऐसे भगवान मिलने पर भी यदि प्रमाद किया तो हमारे समान दयनीय अन्य कोई नहीं होंगे ।

महान् चौदह पूर्वधर भी यदि प्रमाद करें तो ठेठ निगोद में जाते हैं । अनन्त चौदह पूर्वधर निगोद में हैं । यदि यह बात निरन्तर याद रहे तो प्रमाद किस बात का होगा ?

सतत अप्रमत्त रहना ही साधना का सार है । जीवन में सतत अप्रमत्त रहनेवाला ही मृत्यु के समय अप्रमत्त रह सकता है । अप्रमत्त अवस्था अर्थात् जागृतिमय अवस्था । मृत्यु के समय पूर्णतः जागृति हो तो ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है, मृत्यु में समाधि रखी जा सकती है ।

यदि मृत्यु का क्षण चूक गये तो सब चूक गये । मृत्यु के समय समाधि रखने की कला राधा-वेध की कला की अपेक्षा भी कठिन है, यह न भूलें ।

आज रात्रि में ही हमारी मृत्यु होने वाली हो तो क्या हम उसके लिए तैयार हैं ? आज, अभी ही मृत्यु हो तो भी तैयार हो उसे ही मुनि कहा जाता है । मृत्यु का क्या भरोसा ? वह किसी भी समय आ सकती है । आने से पूर्व वह 'फेक्स' या 'फोन' नहीं करेगी । उसके पांवों की आहट तक सुनाई नहीं देगी । वह सीधी ही आपका गला दबायेगी । ऐसा अनेक बार हुआ भी है ।

अषाढाभूति नामक आचार्य अपने शिष्यों को जोग करा रहे थे । रात्रि में अचानक उनकी मृत्यु हो गई । शिष्यों को पता लगने से पूर्व ही देव बने उन्होंने अपने मृत कलेवर में प्रवेश किया और आगाढ जोग पूर्ण कराये । देव का जीव तो जाता रहा, परन्तु शिष्यों में संशय का बीज बोता गया । अतः व्याकुल शिष्यों ने सबको वन्दन करना भी बंध किया । क्या पता ? किसी देव की आत्मा भी हो, जिस प्रकार हमारे आचार्यश्री थे । यह मत कितनेक समय तक चला, बाद में किसीके समझाने पर वे शिष्य सुमार्ग पर आये । यह अव्यक्त नामक निहन्व था ।

तो, मृत्यु चाहे जब आ सकती है । रेल, प्लेन या बस का समय निश्चित कहा जा सकता है, परन्तु मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है । रेल आदि को तो रोक भी सकते हैं, परन्तु मृत्यु को नहीं रोकी जा सकती । डाक्टर का कोई भी

इन्जेक्शन मृत्यु को नहीं रोक सकता । वकील किसी मुकदमे के लिए 'स्टे ओर्डर' देकर उसे स्थगित कर सकता है, परन्तु मृत्यु को 'स्टे ओर्डर' देकर रोकनेवाला अभी तक पैदा नहीं हुआ ।'

मृत्यु तो निश्चित है ही । अब प्रश्न यह है कि वह समाधिमय कैसे बने ? उस समय यदि कोई कषाय आ गये तो - ?

कषाय कुत्ते के समान हैं । बिना बुलाये आये हुए अतिथि के समान हैं । अरे, डंडा मार कर निकालो तो भी आ जायें, वैसे ये कषाय हैं । कुत्ते का ऐसा ही स्वभाव है न ?

वि. संवत् २०३२ में एक बार सादड़ी में मांडली में ही एक कुत्ते ने आकर एक मुनि के पात्र में से मेथी का लड्डू उठा लिया । कोई साधु उसे रोक नहीं सका ।

कषाय भी इस कुत्ते के समान हैं, जो अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त समतारूपी लड्डू को उठाकर ले जाता है ।

मृत्यु के समय इन कषायों से सचेत होना है । अभी से यदि कषायों को मन्द करने की साधना की होगी तो मृत्यु के समय कषायों की मन्दता रह सकेगी, समता रखी जा सकेगी ।

कषायों को हटाने के लिए इन्द्रियों को जीतनी पड़ती हैं । जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की, उसे कषायों को जीतने की आशा छोड़ देनी चाहिये ।

डायबिटीस (मधुमेह) के रोगी को मिष्टान्न प्रिय हैं, परन्तु हितकर नहीं हैं; उस प्रकार इन्द्रियों के विषय इष्ट होते हुए भी हितकर नहीं हैं, यह मानकर जो ज्ञान के अंकुश से इन्द्रियों पर नियन्त्रण करता है वही कषायों पर नियन्त्रण कर सकता है ।

इन्द्रियों का निग्रह ज्ञानी ही कर सकते हैं । तीक्ष्ण ज्ञान एवं सतत जागरूक अवस्था में रहता मन ही इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर सकता है । ज्ञान से यहां विवरण युक्त ज्ञान नहीं लेना है, परन्तु हृदय से भावित हुए ज्ञान की यहां बात है ।

इसका श्रेष्ठ उदाहरण उपा. यशोविजयजी म.सा. है । वे महान् ज्ञानी थे । साथ ही साथ वैसे ही प्रभु-भक्त भी थे । उनका ज्ञान भावित अवस्था में पहुंचा हुआ कहा जा सकता है । भावित ज्ञान

नहीं हो तो 'ज्ञानसार' जैसी उत्कृष्ट रचना होना सम्भव ही नहीं। उनकी 'ज्ञानसार' जैसी कृति से ही उनका हृदय कैसा था, यह समझ में आता है।

इसीलिए ऐसे ग्रन्थ (ज्ञानसार, इन्द्रिय पराजय शतक, वैराग्य शतक, सिन्दूर प्रकरण आदि) हमें हमारे पूज्य आचार्य भगवन् ने कण्ठस्थ कराये थे, क्योंकि वैराग्य से भावित बना हृदय ही आराधक बन सकेगा।

पू.पं. भद्रकरविजयजी म. कहते थे - 'ज्ञानसार' से पूर्व 'योगशास्त्र' के चार प्रकाश एवं 'अध्यात्मसार' ग्रन्थ कण्ठस्थ करें या पढ़ें। 'ज्ञानसार' निश्चय प्रधान है।

व्यवहार में पारंगत होने के बाद ही निश्चय में प्रवेश करना है। तालाब को पार करने में निष्णात बनने के बाद ही समुद्र पार किया जा सकता है। सीधे ही निश्चय प्रधान ग्रन्थ पढ़ने लगोगे तो उन्मार्ग पर चले जाओगे। निश्चय नय प्रमादी व्यक्ति को अत्यन्त ही प्रिय लगता है। ऐसे व्यक्ति निश्चय नय के द्वारा प्रमाद का पोषण ही करेंगे। वे तप आदि से दूर ही रहेंगे।

ऐसे मनुष्यों के लिए शास्त्र शस्त्र बन जायेंगे। कानजी मत में ऐसा ही हो गया है। वे निश्चय-प्रधान समयसार ग्रन्थ लेकर बैठ गये।

★ ज्ञानसार-इन्द्रियजयाष्टक में कहा है - 'बेचारे मूढ़ मनुष्य पहाड़ की पीली मिट्टी को स्वर्ण समझ कर उसके पीछे दौड़ते हैं, परन्तु अनादि अनन्त ज्ञान-धन जो सदा भीतर ही पड़ा है, उसके समक्ष देखते नहीं हैं।

व्यक्ति को पता लग जाये कि घर में ही खजाना गड़ा हुआ है, तो क्या वह बैठा रहेगा? या कुदाली लेकर खोदने लग जायेगा?

हमारे भीतर अनन्त ऐश्वर्य भरा हुआ है, भीतर परमात्मा बैठे हैं, यह जानकर भी हम निष्क्रिय बैठे हैं।

हमारे अनन्त खजाने को अनन्त कर्म-वर्गणाएँ ढक कर बैठी हैं। अतः हम उस खजाने को देख नहीं सकते, देख तो नहीं सकते परन्तु खजाना है, ऐसी श्रद्धा भी नहीं कर सकते।

जिन्होंने 'ज्ञानसार' कण्ठस्थ किया हुआ हो उन सबको विशेष

सूचना है कि यह ग्रन्थ अन्त तक कण्ठस्थ रखना । जब आप साधना के मार्ग में प्रवेश करेंगे तब इस ग्रन्थ में से अपूर्व खजाना प्राप्त होगा; साधना के लिए मार्ग-दर्शन मिलता रहेगा । जितना ज्ञान का अंकुश सुदृढ़ होगा, उतना इन्द्रियो का नियन्त्रण सुदृढ़ होगा ।

ज्ञान को सुदृढ़ बनाने के लिए भक्ति को सुदृढ़ बनायें । भक्ति जितनी तीव्र होगी, ज्ञान उतना ही विशुद्ध बनेगा । नाम लेते ही भगवान याद आयें, हृदय गद्गद् हो जाये उतनी भक्ति को भावित बनायें ।

“नाम ग्रहंतां आवी मिले, मन भीतर भगवान...”

मानविजयजी के ये उद्गार हमारे उद्गार भी बन जायें, इतनी हृद तक हृदय में भक्ति को प्रतिष्ठित करें ।

देह को पंख मिलें और साक्षात् सीमंथर स्वामी को हम मिल सकें या मन की आंखे मिलें तो मिल सकें, ऐसा होता नहीं है । भगवान को मिलने के इस समय दो ही माध्यम हैं - भगवान का नाम और भगवान की प्रतिमा ।

आप पांच परमेष्ठियों के प्रति अथाग प्रेम करना ! उनका प्रेम अपनी पांचो इन्द्रियों की कामना तोड़ डालेगा ।

पांच इन्द्रियों के शब्द आदि पांच विषय का पांच परमेष्ठियों के द्वारा ऊर्ध्वोत्थरण हो सकता है ।

अरिहन्त की वाणी से शब्द
अरूपी सिद्धों के रूप से रूप,
आचार्यों की आचार-सुरभि से गन्ध,
उपाध्यायों के ज्ञान-रस से रस और
साधु भगवन् के चरण-स्पर्श से स्पर्श का ऊर्ध्वोत्थरण होगा ।

ॐ ॐ ॐ

चिन्तन के सात फल

वैराग्य, कर्मक्षय, विशुद्ध ज्ञान, चारित्र के परिणाम, स्थिरता,
आयुष्य, बोधि प्राप्ति ।

स्थायी रखा, गुरुदेवों ने उनका उपदेश दिया और हम तदनुसार जीवन यापन न करें, जीवन जीने का प्रयत्न न करें, प्रयत्न करने का कष्ट भी न रखें तो उन महापुरुषों को कितना कष्ट होता होगा ?

गोचरी मंगवाने वाला गोचरी का उपयोग न करे तो लाने वाले का उत्साह मन्द हो जाता है । आप हमारी बात नहीं सुने, जीवन में नहीं उतारें तो क्या हमारा उत्साह मन्द नहीं पड़ेगा ?

* 'अहो ! अहो ! साधुजी समताना दरिया !'

साधु को समता सागर कहा है । समुद्र नहीं बनें तो कोई बात नहीं, सरोवर तो बनें, कूप तो बनें, वह भी नहीं बनें तो खाबोचिया तो बनें । समता की बूंद भी न हो ऐसा साधुत्व क्या काम का ?

मृग-तृष्णा का जल दूरसे जल की भ्रान्ति कराता है, परन्तु निकट जाकर देखो तो कुछ भी नहीं होता । हमारी समता ऐसी भ्रामक तो नहीं है न ? समता के सागर के नाम पर केवल मृग-तृष्णा नहीं है न ?

* जल - प्यास, दाह, मलिनता दूर करता है ।

अग्नि - ठण्ड दूर करती है ।

वायु - प्राण बनता है ।

धरती - आधार प्रदान करती है ।

वृक्ष - भोजन, आवास, छाया, फूल आदि देता है ।

बादल - जल प्रदान करते हैं ।

चन्द्रमा - शीतलता प्रदान करता है ।

चन्दन - सुगन्ध प्रदान करता है ।

साधु क्या देता है ?

अभयदान, ज्ञान-दान ।

अन्न-दान या धन-दान से क्षणिक तृप्ति होती है, परन्तु ज्ञान-दान या अभय-दान से यावज्जीवन तृप्ति होती है ।

समस्त जीवों को अभयदान देने वाला साधु समग्र ब्रह्माण्ड में शान्ति की उद्घोषणा करता है । साधु घोषित करता है कि अब मैं किसी के लिए दुःखदायी नहीं बनूंगा ।

आपको पता है - कइयों का अस्तित्व ही दुःखदायी होता

है । वे कुछ नहीं करे, यही उनकी भारी समाज-सेवा कहलाती है ।

वास्तव में देखा जाये तो सभी संसारी जीवों का अस्तित्व ही अन्य जीवों के लिए दुःखदायी है । संसार में रहना और दूसरों को कष्ट नहीं देना सम्भव ही नहीं है । इसीलिए संसार से छूटकर मोक्ष में जाना है । मोक्ष में गये हुए सिद्ध किसी के लिए दुःखदायी नहीं बनते । यह भी जगत् की महान् सेवा है । हम मोक्ष में जायेंगे तो जगत् की महान् सेवा गिनी जायेगी । हमारे निमित्त से जगत् को होने वाला कष्ट तो कम से कम रुकेगा ।

साधु ने इस मार्ग में कदम बढ़ाये हैं । इसीलिए साधु अभयदान देकर जगत् पर महान् उपकार करता है ।

साधु किसी को भयभीत नहीं करता तो उसे भी कौन भयभीत करता है ? दूसरे को भयभीत करने वाला स्वयं भी भयभीत ही होता है । दूसरे को अभय देने वाला स्वयं भी अभय ही होता है ।

साधु कैसे होते हैं ? 'सत्तभयद्वाणविरहिओ ।'

साधु सातों भयस्थानों से रहित होते हैं ।

* क्या आपको गर्मी लगती है ? गर्मी लगती हो तो समझें - वाचना में मन नहीं लगा । मन लगा हो उसके लिए गर्मी क्या ? वायु क्या ? मुझे पूछो तो कहूँ... गर्मी का विचार नहीं आता । गर्मी का विचार हमारे चित्त की अनएकाग्रता बताता है ।

* आप देव-गुरु के दास बन गये तो समझ लो - मोह कुछ नहीं कर सकता । कर्मों का सरदार मोह है । भगवान् एवं गुरु की कृपा से ही मोह को जीता जा सकता है । माषतुष मुनि के पास क्या था ? बुद्धि के नाम पर शून्य था ।

तत्त्व तो अधिक क्या समझें ? वे दो वाक्य भी कण्ठस्थ नहीं कर सकते थे । उन्हें किस आधार पर केवलज्ञान मिला ? गुरु-कृपा के आधार पर मिला ।

मोह जाने के बाद ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय आदि कर्मों को जाना ही पड़ता है । सरदार की मृत्यु होने के बाद सैनिक कब तक लड़ेंगे ?

बारहवे गुणस्थानक पर आप क्षीणमोही बने, मोह का पूर्णतः नाश हो गया फिर तुरन्त ही ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्म कह देंगे - 'हम ये चले । हमारा सरदार मर गया है । अब हमारी मृत्यु निश्चित है । ज्ञानावरणीय आदि कर्म हटते ही तेरहवे गुणस्थानक पर केवलज्ञान का प्रकाश अन्तर में प्रवाहित होता है ।

बारहवे गुणस्थानक पर वीतरगता आ गई । वीतरगता आते ही तेरहवे गुणस्थानक पर सर्वज्ञता प्राप्त होगी ही ।

साधना वीतरगता के लिए करनी है, सर्वज्ञता के लिए नहीं । सर्वज्ञता तो वीतरगता का पुरस्कार है । जो आत्मा वीतरग बनती है, उसके कण्ठ में सर्वज्ञता पुष्प-माला बन कर पड़ती है ।

* जब तक अभिमान नहीं जाता तब तक काम नहीं होता । मोह का सम्पूर्ण भवन अहंकार की नींव पर स्थित है । इसीलिए प्रथम नवकार दी जाती है ।

नमस्कार सर्व प्रथम अहंकार रूपी वृक्ष के मूल पर ही कुठारघात करता है ।

ज्यों ज्यों अहंकार नष्ट होता जाता है, त्यों त्यों विनय आती जाती है । विनय आने के साथ अन्य गुण आते जाते हैं, क्योंकि विनय गुणों का प्रवेशद्वार है ।

अहंकार से अशुद्धि बढ़ती है ।

विनय से शुद्धि बढ़ती है ।

गुणवान व्यक्तियों के प्रति ज्यों ज्यों विनय एवं प्रमोद बढ़ते हैं, त्यों त्यों वे गुण हम में आते जाते हैं, क्लिष्ट कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं ।

इसीलिए नमस्कार भाव चौदह पूर्वों का सार गिना गया है । एक नमस्कार भाव आ जाये तो अन्य समस्त गुण स्वयमेव आने प्रारम्भ हो जाते हैं ।

सेवा, पूजा, गुणानुराग, विनय, वन्दन आदि नमस्कार के ही पर्यायवाची शब्द हैं ।

योगोद्बहन क्या है ? नमस्कार भाव की शिक्षा है । प्रत्येक उद्देशा से पूर्व आपको खमासमण देने ही हैं, आपको झुकना ही है । खमासमण नमस्कार के प्रतीक हैं । विनयपूर्वक ग्रहण की

गई विद्या ही फलदायी बन सकती है । यही योगोद्धहन के द्वारा सीखना है ।

योगोद्धहन की सम्पूर्ण प्रक्रिया अपने भावरोग की दवा है । इन्द्रियों, कषायों आदि पर नियन्त्रण करने की शिक्षा योगोद्धहन के द्वारा मिलती है ।

✱ जिस पाप की निन्दा-गर्हा-प्रतिक्रमण न हो, वह पाप इतना बद्धमूल हो जाता है कि इस भव में तो नहीं, भवान्तर में भी नहीं जाता । इसीलिए ज्ञानियों ने हमें पापों से बचाने के लिए आलोचना - प्रायश्चित्त का विधान किया है ।

जिस पाप की आलोचना करने की इच्छा न हो, वह पाप निकाचित हुआ समझें । निकाचित् अर्थात् ऐसा पाप कि जो फल प्रदान किये बिना जाता ही नहीं ।

गुण ज्यों गुणों के अनुबंधवाले बनते हैं त्यों दोष, दोषों के अनुबंध वाले बनते हैं ।

मृत्यु से पूर्व भीतर पड़े शल्य नष्ट करने ही पड़ेंगे । उसके बिना समाधि-मृत्यु प्राप्त हो इस आशा में न रहें ।

आलोचना नहीं होने देने वाला, गुरु के समक्ष पाप प्रकट नहीं होने देने वाला अहंकार है ।

“मैं पापी से पापी हूं, नीच से भी नीच हूं ।” ऐसा संवेदन देव-गुरु के पास कर सकें ऐसी मनःस्थिति जब तक न बने तब तक समझे - अभी तक भीतर अहंकार विद्यमान है । जहां अहंकार हो वहां धर्म कैसे आयेगा ?

अहंकार के आठ अड्डे हैं, जिन्हें हम मद के आठ स्थानों के रूप में पहचानते हैं ।

पू. कनकसूरिजी म.सा. अत्यन्त ही मधुर स्वर में सज्जाय बोलते थे । -

“मद आठ महामुनि वारीए...”

सुनने पर इतना आनन्द आता है । आज भी उन मधुर क्षणों का स्मरण होता है और हृदय गद्गद् हो उठता है । इस सज्जाय में आठों मदों के उदाहरण हैं -

• जाति के मद से हरिकेशी ।

- लाभ के मद से सुभूम ।
- कुल के मद से मरीचि ।
- ऐश्वर्य के मद से दशार्णभद्र ।
- बल के मद से विश्वभूति ।
- रूप के मद से सनत्कुमार ।
- तप के मद से कूरगडू ।
- श्रुत के मद से स्थूलभद्र को क्लेश हुआ ।

इस प्रकार उस सज्जाय में बताया गया है ।

हम इतने 'नम्र' हैं कि मानो कोई भी मद अडचन करता ही नहीं ।

गुणों का मद नहीं किया जाता, उस प्रकार दोषों का भी मद नहीं किया जाता । जिस दोष का मद करो वह दोष पक्का हो जाता है और जिन गुणों का मद करो वे आपके पास से चले जाते हैं । यह नियम सतत याद रखे ।

ॐ ॐ ॐ

पुस्तक-प्रेम

अब्राहम लिंकन, बर्नार्ड शो, टागोर आदि स्कूल में अधिक पढ़े नहीं थे । डार्विन, विलियम स्कोट, न्यूटन, एडीसन, आइन्स्टाइन आदि स्कूल में भोट विद्यार्थी थे । नेपोलियन ४२वें नम्बर पर था, परन्तु इन सबने पुस्तकों के अध्ययन से अद्भुत योग्यता प्राप्त की थी ।

नेपोलियन एवं सिकन्दर जैसे तो युद्ध के समय भी पुस्तकें पढ़ते थे । अमेरिका के भूतपूर्व प्रमुख रूजवेल्ट मुलाकात के समय भी समय मिलने पर पुस्तक पढ़ना छोड़ते नहीं थे । एक मुलाकाती जाता और दूसरा आये तब तक के बिल्कुल अल्प समय का भी वे इस प्रकार सदुपयोग कर लेते थे ।

बढ़ा ? जितना आनन्द बढ़ता जाता हो, उतने प्रमाण में कर्म-निर्जरा हुईं मानें । यह आनन्द समताजन्य होना चाहिये । ममताजन्य मलिन आनन्द की यहां बात नहीं है ।

* साधु के लिए अशन-पान दो ही पर्याप्त होते हैं । खादिम-स्वादिम की साधु को क्या आवश्यकता ? उसमें भी साधु की भक्ति के नाम पर ही चलता हो वहां हम जा भी कैसे सकते हैं ? जायें तो जिन-वचनों का आदर रहा ही कहां ?

यहां अनुकूलता बहुत है । अनुकूलता पतन का मार्ग है । पू. कनकसूरिजी महाराज इसीलिए कहते थे - 'पालीताणा में अधिक रहने जैसा नहीं है । यात्रा करके खाना हो जाना चाहिये ।

दोषपूर्ण गोचरी आती हो, जिसका परिहार प्रायः असम्भव लगता हो, तो कम से कम त्याग तो होना चाहिये । फलों आदि का त्याग तो किया जा सकता है न ? पू. प्रेमसूरिजी महाराज जैसे को तो दीक्षा के दिन से ही जीवनभर फलों का त्याग था ।

बीस वर्ष पूर्व तो हमारे ये दो महात्मा गोचरी के लिए ठेठ गांव में जाते थे ।

कोई भक्ति के लिए आये और महात्माओं की लाइन लगे ? कैसा बेहुदा दृश्य ? महात्मा तो ऐसे कहते हैं - 'हमें आवश्यकता नहीं है । वर्तमान जोग !'

मेरी ये बातें सुनाई देती हैं न ? अन्यथा लोग कहेंगे - 'वाचना तो बहुत सुनते हैं, परन्तु आचरण में कुछ भी नहीं है ।

गृहस्थों को हम कहते हैं -

'अन्य-स्थाने कृतं पापं, तीर्थस्थाने विमुच्यते ।

तीर्थस्थाने कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति ॥

क्या यह बात हम पर लागू नहीं पड़ती ?

साधु को किसकी आवश्यकता है ? आत्म लाभ की अपेक्षा दूसरा कौन सा बड़ा लाभ है ? जितना आप त्याग करेंगे, वस्तुएं आपके पीछे भागेंगी । जितनी स्पृहा करेंगे, उतनी वस्तुएं आपसे दूर भागेंगी ।

संयम पर तनिक तो भरोसा रखो । संयम में उपकारी वस्तु की जब-जब आवश्यकता पड़ेगी, तब मिल ही जायेगी । क्या आपको

विश्वास नहीं है ? कभी वस्त्रों के बिना रहना पड़ा है ?

गृहस्थ धनराशि एकत्रित करते ही रहते हैं, आवश्यकता नहीं हो तो भी एकत्रित करते ही रहते हैं, उस प्रकार हमें भी प्राप्त होती वस्तुएँ एकत्रित करते ही रहना है ? तो गृहस्थ एवं साधु में अन्तर कहाँ रहा ?

याद रखें -

स्पृहा दुःख है ।

निःस्पृहता महासुख है ।

सुख एवं दुःख की यह संक्षिप्त व्याख्या दृष्टि के समक्ष रखकर जियें तो जीवन कितना सुन्दर बन जाये ?

अकेले फ्रुट की भक्ति में हम जा भी कैसे सकते हैं ?

(“पूज्यश्री की बात सबके कानों में पड़े अतः नूतन आचार्यश्री ने खड़े होकर कहा ।”)

ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ इतनी संख्या में हम रह सकें । इसीलिए पूज्यश्री ने यह स्थान पसन्द किया है ।

ऐसी उत्तम वाचनाओं के द्वारा जीवन शुद्ध एवं शुभ बनें, अतः यहां चातुर्मास रखा है ।

अपनी छोटी-बड़ी भूलों का प्रभाव छोटों पर नहीं, बड़ों पर ही पड़ता है । नाम तो बड़ों का ही आता है ।

हमने पूज्यश्री को कहा - ‘आप जो कुछ भी कहना चाहते हों वह वाचना में ही कहें । सभी विनीत है, अवश्य मानेंगे ।

अधिक कुछ न कर सकें तो कम से कम इतना करो - जो यह कह कर जाते हों कि “आज आम की या रस की भक्ति है ।” वहां तो जाना ही नहीं ।

चातुर्मास के निमित्त अन्य वस्तुएँ भी वहोराने के लिए गृहस्थ आने वाले हैं ।

तो जितनी आवश्यकता हो वह यहां पूज्यश्री को बता देना । यहां शर्म रखने की जरूरत नहीं । पिता के पास पुत्रियों को लज्जा रखने की आवश्यकता नहीं होती ।

पूज्यश्री की इस टकोर का आप अच्छा प्रतिभाव देंगे ऐसा विश्वास है ।

(विशेष भक्ति में नहीं जाने की प्रतिज्ञा दी गई । बीमारी के अलावा फलों की प्रतिज्ञा दी गई ।)

उपवासों के पारणों अथवा बीमारी के अतिरिक्त नौकारसी भी बंध करने योग्य है ।

पूज्यश्री -

पू. कनकसूरिजी म. के नियम याद रखें । इस चातुर्मास के बाद अब किसी को यहां चातुर्मास के लिए रहना नहीं है । अब से किसी को यहां चातुर्मास करने के लिए स्वीकृति नहीं मिलेगी ।

सूर्यास्त के बाद बाहर न रहें । सूर्यास्त से पूर्व ही उपाश्रय में प्रविष्ट हो जायें । ऐसा क्रम जमायें ।

* अष्ट प्रवचन माताओं की गोद में रहे साधुओं को कोई भय नहीं होता । इज्जत, अपयश आदि कोई भी भय नहीं होता । भगवान ने नियम ही ऐसे बनाये हैं कि इस मार्ग पर चलने में भय लगता ही नहीं ।

प्रभु-सेवा का प्रथम चरण ही यह है - अभय !

“सेवन कारण पहली भूमिका रे;
अभय अद्वेष अखेद...”

पू. आनंदघनजी म.सा. कृत संभवनाथ का स्तवन ।

* आचार्य आदि कोई पद मिलने से मुक्ति-मार्ग निश्चित नहीं होता । उसके लिए गुण प्राप्त करने पड़ते हैं । रिश्तत देकर आप डाक्टरी सर्टिफिकेट प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु मरते हुए रोगी को खचा नहीं सकते । आप की गुण-रहित पदवियें मोक्ष प्रदान नहीं कर सकेंगी ।

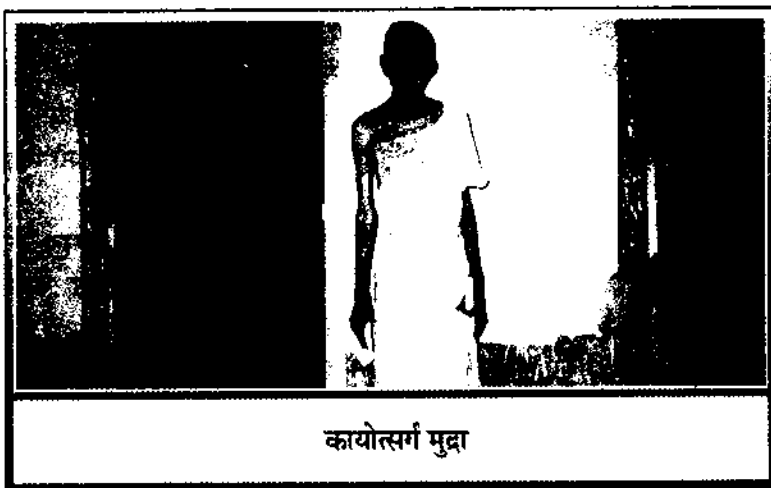
* हम नित्य बोलते हैं -

हे जीव माता-पिता ! हमारी घोषणा सुनें - “आज हम घोषित करते हैं कि हमें समस्त जीवों के साथ मैत्री है । किसी के साथ वैर नहीं है । हम सबसे क्षमा याचना करते हैं । सभी जीव हमें क्षमा करें ।” (खामेमि सव्व जीवे)

इसमें मैत्री भाव के उत्कृष्ट उद्गार हैं ।

मैत्री भावयुक्त साधक सदा अभय होता है ।

* ब्रह्मचारी की प्रशंसा देवलोक में भी होती है । सीताजी



२९-५-२०००, सोमवार
ज्ये. कृष्णा-११ : पालीताणा

* धर्म-श्रवण, धर्म-श्रद्धा, धर्माचरण - यह सब मानव-भव में ही प्राप्त हो सकता है। इसी कारण से आर्य भूमि के मानव-भव की इतनी प्रशंसा की गई है। मानव-भव धर्म श्रवण आदि के द्वारा ही सफल हो सकता है। उसके बदले अन्य कुछ किया तो वह मानव भव का दुरुपयोग कहलायेगा। स्वर्ण की थाली में मदिरा (शराब) पीना स्वर्ण की थाली का अपमान है।

इन्द्र भी ऐसे मानव-भव की चाहना करता है। वह भव हमें प्राप्त हुआ है, यह हमारे पुन्य की पराकाष्ठा है। इसकी दुर्लभता-समझ में न आये यह पाप की पराकाष्ठा है।

* आज भगवती में ऐसा पाठ मिला कि जिससे आनन्द-आनन्द छा गया।

‘असुच्चा’। अन्तिम भव में धर्म सुनने को नहीं मिले तो भी केवलज्ञान प्राप्त हो सकता है। टीकाकार ने लिखा है - ‘सुने बिना भी जिन वचनों के प्रति उसे सम्मान होता है।

यद्यपि पूर्व भव में तो सुना हुआ हो, केवल इस भव की बात है। इस भव की अपेक्षा से ‘असुच्चा’ कहा। (सुने बिना धर्म-प्राप्ति)

भाग्य चाहिये । सरोवर में चाहे जितना पानी नजर के सामने ही दिखाई दे, परन्तु आप अपने मटके के अनुरूप ही ले सकते हैं ।

एक भगवान को आप ऐसे पकड़ लें कि जीवन की किसी भी क्षण में आप उन्हें भूल न सकें । आप भगवान को पकड़ोंगे तो सब पकड़ में आ जायेगा । यदि भगवान छूट जायेंगे तो सब कुछ छूट जायेगा ।

“प्रभु-पद वलया ते रक्षा ताजा ।

अलगा अंग न साजा रे ॥”

प्रभु-भक्ति में रूकावट डालने वाला अहंकार है ।

“मैं दूसरे से कुछ विशेष हूँ । मेरे भीतर बुद्धि-कौशल है अथवा प्रवचन कौशल है ।” ऐसी अनेक भ्रमणाओं में हम जी रहे हैं । जब तक स्व का तटस्थ निरीक्षण नहीं किया जायेगा, तब तक यह समझ में नहीं आयेगा । दूसरों के दोष दिखाई देंगे, परन्तु अपने दोष नहीं दिखाई देंगे ।

जब तक ऐसी भ्रान्तियों चूर-चूर नहीं होंगी, तब तक भगवान मिलने का प्रश्न ही नहीं है ।

अहंकार का विलीनीकरण ही समर्पण की अनिवार्य पूर्व शर्त है । उसके बिना आप चाहे जितने चिह्नार्येंगे, आपकी भक्ति स्वीकार नहीं होगी । वह केवल अहंकार का व्यायाम बना रहेगा ।

* प्रभु दूध के प्याले हैं ।

हम जल के प्याले हैं ।

पानी को दूध का रंग प्राप्त करना हो तो उसका संग करना पड़ता है । जिस क्षण पानी दूध में मिलता है, उसी क्षण वह पानी मिट कर दूध बन जाता है ।

‘मुझे किसी में नहीं मिलना, मुझे तो अलग ही रहना है - यह मानकर पानी का गिलास यदि दूध के गिलास में मिलने के लिए तैयार ही नहीं हो तो ?

क्या हम भी ऐसे ही नहीं हैं ? भगवान को मिलते हैं सही, परन्तु क्या धुलते-मिलते हैं ? मिलना एक बात है, धुलना-मिलना दूसरी बात है ।

पानी यदि दूध का रंग प्राप्त करना चाहे तो उसे दूध में मिल

जाना पड़ता है । यदि भगवान का ऐश्वर्य प्राप्त करना हो तो भक्त को भगवान में मिल जाना पड़ता है । जिस पल हमारी आत्मा परमात्मा के साथ मिल जायेगी, उसी पल आनन्द का अवतरण होगा । प्रति पल असीम आनन्द की अनुभूति ही भगवान में धुल-मिल जाने का चिन्ह है ।

या तो भगवान में मिल जाओ, या तो संसार में मिल जाओ । भगवान में नहीं मिलते तब आप संसार में मिलते ही हैं, मिले हुए ही हैं, यह न भूलें ।

ब्रह्मचर्य का सही अर्थ होता है प्रभु की चेतना में चर्या करना । प्रभु ही ब्रह्म हैं । उनमें चर्या करना ही ब्रह्मचर्य है ।

और सत्य कहूं ? प्रभु मिलने के बाद ही, आप वास्तविक अर्थ में ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते हैं । प्रभु का रस आपको ऐसा मधुर लगे कि जिसके समक्ष कंचन-कामिनी आदि प्रत्येक पदार्थ आपको नीरस लगे । एक प्रभु ही केवल आपको रसेश्वर प्रतीत हो, रसाधिराज प्रतीत हो । उपनिषदों में कहा है - 'रसौ वै सः' अपनी आत्मा रसमय है । उसे यदि प्रभु में रस प्रतीत न हों तो संसार में रसलेने का प्रयत्न करना ही है । अपनी चेतना को प्रभु के रस से रससिक्त करना ही जीवन का सार है ।

अपने जीवन की करुणता तो देखो । केवल एक प्रभु के रस के अतिरिक्त अन्य सभी रस उसमें भरपूर हैं ।

क्या आपको लगता है कि इससे जीवन सफल हो जायेगा ?

* "वसहि - कह निसिज्जिदिय कुड्डितर पुव्व कीलिअ पणीए ।
अइमायाहार विभूसणा य नव बंभचेर गुत्तिओ ॥"

(१) स्त्री संपृक्त वसति, (२) स्त्री कथा, (३) स्त्री बैठी हो वहां ४८ मिनट के अंदर बैठना, (४) स्त्री के अंगोपांग देखना, (५) पर्दे के पीछे से दंपती की बातें सुननी, (६) पूर्व क्रीडा का स्मरण करना, (७) स्निग्ध आहार का सेवन करना, (८) अधिक आहार लेना, (९) शरीर, वस्त्रों आदि की टपटीप करना । इन नौ का त्याग करने से ही नौ गुप्तियों का पालन होगा ।

प्रभु में रस जगे तो ही इन नौ गुप्तियों का पालन सहज ही हो सकता है ।

* मैं करूं वैसे आपको नहीं करना है । मैं नौकारसी करूं तो आपको भी करने की ?

नौकारसी तो मेरी अभी ही प्रारम्भ हुई है ।

दीक्षा ग्रहण करने के समय तो अभिग्रह किया था - सदा एकासणे ही करने ।

उपवास, छठ, अष्टम या अद्वाई के पारणे में भी सदा एकासणा ही करता था । तदुपरान्त गोचरी लानी, लूणे निकालना आदि कार्य भी स्वयं ही करता था ।

पू.पं. भद्रंकरविजयजी महाराज ने कहा, 'आयु बढ़ने पर शरीर घिसता है । आपको अन्य कार्य भी करने हैं । अतः यह एकासणे का नियम जड़तापूर्वक न पकड़े ।'

उन गीतार्थ पुरुष की बात मैंने स्वीकार की । यद्यपि तत्पश्चात् भी वर्षों तक एकासणे ही शुरू रहे ।

एकासणे करने से कितना समय बच जाता है । अध्ययन-अध्यापन आदि के लिए भी पर्याप्त समय मिलता है ।

समय ही हमारा जीवन है । समय बिगाड़ना अर्थात् जीवन बिगाड़ना ।

जो महात्मा मुझे डाक आदि के द्वारा, सेवा आदि के द्वारा सतत सहायक बनते हैं, उन महात्माओं का आप समय न बिगाड़ें । संकेत से समझ जायें । मैं चाहे कुछ नहीं कहता, परन्तु मेरे मौन में भी कुछ संकेत होता है, जिसे आप समझ सकते होंगे ।

* 'भक्ति' हो वहां जाने की इच्छा होती है, इच्छित वस्तु प्राप्त होती हो वहां मन होता है । इससे हमारे भीतर विद्यमान रसना की लोलुपता ज्ञात होती है । रसना की लोलुपता से युगप्रधान आचार्य श्री मंगु को भी गटर का भूत बनना पड़ा था, जिसे हम जानते हैं ।

विगई हमें बलपूर्वक विगति (दुर्गति) में ले जाती है - यह शास्त्रकारों की मान्यता है, मेरी नहीं । आप यह न समझें कि मैं आपके आहार में विघ्न डाल रहा हूं । मेरा नहीं, शास्त्रकारों का यह कथन है ।

ब्रह्मचर्य के पालनार्थ विगई-त्याग की तरह अति आहार भी वर्जित गिना गया है । अधिक आहार से स्वास्थ्य भी बिगड़ता है । फिर डाक्टर भी बुलाना पड़ता है । अनुभवियों का कथन है कि

जो मनुष्य 'उणोदरी' करते हैं वे अनेक रोगों से बचे रहते हैं ।

अधिक आहार लेने वाले रोगों से बच नहीं सकते ।

जो शारीरिक स्वास्थ्य भी नहीं संभाल सकता वह आत्मा का स्वास्थ्य कैसे संभाल सकेगा ?

आपने जो वांचनाएँ सुनी हैं, उनका परिणाम मैं जानना चाहता हूँ । जो महात्मा जितने नियम (कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, माला, तप आदि) लें वे उतने नियम लिख कर हमें दे जायें, ताकि हमें ध्यान रहे । हम उनकी अनुमोदना करेंगे ।

* वि. संवत् २०१४ में सुरेन्द्रनगर में पू. प्रेमसूरिजी के साथ चातुर्मास के बाद प्रेमसूरिजी म. के साथ विहार हुआ । पचास-साठ महात्मा थे । मणिप्रभवविजयजी, धर्मानंदविजयजी आदि महात्मा मार्ग में गावों में से गोचरी लाते ।

एक बार हम वीरमगाम थे । दूसरे दिन पू. प्रेमसूरिजी आदि ५५ ठाणे आनेवाले थे । गोचरी-पानी की भक्ति हमें करनी थी । दूसरी पोरसी का सम्पूर्ण पानी मेरे भाग में आया । मैं घरों में से घूम कर ४०-५० घड़े पानी ला चुका था ।

योगानुयोग आज पू. प्रेमसूरिजी म. की स्वर्गतिथी है । सिद्धान्त महोदधि इन आचार्यश्री ने अनेक महात्माओं को तैयार किये हैं । उन उपकारी आचार्यश्री के चरणों में वन्दन करके उनके गुणों की याचना करें ।

हम भावनगर की ओर जा रहे हैं, परन्तु आप वाचना आदि से वंचित न रहें, अतः अभयशेखरविजयजी द्वारा लिखित 'सिद्धिना सोपान' नामक पुस्तक प्रत्येक ग्रूप को दिया जायेगा । आप सबको वह पुस्तक मिलेगी । आप उसे अत्यन्त मनन पूर्वक पढ़ें ।

नूतन पूज्य आचार्यश्री -

मैं कुछ भी नया नहीं कहना चाहता । केवल पूज्यश्री की बात आपके कानों तक पहुंचानी है ।

आप हृदय से वे बातें स्वीकार करके, नियम बनाकर लिखकर पूज्यश्री को दें । भावनगर-शिहोर से हम आये तब वन्दन से पूर्व आपका यह प्रतिज्ञा-पुष्प आप पूज्यश्री को समर्पित करें । वही सबसे बड़ी गुरुभक्ति होगी ।

ॐ ॐ ॐ



३०-५-२०००, मंगलवार
ज्ये. कृष्णा-१२ : पालीताणा

* धर्म नहीं आये तब तक अनादि काल से लिपटे हुए कर्मों का अन्त नहीं आता । कर्म अशुभ मन-वचन-काया से बंधे हुए हैं । उन्हें तोड़ने के लिए शुभ मन-वचन-काया की आवश्यकता होगी । योग शुभ बनने पर ध्यान शुभ बनता है । ध्यान का मूलाधार योग (मन-वचन-काया) है । जैसी हमारी मन-वचन-काया की प्रवृत्ति शुभ तो शुभ ध्यान होता है । मन-वचन-काया की प्रवृत्ति अशुभ तो अशुभ ध्यान होता है ।

इसीलिए हमारे योग अशुभ बनें, ऐसी कोई भी प्रवृत्ति करने का शास्त्रकार निषेध करते हैं ।

हमारे मोक्ष-मार्ग का सम्पूर्ण आधार इन योगों पर है । ये योग ही हमारे कमाऊ पुत्र हैं । कमाऊ पुत्र ही नुकसान का धंधा करें तो पिता को कैसा लगेगा ? हम योगों को ही अशुभ में जाने दें तो कैसे लगेगा ?

* छः जीवनिकाय की पीड़ा अपनी ही पीड़ा है, यह समझ में न आये तब तक सच्चे अर्थ में हमारे योग हिंसा से नहीं रुकेंगे, अशुभ कार्यों से नहीं रुकेंगे ।

मैं भी पहले गभारे में जाता था, परन्तु मुझे लगा कि मुझे देखकर अन्य लोग सीखेंगे । गलत परम्परा शुरु होगी । मैंने अब गभारे में जाना बंद कर दिया । अब मुझे दूर से भी दर्शन करने में अत्यन्त ही आनन्द होता है ।

अन्य पाप कदाचित् नरक में ले जाते हैं, परन्तु आशातना तो निगोद तक ले जाती है ।

देव-गुरु की आशातना मिथ्यात्व के घर की है ।

मिथ्यात्व के उदय के बिना घोर आशातना की बुद्धि उत्पन्न होगी ही नहीं ।

“गुरु तो ऐसे हैं, वैसे हैं...” यह समझ कर कदापि गुरु की आशातना न करें ।

गौतम स्वामी जैसे गुरु प्राप्त करने के लिए पुन्य भी चाहिये न ? हां, आप गौतम स्वामी जैसे बनोगे तब महावीर स्वामी जैसे गुरु आपको मिल ही जायेंगे । इस समय आपकी योग्यतानुसार आपको जो गुरु मिले है उनका ही सम्मान करें ।

मैं अपनी ही बात करता हूँ । राजनादगांव से निकला तब तक मुझे पता नहीं था कि मेरे गुरु कौन होंगे ? कैसे होंगे ? किसी महात्मा का परिचय भी नहीं था । राजनादगांव में आये सुखसागरजी और रूपविजयजी को जानता था । सुखसागरजी खरतरगच्छीय थे और रूपविजयजी एकलविहारी थे । वे वल्लभसूरिजी के समुदाय के थे । तनिक स्वतन्त्र मस्तिष्क के अवश्य थे ।

कई बार मुझे विचार आता है कि कैसा पुन्योदय है कि मुझे अनायास ही ऐसा समुदाय मिला, हृदय गद्गद् हो जाता है ।

गुरु कदाचित् निर्बल हो तो भी क्या हो गया ? हमारे गुरु पू. कंचनविजयजी की प्रकृति कैसी थी ? यह बात पुराने महात्मा जानते होंगे ।

यशोविजयजी, विनयविजयजी, हेमचन्द्रसूरिजी, हरिभद्रसूरिजी को कैसे गुरु मिले थे ? गुरु की अपेक्षा ये चारों महात्मा अधिक शिक्षित थे, परन्तु उन्होंने गुरु भक्ति में कदापि कमी नहीं रखी ।

यशोविजयजी म. तो स्वयं को नयविजयजी के चरण-सेवक के रूप में कितने ही स्थानों पर पहचान देकर गौरवान्वित होते

३. सरल बनें । (आर्जव)
४. सन्तोषी बनें । (मुक्ति)
५. तपस्वी बनें । (तप)
६. संयमी बनें । (संयम)
७. सत्यनिष्ठ बनें । (सत्य)
८. पवित्र बनें । (शौच)
९. फक्कड़ बनें । (अकिंचन)
१०. ब्रह्मचारी बनें । (ब्रह्मचर्य)

ये ही दस प्रकार के यति धर्म हैं ।

* गृहस्थ जीवन त्याग करके यहां आये । यहां आकर भी वस्तुओं का संग्रह करने लगे तो ?

एक महात्मा के काल धर्म के पश्चात् उनकी पेटियों में से अनेक वस्तु निकली । चालीस तो केवल चशमों की फ्रेम निकली ।

ये परिग्रह संज्ञा के तूफान हैं । उपयोगी होंगे या नहीं ? इनका विचार किये बिना एकत्रित करते रहो उसका मतलब क्या ?

* यहां एक ऐसे महात्मा (पं. चन्द्रशेखरविजयजी के शिष्य मुनिश्री धर्मरक्षितविजयजी) बैठे हुए हैं, जिनकी ९९मी ओली पूर्ण हो गई और आज १००वी ओली प्रारम्भ हुई है । सोलह वर्ष के पर्याय में चौदह वर्ष तो आयंबिलों में व्यतीत किये हैं ।

पांच-पांच सौ आयंबिल चार बार किये हैं । अभी १००८ आयंबिल चल रहे हैं ।

ॐ ॐ ॐ

बीज नहीं बोया तो ?

पढ़ो - लिखो, तप करो परन्तु हृदय में यदि अनन्त (प्रभु) के प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न हुआ तो सब व्यर्थ है । कोई किसान खेत में मिट्टी खोदे, हल चलाये, भूमि समतल करे, पानी से सिंचाई करे परन्तु यदि बीज नहीं बोये तो ?

सिद्ध हुए हैं, अतः यह गिरिराज पवित्र है, यह बात नहीं है, परन्तु यह गिरिराज पवित्र है, अतः यहां अनन्त सिद्ध हो चुके हैं ।

✱ पांच परमेष्ठियों जैसा उत्तम द्रव्य ।

गिरिराज जैसा उत्तम क्षेत्र ।

चौथे ओरे जैसा उत्तम काल ।

(हमारे लिए ये ही चौथा आरा है, क्योंकि नाम-मूर्ति के रूप में यहां भगवान मिले हैं ।)

अब उत्तम भाव उत्पन्न करें तो काम हो जाये ।

इतनी विशाल संख्या में साधु-साध्वीजी यहां किस लिए ? इसके लिए एक की शिकायत भी आई है । हमने लिखा - यहां हमें ज्ञान-ध्यान का ऐसा यज्ञ प्रारम्भ करना है, ताकि रत्न उत्पन्न हों और जिन-शासन को उज्ज्वल बनाये, दीर्घ दृष्टि से देखोगे तो यह सब समझ में आयेगा ।

नूतन पूज्य आचार्यश्री विजय कलाप्रभसूरिजी म.सा. -

✱ जिदगी का कैसा सुहाना अवसर जानने को और मनाने को मिला है ! आत्मोत्थान करने का कैसा भव्य तीर्थ ? इनकी गोदमें ८-८ महिने रहकर रत्नत्रयी की आराधना चतुर्विध संघ को करनी है ।

✱ आप एक-दो महिने में एक-दो दिनों के लिए गिरिराज की मुलाकात ले जायें तो आनन्द नहीं आयेगा । जितने समय रह सको उतने समय लगातार रहोगे तो अधिक आनन्द आयेगा । वांकी में जिन्होंने सतत रहकर अनुभव किया है, उन्हें उनका अनुभव पूछ लें ।

जिस प्रकार पूज्यश्री ने कहा - समग्र वागड़ समुदाय का चातुर्मास यहां है । वागड़ खाली है, परन्तु चिन्ता नहीं करे । शक्तियें यहीं से ही मिलेंगी । वागड़ छोड़कर आप मुंबई गये - धन संचय करने के लिए । हम यहां आये हैं आत्म-शक्ति का संचय करने ।

✱ जिस समाज के पास गुरु नहीं है, उसकी दयनीय स्थिति हम नजर के समक्ष देख रहे हैं । इस दृष्टि से जैन समाज भाग्यशाली है, क्योंकि इसे गुरु मिले हैं ।

बीस वर्ष पूर्व आधोई संघ की ओर से चातुर्मास था । इस

बार का चातुर्मास दो समाजों की ओर से है । दोनों समाजों को कैसे गुरु मिले हैं ?

एक छोटी सी घटना बताता हूँ -

बीस वर्ष पूर्व पू. गुरुदेव तब यात्रा पर गये थे । उस समय हमें कहा - “तुम शीघ्र उत्तर जाओ । मैं दस-साढ़े दस बजे आऊंगा, परन्तु आये सायं साढ़े पांच बजे । उपवास का पच्चक्खाण किया ।

ऐसे हैं गुरुदेव ! किन शब्दों में वर्णन करूँ ?

* हम यहां इतनी विशाल संख्या में क्यों हैं ? आप में से अनेक का यह प्रश्न होगा, परन्तु दो-चार वर्षों के बाद इस तीर्थ पर बार-बार हम चातुर्मास करते हों तो आप कुछ कहने के अधिकारी हैं, परन्तु बीस-बीस वर्षों के बाद यह चातुर्मास कर रहे हैं । पूज्यश्री ने तो कह दिया है - कि अब इस प्रकार का पालीताणा में चातुर्मास अन्तिम है । अतः उत्साह से भाग लें । कुछ महिनों से पूर्व ही यहां ‘आराधना भवन’ जैसा कुछ भी नहीं था, परन्तु आज आप यह ‘आराधना भवन’ देख रहे हैं जो व्यवस्थापकों को आभारी है ।

* जिस समाज का पूज्यश्री को उत्तरदायित्व मिला है, उस समाज को पूज्यश्री भगवान का भक्त ही केवल बनाना चाहते हैं ।

आज हम कुमारपाल आदि को याद करते हैं, उस प्रकार २००-४०० वर्षों के पश्चात् पू. कलापूर्णसूरीश्वरजी की निश्रा में आराधना करनेवाले श्रावक स्मरणीय क्यों न हों ? ऐसा आदर्श जीवन बनाना है ।

* यदि नदी बहती बंध हो जाये तो वह सागर में मिल नहीं सकती । नदी को निरन्तर बहना ही चाहिये । साधक को सतत साधना करनी ही चाहिये । निरन्तरता गई तो सिद्धि गई । सातत्यं सिद्धिदायकम् ।

बैंगलोर चातुर्मास के समय एक सज्जन ने तीरुपात्तूर से बैंगलोर का संघ निकाला था, उस प्रकार यहां भी शिहोर से यहां का छोट्य संघ निकालने वाले संघपति भी धन्यवाद के पात्र हैं । दोनों परिवारों की ओर से निर्मित ‘सिद्धशिला’ धर्मशाला के उद्घाटन के प्रसंग

पर पूज्यश्री मांगलिक सुनाने के लिए पधारेंगे ।

पू.पं. कीर्तिचन्द्रविजयजी

सर्व प्रथम एक बात कह दूं । पूज्यश्री ने गाय का शुद्ध घी तथा पू. नूतन आचार्यश्री ने मक्खन प्रदान किया है । मेरे जैसा तो अब छस ही देगा ।

६-७ वर्षों की आदत के कारण हिन्दी में कहता हूं ।

* गौतम स्वामी ने पूछा, 'भगवन् ! लवणसमुद्र जंबूद्वीप को क्यों नहीं डुबोता है ? किसीने सिद्धार्थ को पूछा, 'आप जूआरी से मुनि कैसे बने ? किसी ने हरिभद्रसूरि को पूछा, 'तुम जैन-शासन के रागी कैसे बने ? पूर्वावस्था में तो विरोधी थे ।' किसीने गांधीजी को पूछा - आप जिस दिशा में दृष्टि डालते हो, उस दिशा में हजारों युवक शहीद होने के लिए क्यों तैयार हो जाते हैं ।

सब का उत्तर था - 'धर्म के प्रभाव से ।'

* हमारा बड़ा सौभाग्य है कि ऐसे गुरु देव मिले हैं ।

किशती देखो तो कश्मीर की,

बस्ती देखो तो कलकत्ता की और

भक्ति देखो तो कलापूर्णसूरि की ।

उनकी भक्ति देखता हूं तो मुक्ति भी मुझे फीकी लगती है ।

* मार्ग में लोग पूछते थे - 'पालीताणा में क्यों जा रहे हो ? वहां क्या करोगे ?' हम कहते - 'कुछ नहीं; पूज्य गुरुदेव जो कहेंगे वह करेंगे ।'

* यह केवल चातुर्मास नहीं, इतिहास बनना चाहिये । एक का धर्म भी जंबूद्वीप को बचा सकता है तो इन सबका धर्म क्या नहीं करेगा ? धर्म यदि महान् नहीं होता तो ये नेतागण धीरुभाई आदि नीचे नहीं बैठते ।

कलकत्ता के चातुर्मास में अखबार में पढ़ा - उत्तर कोरिया के दूतने स्वागत के समय गुजरात विधानसभा के अध्यक्ष श्री धीरुभाई को बोतल दी । धीरुभाई को जब पता लगा कि यह शराब की बोतल है तो उन्होंने ने कहा, "मैं इसका सेवन नहीं करता । क्षमा कीजिये ।

गुरुदेव जैसे धन्वन्तरि वैद्य हैं । इस लाभ के लिए मैं स्वयं को भाग्यशाली मानता हूँ ।

* लक्ष्मी चंचल है, हाथ का मैल है । हम देखते हैं कि वागड़ के ओसवालों ने अभी-अभी ही १००० करोड़ रुपये शेर बाजार में खोये होंगे । लक्ष्मी का क्या भरोसा ?

ऐसी भूमि पर बीस वर्षों के बाद पूज्यश्री चातुर्मासार्थ पधारे हैं, तो भोजनशाला की सभी तिथियों पूरी हो जाये ऐसा उपाय करें ।

नूतन पूज्य आचार्यश्री - भोजनशाला की सभी तिथियां लिखी जायें वैसी चांपशीभाई की भावना स्वागत योग्य है । यहां दान देने से सुपात्र-दान का महान् लाभ मिलेगा ।

* संगीतकार आशु व्यास - गुरु-गुण-भक्ति गीत...

जय कलापूर्णसूरि, जय कलापूर्णसूरि

“जमीन न होती तो आकाश न होता,

श्रद्धा न होती तो विश्वास न होता;

हृदय न होता तो यह सांस न होता,

कलापूर्ण-कलाप्रभसूरि न होते

तो यह आशु व्यास भी न होता ।”

सांतलपुर-निवासी वारैया वखतचंद मेराज की ओर से आश्विन शुक्ला-१४ (द्वितीय मुहूर्त आश्विन कृष्णा-१) से उपधान होगा । मागशीर्ष शुक्ला-३ को उपधान की माला होगी । आराधक तत्काल नाम लिखवायें ।

गुरुपूजन बोली - भेरमल हकमाजी की ओर से (बबिताबेन ताराचंद संघवी, पालीताणा, भेरुविहार, मालगाम (राजस्थान)

संघवी ताराचंदजी - एक परिचय - मालगाम के जिनालय के जीर्णोद्धार शिलान्यास का लाभ ऊंची बोली से लिया है । स्वनिर्मित अनादय तीर्थ की प्रतिष्ठा फाल्गुन शुक्ला-१३ को होगी । पूज्यश्री को भी विनती हुई है ।

* पूज्य नूतन आचार्यश्री - वागड़ की भूमि पर भी विशाल तीर्थ बनेगा, जिसकी घोषणा चातुर्मास पूर्ण होने से पूर्व की जायेगी ।

* हरखचंदभाई वाघजी गौंदरा - आधोई निवासी ने चातुर्मास फण्ड में बड़ी धनराशि लिखवाई ।

धनजीभाई गेला गाला की ओर से चातुर्मास फण्ड में अच्छी धनराशि देने की घोषणा हुई ।

कामली की बोली - मगनीरामजी भंवरलालजी, मद्रास ।

* धीरुभाई (अध्यक्ष, गुजरात विधानसभा) :

प्रभु एवं पूज्य अध्यात्मयोगी गुरुदेवश्री के चरणों में प्रणाम ।

वागड़ समाज पर पूज्यश्री ने महान कृपा की है । पालीताणा में चातुर्मास अर्थात् समग्र वागड़ के गांवों का एक साथ चातुर्मास है, यह मानें । ऐतिहासिक चातुर्मास हो, वैसा होना चाहिये, जैसे पं. कीर्तिचन्द्रविजयजी ने कहा - रात-रात ही रात में, बात ही बात में इतिहास बदल जाता है ।

गांधीधाम में होटल का उद्घाटन मैंने नहीं किया, केवल उपस्थित ही रहा था । इस बात का स्पष्टीकरण इसलिए करना पड़ता है कि अखबार में ना समझी के कारण समाचार छपे थे । मांस-निर्यात देश में से बंध न हो तब तक जो मिठाई का त्याग करके बैठा हो (मैं) वह ऐसी होटलों को किस लिए प्रोत्साहन दे ?

पूज्य गुरुदेवश्री की कृपा से ही पांजरपोल की 'सबसिडी' ६ में से ८, आठ में से दस रूपये प्रति ढोर हो सकी है । ऐसे पूज्यश्री को समर्पित बनकर रहना है ।

दोनों समाजों के द्वारा आयोजित होने वाला यह चातुर्मास ऐतिहासिक बने वैसा करें ।

* वेरशीभाई - अंधेरी (मुंबई) की प्रतिष्ठा हेतु विनती । अंधेरी में जिनालय का निर्माण हो चुका है । आपने वचन दिया था कि दो वर्ष पश्चात् आऊंगा । वह आपको याद दिलाता हूं ।

पूज्यश्री - अनुकूलता मिलने पर देखेंगे ।

* बाबुभाई मेघजी (भूतपूर्व अर्थमंत्री, गुजरात) स्वर्ण की वर्षा हो रही हो, वैसा प्रतीत होता है । ज्ञानसागर पूज्यश्री हैं । एकाध अंजलि प्राप्त हो तो भी काम हो जाये । वागड़-निवासी चाहे पूज्यश्री को अपने माने, परन्तु पूज्यश्री तो सूर्य-चन्द्र की तरह

सबके हैं । सभी उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

पूज्यश्री के चरण पड़ते ही वातावरण ही बदल जाता है ।
ऐसा मैंने सर्वत्र देखा है ।

* वेगवल के ललितभाई मेहता जीवदया के अत्यधिक प्रवृत्तिशील कार्यकर्ता हैं, इसीलिए राज्यसभा में उनका चयन हुआ है । वे यहां आये हैं ।

* बीस वर्ष पूर्व मैं लोकसभा में चुना गया तब पूज्यश्री ने मुझे कहा था - 'रजनीश कच्छ में न आये उसके लिए आपको कार्य करना है । इसीलिए आपका चुनाव हुआ है, यही मानें । क्या आप ऐसा मानेंगे ? पूज्यश्री के आशीर्वाद से हम अंधेरे में पत्थर फैंकते तो भी निशान पर जाकर गिरते थे । हम सब जानते हैं कि रजनीश का कच्छ में आगमन बंध रहा । रजनीश के साहित्य-प्रचारकों को विशेष कहना है कि उसमें भारतीय संस्कृति को हानि पहुंचाने वाली ही बातें हैं । अतः उसका प्रचार हमें नहीं करना है ।

पूज्यश्री - जीवदया के कार्य हेतु मांस-निर्यात-निषेध के कार्यों में हमारे आशीर्वाद ही होते हैं ।

* फलोदी में आगामी चातुर्मास हेतु विनती ।

पूज्यश्री - बीस वर्ष पूर्व हमने फलोदी के बाद पालीताना में चातुर्मास किया था । इस समय पालीताना के बाद फलोदी में चातुर्मास करने का विचार है ।

घोषणा-आज सायं इस चातुर्मास के मुख्य दाता तथा मुंबई से संघ लानेवाले मनफरा निवासी श्रीमती लक्ष्मीबेन प्रेमजी भचु गड्डा परिवार (जोगेश्वरी, मुंबई) का सम्मान होगा ।

ॐ ॐ ॐ

भजन एवं भोजन

भोजन नीरस तो भजन सरस ।

भोजन सरस तो भजन नीरस ।



१२-६-२०००, सोमवार
जेठ शुक्ला-११ : पालीताणा

* जेण जिणा अहु मया, गुत्तो वि हु नवहिं बंभगुत्तीहि ।
आउतो दसकज्जे, सो मरणे होइ कयजोगो ॥ १३८ ॥

* साक्षात् तीर्थकर चाहे नहीं मिले, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमारी पुन्याई सर्वथा अल्प है; क्योंकि करोड़ों जीवों को दुर्लभ भगवान की वाणी एवं भगवान की प्रतिमा हमें प्राप्त हुई है ।

* सम्यक्त्व से पूर्व के तीर्थकरो के भव भी नहीं गिने जाते तो हम जैसों की बात ही क्या है ?

जीव अनादिकाल से है, तो तीर्थकरो के जीवन-चरित्र का प्रारम्भ कब से करें ? सम्यक्त्व प्राप्त हो तब से प्रारम्भ करें । धन सार्थवाह से आदिनाथ भगवान का एवं नयसार से महावीर स्वामी का जीवन प्रारम्भ होता है ।

इसका अर्थ यह हुआ कि सम्यक्त्व पूर्व का जीवन, जीवन ही नहीं कहलाता । सम्यक्त्व के पश्चात् का जीवन ही वास्तविक जीवन है । उससे पूर्व केवल समय व्यतीत होता है, इतना ही ।

* हम तड़प रहे हैं उससे अनेक गुने अधिक हमें तारने

के लिए भगवान तड़प रहे हैं ।

हमारा तरने का मन नहीं होता क्योंकि सहजमल है । आप समझें उस भाषा में कहूं तो स्वार्थवृत्ति है । स्वार्थवृत्ति वालों में दया, परोपकार, दान आदि गुण न आयें तब तक धर्म का प्रवेश नहीं हो सकता ।

अपनी दया, दया नहीं गिनी जाती ।

अपना उपकार, उपकार नहीं गिना जाता ।

स्वयं को किया गया दान, दान नहीं गिना जाता ।

जितने अंशों में दया, परोपकार आदि बढ़ते जाते हैं, उतने अंशों में समझ लें कि या तो सम्यक्त्व हो चुका है या होनेवाला है ।

जब धर्म सूर्य निकट में उग रहा हो तब परोपकार का अरुणोदय होगा ही । मेघकुमार आदि इसके उदाहरण हैं ।

* देह के साथ का अभेदभाव छूट जाये तो प्रभु के साथ भेदभाव टूटे, अथवा प्रभु के साथ का भेदभाव छूटे तो देह के साथ का अभेदभाव टूटे, यह भी कहा जा सकता है ।

* नमस्कार हमें छोटा प्रतीत होता है, परन्तु ज्ञानी की दृष्टि उसमें जिन-शासन देखती है ।

नमस्कार पर लिखने वाला मैं कौन होता हूं ? आज तक उस पर कितना-कितना लिखा जा चुका है । मैं नवीन क्या लिखूंगा ? यह कह कर अपने पूर्याचार्यों ने इस नमस्कार पर निर्युक्ति आदि लिखे हैं ।

* यहां आये हो तो इतना संकल्प कर ही लें कि 'दादा ! अब तो मैं समकित लेकर ही जाऊंगा ।'

खाली हाथ पुनः न जायें ।

मैं तो हठ लेकर बैठ जाऊं ! इन दादा को कैसे भूल सकता हूं ? उन्होंने ने ही यह सब किया है । अन्यथा मध्य प्रदेश के दूर स्थित ऐसे गांव में रहते थे, जहां धर्म-सामग्री अत्यन्त ही दुर्लभ थी । समेतशिखर जाता हुआ कोई एकल-दोकल साधु कभी मिल जाये, इतना ही । ऐसी स्थिति में धर्म की इतनी सुविधा कर देने वाला कौन है ?

आप मानो या न मानो, मैं तो कहूंगा कि सब भगवान ने ही व्यवस्था कर दी है ।

मिट्टी भले ही उपादान कारण हो, परन्तु कुम्हार के बिना मिट्टी घड़ा नहीं बन सकती । उस प्रकार जीव भले ही उपादान कारण हो, परन्तु भगवान के बिना उसकी भगवत्ता प्रकट नहीं होती, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है । साधना की यही मुख्य नींव है, ऐसी मेरी समझ है ।

शास्त्रकारों की दृष्टि से मैंने अपनी इस समझ की जांच की है और मुझे वह सही प्रतीत हुई है । इसीलिए इतना बल देकर और अधिकार पूर्वक मैं यह बात कह सकता हूं ।

यशोविजयजी जैसे महान बुद्धिमान भी जब भक्ति को सार बताते हों, तब भक्ति ही केवल साधना का हार्द है, यह हमारा दिमाग स्वीकार नहीं करता हो तो हद हो गई ।

* अठारह वर्ष पूर्व नागेश्वर के संघ के समय 'चंदाविज्झय पयन्ना' ग्रन्थ पर वाचना रखी गई थी । अब यह दूसरी बार वाचना चल रही है । पुनः पुनः यही ग्रन्थ क्यों ? यह न पूछें । पैतालीस आगम एक बार पढ़ लिये तो क्या पूरा हो गया ? सात बार पढ़ें । तो ही रहस्य हाथ में आयेगा । हम सब नया-नया पढ़ने के शौकीन हैं, परन्तु पुरानों की ओर कदापि दृष्टि तक नहीं डालते । नया-नया पढ़ने के बजाय पुराने की अधिकाधिक पुनरावृत्ति करेंगे, त्यों त्यों रहस्य हाथ में आते जायेंगे ।

* चंदाविज्झय पर गुजरती अनुवाद भी हो चुका है । यह पुस्तक प्रत्येक गृप को दिया है, फिर भी किसी को चाहिये तो मिलेगा ।

* भगवान की कैसी अद्भूत व्यवस्था है ? भगवान महावीर के पश्चात् ७७वीं पाट पर मेरा नम्बर आया है, तो भी मैं भगवान की वाणी जान सकता हूं । इतना ही नहीं, दुप्पसहसूरि तक यह भगवान की वाणी चलेगी ।

भगवान का असीम उपकार है ।

* धर्म का एक अर्थ स्वभाव भी है ।

साधु-जीवन में दसों यति धर्म अपना स्वभाव बनना चाहिये ।

अब तक क्रोध, मान आदि हमारे स्वभाव रूप बन गये थे । अब क्षमा-मार्दव आदि स्वभाव बनना चाहिये । साधु-जीवन में यही करना है ।

क्रोध आदि का सामना करने के लिए ही भगवान ने हमें दस वस्तुएँ दी हैं; तो ही हमें समाधि मिलेगी ।

इस ग्रन्थ में समाधि पर ही बल दिया गया है । मृत्यु में समाधि कब रहेगी ? जब जीवन में शान्ति होगी तब । शान्ति कब होगी ? जब दस प्रकार का यति धर्म स्वभावभूत बनेगा तब ।

‘प्रगट्यो पूरण रग...’ स्तवन में कवि कहते हैं ।

“वासित है जिनगुण मुज दिलकुं जैसे सुरतरु बाग...”

प्रभु ! आपके गुणों से मैंने अपना हृदय नन्दन-वन तुल्य बना दिया है । गुणों के गुलाब से वह महक उठा है ।

दस यति धर्म जीवन में आने पर ही ऐसा हो सकता है ।

✽ सव्वस्सवि दुच्चित्तिअ...!

प्रभु ! मैंने मन से दुष्ट सोचा हो,

वचन से दुष्ट उच्चारण किया हो,

काया से दुष्ट आचरण किया हो,

उसके बदले मिच्छामि दुक्कडं मांगता हूँ ।

प्रतिक्रमण का यह सार है । अतिक्रमण करनेवाली चेतना को प्रतिक्रमण के द्वारा स्व-घर में प्रतिष्ठित करनी है ।

✽ छोटा बच्चा रूपयों की ढेरी को आग लगाता है, ज्वालाओं को देखकर आनंद प्राप्त करता है, परन्तु उसके पिता को क्या होता है ?

हम छोटे बच्चों के समान हैं । संयम की नोटों को आग लगा रहे हैं । पिता के स्थान पर रहे जानियों को यह देखकर क्या होता होगा ? इसकी आप कल्पना कर सकते हैं ।

यह प्रवृत्ति रोकने के लिए ही हम यहां एकत्रित हुए हैं । कितने ही तो ऐसे हैं, जिन्होंने कदापि अहमदाबाद छोड़ा ही नहीं है ।

दवा आदि के कारण आते ही रहते हैं । ऐसे भी यहां चातुर्मास के लिए आ पहुंचे हैं । इसका अर्थ यही है कि सबको आराधना प्रिय है ।

अब यहां आकर आराधना ही करोगे न ? छोटी सी भी भूल करोगे तो भी लोगों में गाये जाओगे वह ध्यान में रखें । कहने वाले यह भी कहते हैं कि इतनों की यहां क्या आवश्यकता है ? आप थोड़ी सी भूल भी करेंगे तो लोग तो मुझे ही पकड़ेंगे । मुझे यश देना या अपयश, यह आपके हाथों में है ।

यहां आये हैं तो बराबर ग्रहण करें । एक समय ऐसा था जब मैं सोचता कि आज तो मैं बोल गया, परन्तु कल क्या बोलूंगा ? आधा मैटर रहने देकर वह बात अगले दिन पर रहने देता, परन्तु अब ऐसा नहीं है । दादा जब देने वाले बैठे हैं तो मैं कंजूसई (कृपणता) क्यों करूं ?

* गणि अभयशेखरविजयजी ने पांच आशय स्पष्ट करने वाली पुस्तक (सिद्धिना सोपान) भेजी है । आप सबको वह पुस्तक प्रदान की गई है ।

इस पुस्तक में पांच आशयों पर लिखित बातें अच्छी तरह पढ़ें । किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं करो तब तक वह अपूर्ण गिना जायेगा ।

* सब तो हम पकड़ नहीं सकेंगे । मैंने भक्ति-मार्ग पकड़ा है । ज्ञानयोग में काम नहीं है । चारित्र्ययोग में अशुद्धियां हैं । तो क्या करें ? मैंने तो एक भक्तियोग पकड़ा है, जिसे मैं हृदय से चाहता हूं । आपने क्या कोई योग पकड़ा है ?

ॐ ॐ ॐ

भक्ति के लिए क्या चाहिये ?

तपस्वी बनने के लिए शारीरिक शक्ति अपेक्षित है ।

ज्ञानी बनने के लिए बौद्धिक शक्ति अपेक्षित है ।

दानी बनने के लिए धन-शक्ति अपेक्षित है ।

परन्तु भक्त बनने के लिए निरपेक्ष बनना अपेक्षित है ।

किसी भी शक्ति पर मगदूर बना व्यक्ति कदापि 'भक्त' नहीं

बन सकता ।



अग्नि संस्कार, शंखेश्वर

१३-६-२०००, मंगलवार
जेठ शुक्ला-१२ : पालीताणा

* भले, इस काल में मुक्ति नहीं है, परन्तु मुक्ति की साधना तो है ही, मुक्ति का मार्ग तो है ही । मार्ग पर चलते रहेंगे तो इस भव में नहीं तो आगामी भव में मुक्ति रूपी मंजिल मिलेगी ही ।

मुक्ति की साधना करते-करते मुक्ति जैसे आनन्द का यहां अनुभव किया जा सकता है । इसे जीवन-मुक्ति कही जाती है । जीते जी मुक्ति का सुख अनुभव करना जीवन मुक्ति है ।

अरबों रूपयों का आनन्द हजार अथवा लाख में अमुक अंशों में अनुभव किया जा सकता है; उस प्रकार मुक्ति के आनन्द की झलक यहां अनुभव की जा सकती है ।

जिसके पास एक भी रूपया न हो, वह अरबों रूपयों के आनन्द का अनुभव कैसे कर सकता है ?

आत्मिक आनन्द को रोकने वाले विषय हैं, कषाय हैं । ज्यों ज्यों विषय-कषाय घटते जाते हैं, त्यों त्यों आत्मिक आनन्द बढ़ता जाता है ।

दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से सम्यक्त्व प्राप्त होता है, परन्तु

आत्मानन्द की रमणता तो चारित्र मोहनीय क्षयोपशम से ही अनुभव की जाती है ।

✱ दूसरे का दुःख स्व में संक्रान्त हो तब कहा जा सकता है कि अब करुणा का, अनुकम्पा का आविर्भाव हुआ है ।

सबसे अधिक दुःखी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा कि अविरत सम्यग्दृष्टि दुःखी है, नरक या निगोद आदि के जीव दुःखी अवश्य है, परन्तु वे स्व-दुःख से दुःखी हैं, जबकि सम्यग्दृष्टि पर दुःख से दुःखी हैं ।

इसे अनुकम्पा कहा जाता है ।

✱ विनयविजयजी म. का कथन है कि किसी के प्रति वैर-विरोध नहीं रखना चाहिये, क्योंकि सभी जीवों के साथ अनन्त काल में हमने अनन्त बार माता-पिता आदि का सम्बन्ध बांधा है, उनके साथ शत्रुता कैसे रख सकते हैं ?

दूसरे के साथ शत्रुता रखनी अर्थात् अपने साथ ही शत्रुता रखनी । दूसरे के साथ मित्रता रखनी अर्थात् अपने साथ ही मित्रता रखनी, क्योंकि अंततोगत्वा यह अपने ऊपर ही फलित होती है ।

कदाचित् किसी पर उपकार करें तो भी क्या हो गया ? अनन्त काल में हमने कितनों का ऋण लिया है ? कुछ करेंगे तो ही हम अमुक अंशों में ऋण मुक्त बनेंगे न ?

✱ निर्वाणपदमप्येकं, भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः ।

तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं, निर्बन्धो नास्ति भूयसा ॥

‘ज्ञानसार’ के इस श्लोक पर अपने गुजराती ट्का में पू. उपाध्यायजी यशोविजयजी ने उमास्वातिजी के कथन का उल्लेख किया है कि “एक सामायिक पद के श्रवण से अनन्त जीव मोक्ष में गये हैं ।”

सब करके हमें सामायिक के फल स्वरूप समता प्राप्त करनी है । केवल मोक्ष का जाप करने से मोक्ष नहीं मिलता । मोक्ष के लिए मोक्ष की साधना रूप सामायिक का आश्रय लेना पड़ेगा । सामायिक से समता मिलेगी । समता आपको यही मुक्ति का आस्वादन करायेंगी ।

एक हाथ में सुषमा का सिर और दूसरे हाथ में रक्तपान करती तलवार लेकर दौड़ने वाला चिलातीपुत्र भयंकर दुर्ध्यान में चढ़ा था,

वह समता के आश्रय से ही शुभ ध्यान में चढ़ा। उपशम, विवेक एवं संवर के चिन्तन ने उसे शुभ भावधारा में लाया।

इन तीन शब्दों में ऐसा क्या होगा, जिससे चिलातीपुत्र को समाधि लग गई? अपनी साधना के लिए कोई उपयुक्त शब्द क्या हम नहीं ढूँढ सकते?

✱ चार प्रकार के ध्यान (आर्त-रौद्र-धर्म-शुक्ल) के विस्तार में पूज्य हरिभद्रसूरिजी ने सम्पूर्ण ध्यान-शतक उडेल दिया है।

हम जब शुभ-ध्यान में नहीं होते तब अशुभ-ध्यान में होते ही हैं, क्योंकि इन चार ध्यानों के अतिरिक्त अन्य कोई ध्यान हो ही नहीं सकता। खेत में अनाज नहीं उगे तो घास तो उगेगी ही। शुभ ध्यान नहीं हो वहां अशुभ-ध्यान होता ही है।

शुभ-ध्यान के द्वारा समता-समाधि प्राप्त होती है। अभी से ही यदि समाधि की कला हस्तगत न करें तो मृत्यु के समय समाधि कैसे मिलेगी?

हम तो समाधि के विषय में कुछ भी नहीं सोचते, परन्तु महापुरुष थोड़े ही भूलते हैं? 'चंदाविज्झय' पर विशेषतः इस पर ही बल दिया गया है।

साधारण कष्ट से ही हम समता से च्युत हो जाते हैं। कारण यह है कि स्वेच्छा से परिषह सहन नहीं करते। अत्यन्त ही अनुकूलता का मोह, परिषहों से दूर भागने की वृत्ति हमें मार्ग से दूर हटाती है, कर्म-निर्जरा का अवसर दूर ढकेलता है।

मार्गाऽच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः।

- तत्त्वार्थ सूत्र

जिन-कथित मार्ग में स्थिर रहना और कर्म की निर्जरा कस्ती हो तो परिषह सहन करने ही होंगे।

कामदेव जैसे श्रावक गृहस्थ-जीवन में भी परिषह सहन करते हों तो हम तो साधु है।

✱ कषायों के कारण हम संताप में आ जाते हैं, चित्त की स्वस्थता, सन्तुलन खो देते हैं। दूसरे के कषाय के साथ अपने कषाय टकराते हैं और फिर नहीं होने वाला होता है। मैं कहता हूँ कि आप अपने कषायों को इतने पंगु बना दो कि वे खड़े ही न हो

सकें । सामने वाला चाहे जितना उग्र आक्रमण करे, फिर भी हम कषायों को खड़े न होने दें तो समझ लें कि कषाय रूपी भूत की चोटी हाथ में आ गई है हमने कषायों का निग्रह किया है ।

कषाय रूपी लुटेरे हमारे मूल्यवान असंक्लिष्ट चित्त-रत्न को चुरा लेते हैं । ऐसे लुटेरों को कैसे आश्रय दें ?

चित्त-रत्न असंक्लिष्ट बनते ही तत्क्षण प्रभु का हमारे भीतर आगमन होता है । जल में तरंगों के शान्त होते ही तत्क्षण आकाश में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है । उस समय ऐसा आनन्द आता है, इतना प्रकाश होता है, इतनी उष्मा प्रकट होती है कि भक्त कहता है - “भगवन् ! अब आप कदापि मुझ से दूर मत होना ।”

“मन घरमां धरिया घर शोभा, देखत नित्य रहेशो धिर शोभा...”

प्रभु ! आपसे ही मेरे मन का घर सुशोभित है । आपके जाने पर यह वीरान हो जाता है । आप मेरे मन की शोभा हैं । आप मेरे मन का आनन्द हैं । सर्वस्व हैं । कृपा करके अब जायें नहीं ।

मन तो सबका चंचल है, परन्तु धीरे धीरे इसे प्रभु में स्थिर करना है । आप लिख रखें कि प्रभु-प्राप्ति के बिना मन कदापि स्थिर नहीं होगा ।

भगवान चाहे दूर हैं, परन्तु भक्ति से समीप हैं । पतंग चाहे दूर है, परन्तु डोरी से निकट है । पतंग रूपी प्रभु को पकड़ रखने हों तो भक्ति की डोरी छोड़ना मत ।

डोरी छूट गई तो पतंग गई ।

भक्ति छूटी तो भगवान गये ।

साक्षात् भगवान की उपस्थिति में भी भगवान को पकड़कर हृदय में नहीं बिठा सकते हैं, उनके प्रति भक्ति से ही उन्हें हृदय में बिठा सकते हैं ।

शास्त्र निषेध करते हैं कि मोक्ष में गये हुए भगवान पुनः लौटकर आते नहीं हैं ।

भक्त कहता है कि भगवान आते हैं ।

दोनों बातें सत्य हैं । आत्म द्रव्य के रूप में भगवान चाहे नहीं आते, परन्तु उपयोग रूप में अवश्य आते हैं ।

मुक्ति गतोऽपीश विशुद्धचित्ते ।

गुणाधिरोपेण ममाऽसि साक्षात् ।

भानुर्दवीयानपि दर्पणोऽशु -

सद्गान्न किं द्योतयते गृहान्तः ॥

हे प्रभु...! आप भले मोक्ष में गये हैं, तो भी निर्मल चित्त में गुण के आरोप से आप मेरे लिए साक्षात् हैं । दूर स्थित सूर्य भी दर्पण में संक्रान्त बनकर घर को आलोकित करता ही है न ?

ये परमार्हत महाराजा कुमारपाल के उद्गार हैं ।

सूर्य भले आकाश में है, प्रकाश हमारे पास है । भगवान भले मुक्ति में हैं, परन्तु उनकी कृपा का अनुभव भक्त के हृदय में है ।

ऐसे घोर काल में भगवान के बिना प्रसन्नता है ही कहां ? भगवान की कृपा का यदि अनुभव नहीं होता हो तो भक्त के लिए जीना कठिन हो जाता है ।

आप अपना चित्त निर्मल बनायें तो प्रभु आपके भीतर प्रकाश फैलाने के लिए तैयार हैं ।

प्रभु की आज्ञा क्या है ?

आज्ञा तु निर्मलं चित्तं,
कर्तव्यं स्फटिकोपमम् ।

- योगसार

चित्त को स्फटिक तुल्य उज्ज्वल बनाना ही भगवान की आज्ञा है । चित्त को निर्मल बनाने की साधना यह है ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र का प्रतिदिन सेवन करें । कषायों को क्षीण करते रहें ।

चित्त उज्ज्वल बनेगा ही ।

चित्त उज्ज्वल बनेगा तब प्रभु हृदय में आयेंगे ही ।

* भगवान केवलज्ञान के रूप में विश्व व्यापक हैं, इस प्रकार कल्पसूत्र की टीका में (गणधरवाद में) उल्लेख है ।

भगवान गुणों के रूप में सम्पूर्ण विश्व में फैले हुए हैं, मानतुंगसूरि ने भक्तामर में यह कहा है । विश्व-व्यापी ये विभु हृदय में बसे हुए ही हैं । ये घट-घट के अन्तर्यामी हैं । केवल आपको उस ओर दृष्टि करनी है ।

ॐ ॐ ॐ



क्रिया लीनता

१४-६-२०००, बुधवार
जेठ शुक्ला-१३ : पालीताणा

* हमने संसार में अनेक दुःख भोगे, क्योंकि जिन-वचन नहीं मिले ।

अब जिन-वचन तो मिले हैं, परन्तु क्या वह फलित हुआ है ? वह तब ही फलेगा जब जिन-वचन निज-वचन बन जाये, जिन-वचनानुसार जीवन बन जाये ।

यद्यपि इस विषम काल में ऐसा जीवन जीने वाले अत्यन्त ही अल्प हैं । 'योगसार' कार की भाषा में कहें 'द्वित्राः' दो-तीन ही ।

जिन का संसार लम्बा है, विषयासक्ति गाढ़ है, कषाय प्रबल हैं । वैसे जीवों को तो ये जिन-वचन प्रिय नहीं लगे, यह स्वाभाविक ही है ।

कषाय आदि मन्द हों तो ही जिन-वचन प्रिय लगते हैं ।

कषाय मन्द पड़ गये हैं, यह कैसे ज्ञात होगा ?

सामने वाले व्यक्ति के उग्र कषायों के आक्रमण के समय भी हम कषायों को खड़े न होने दें तो जानें कि मेरे कषाय अशक्त हो गये हैं ।

यदि कषाय निर्बल बनें तो ही संयम की यात्रा एवं गिरिगज की यात्रा भी सफल होती है ।

कषाय अशक्त न बनें तो कितने ही ओघे लें या कितनी ही बार गिरिगज पर जाकर आयें, परन्तु हमारा काम नहीं होगा । इसे यात्रा नहीं कह सकते । केवल चढ़-उतर कह सकते हैं, अधिक कहे तो पर्वतारोहण रूप कसरत कह सकते हैं । इसे संयम नहीं कहा जाता, केवल काय-क्लेश कह सकते हैं ।

★ सुख बुरा है कि दुःख ?

सुख में आनन्द होता है, यह सत्य है, परन्तु यदि उसमें (रस-ऋद्धि-साता गारव रूप सुख) आसक्त बनें तो आत्मा के अव्याबाध सुख से दूर ही रहेंगे ।

जिस दुःख को सहन करने से कर्मों की निर्जरा हो, आत्मा की शुद्धि हो, आत्मानन्द की झलक प्राप्त हो, उस दुःख को दुःख कैसे कहा जायेगा ?

इसीलिए ज्ञानियों की दृष्टि में सुख, दुःख है और दुःख सुख है । मुनि जब दुःख को सुख माने, सुख को दुःख माने तब मोक्ष-सुन्दरी दौड़ती-दौड़ती उसके पास आ जाती है, ऐसा 'योगसार' में उल्लेख है ।

यदा दुःखं सुखत्वेन, दुःखत्वेन सुखं यदा ।

मुनिर्वेत्ति तदा तस्य, मोक्षलक्ष्मीः स्वयंवरा ।

- योगसार

★ आज एक आराधक (भारमल हीरजी, घाणीथर, कच्छ-वागड़) आत्मा की शत्रुंजय पर चढ़ते-चढ़ते समवसरण मन्दिर से तनिक ऊपर जाते समय मृत्यु हो गई । अत्यन्त समाधि पूर्वक नवकार श्रवण करते हुए सिद्धाचल की पुन्य भूमि पर उनकी मृत्यु हो गई । मांगने से भी न मिले वैसी उनको मृत्यु मिली ।

मृत्यु अचानक आकर आक्रमण करती है । अपने पास कोई आराधना की सम्पत्ति नहीं हो तो उस समय समाधि कैसे रहेगी ? समाधि के बिना सद्गति कैसे मिलेगी ?

दूसरे की मृत्यु में स्व-मृत्यु के निरन्तर दर्शन करो । मेरी ही यह भावी घटना है, ऐसे देखो तो आपका वैराग्य दिन-प्रतिदिन बढ़ता रहेगा ।

* एक बालक सातवी मंजिल से नीचे गिरता है, परन्तु नीचे खड़े चार समर्थ पुरुष उसे जाली में पकड़ लेते हैं और वह बच जाता है । बाद में उसे गदेले पर सुलाते हैं ।

एक बालक अर्थात्, 'जीव' ।

सातवी मंजिल से गिरना वह 'मृत्यु' ।

चार समर्थ पुरुष दान आदि चार धर्म ।

(दुर्गति में पड़ते जीव को पकड़ लें उसे धर्म कहते हैं ।)

गदेला सद्गति है ।

धर्म का कार्य ही यह है कि आपको समाधि प्रदान करके सद्गति में स्थापित करें ।

कई बार ऐसा भी होता है कि जीवन भर साधना की हो, परन्तु अन्त समय में हार जायें । उदाहरणार्थ - कण्ठरीक । एक हजार वर्ष संयम का पालन किया, फिर भी अन्तिम ढाई दिनों के भयंकर दुर्ध्यान से वे सातवी नरक में गये ।

इसी लिए मृत्यु के समय समाधि पर इतना बल दिया जाता है ।

* यदि भावी उज्ज्वल करना हो तो भूत का विचार करना पड़ता है । भूत की ओर दृष्टिपात नहीं करने वाला व्यक्ति भावी को कदापि उज्ज्वल नहीं बना सकता ।

निगोद अपना भूतकाल है ।

निर्वाण अपना भविष्य काल है ।

निर्वाण में जाना है, परन्तु जायें कैसे ?

वे कौन से कारण थे, जिन के कारण अनन्त काल तक निगोद में रहना पड़ा । यह भी गहराई से देखना चाहिये ।

अज्ञान, मोह एवं प्रमाद के कारण हम निगोद में रहे । अभी तक प्रमाद में रहेंगे तो निगोद में ही जाना पड़ेगा ।

* आज पू. उपा. प्रीतिविजयजी म.सा. की प्रथम स्वर्ग-तिथि है । चारित्र पर्याय में वे मुझसे बड़े थे । बड़े होते हुए भी आचार्य-पद के बाद भी वे मुझे वन्दन करते । मैं इनकार करता तो भी वे वन्दन करते ।

मन्द-कषायता, भद्रिकता, सरलता आदि उनके गुण थे ।

दुनिया की दृष्टि में जो चतुर बनता है वह अपनी ही आत्मा को ठगता है। उपा. प्रीतिविजयजी ऐसे नहीं थे। तथाकथित चातुर्य, गूढ़ता आदि अपने ही शत्रु हैं।

भोले व्यक्ति को भले ही कोई ठग जाये, परन्तु इससे उसका कुछ बिगड़ता नहीं है। अन्त में तो ठगने वाले का ही बिगड़ता है।

चन्दन को कोई घिस डाले, छील दे अथवा जला दे परन्तु वह सुगन्ध या शीतलता कदापि नहीं छोड़ता; उस प्रकार सज्जन भी अपनी उत्तम प्रकृति, दूसरे को सुख प्रदान करने का अपना स्वभाव कदापि नहीं छोड़ता।

स्व. उपाध्यायजी में वेयावच्च का सर्वोत्तम गुण था। जीवन में कितनों को उन्होंने ने समाधि प्रदान की ?

गुरुमहाराज की आज्ञा से पं. मुक्तिविजयजी म.सा. की सेवा में वर्षों तक रहे। बाद में रत्नाकरविजयजी, देवविजयजी आदि की भी सेवा की।

सेवा करनेवाले की सेवा होती ही है। उन्हें कोई न कोई सेवा करनेवाला मिल ही जाता है। भले ही उनको कोई शिष्य नहीं था, पर इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी।

उनके ऐसे जितने गुणों को याद करें उतने कम है।

हम सात-आठ वर्षों तक तो दक्षिण में थे। इतने वर्षों तक यहां रहनेवाले मुनियों ने उनकी जो सेवा की है, वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

यदि कोई सेवा का कार्य स्वीकार न करे तो गच्छ की व्यवस्था सुचारु रूप से कैसे हो सकती है ?

सेवा तो अप्रतिपाती गुण है। हम सेवा नहीं करें तो हमारी सेवा कौन करेगा ? क्या हम कदापि वृद्ध नहीं होंगे ? क्या हम रोगी (बीमार) नहीं बनेंगे ?

हम जितनी समाधि दूसरे को देंगे, उतनी ही समाधि हमें मिलेगी। दूसरे को असमाधि प्रदान करने वाला अपनी ही असमाधि को रिझर्व करता है। आप यह बात कदापि न भूलें।

आपके पास जो मन, वचन, काया आदि की शक्ति है, वह



अग्नि संस्कार, शंखेष्ठर

१५-६-२०००, गुरुवार
जेठ शुक्ला-१४ : पालीताणा

अर्चना, सारिका, जया, रश्मि, उर्वशी तथा मोनल
नामक छः कुमारिकाओं के दीक्षा प्रसंग पर
नूतन दीक्षितों को हित-शिक्षा -

* प्रभु के परम प्रभाव से सिद्धाचल की गोद में हम पवित्र
दीक्षा-महोत्सव देख रहे हैं। यह दृश्य देखकर किसका हृदय गद्गद
नहीं होगा ?

यहां नाण में तीन गढ़ हैं। ऊपर सिंहासन है। बराबर समवसरण
की यह प्रति-कृति है। यहां भगवान की उपस्थिति में ही चतुर्विध
संघ के समक्ष हम व्रत ग्रहण कर रहे हैं, यह मानना है।

साथ ही साथ प्रत्येक दिक्पाल, लोकपाल आदि देवों को
भी इस प्रसंग पर निमन्त्रण दिया जाता है।

ऐसा दृश्य यहीं पर देखने को मिलेगा।

अभी जो 'करेमि भंते' उचराया गया - वह जैसा-तैसा सूत्र
नहीं है। समता का और समाधि का यह सूत्र है।

“हे भगवन् ! मैं आपके समक्ष सर्व सावद्य योगों की प्रतिज्ञा
लेने के लिए उपस्थित हुआ हूं। मन, वचन, काया से करना,



पालिताना, वि.सं. २०५६

१६-६-२०००, शुक्रवार
जेठ शुक्ला-१५ : पालीताणा

* भगवान के ज्ञान में तो एक पदार्थ के अनन्त धर्म प्रकाशित हैं, परन्तु कहा जाये कितना ? अनन्त पदार्थ अनभिलाष्य (न कह सकें वैसे) हैं । अभिलाष्य (कह सकें वैसे) पदार्थों का भी अनन्तवां भाग ही भगवान कह सकते हैं । जिस दृष्टिकोण से श्रोताओं का हित होता हो, उस दृष्टिकोण को समक्ष रखकर भगवान कहते हैं ।

* अनन्त काल तक प्रमाद के कारण जो कर्म बांधे हों, वे कर्म अप्रमाद से हटाये जा सकते हैं । उन कर्मों को बांधने में भले ही अनन्त काल लगा हो, परन्तु उनका केवल अन्तर्मुहूर्त में क्षय किया जा सकता है ।

अपूर्वकरण (अपूर्व अध्यवसाय) से अनन्त काल में जो कार्य नहीं हुआ वह हो जाता है । एटम बम की तरह अपूर्वकरण अनन्त कर्मों के समूह को एक साथ उड़ा देता है । कर्मों को बांधने में जितना समय लगता है, उतना ही समय उन्हें तोड़ने में भी लगता हो, ऐसा नहीं है । मकान बनाना हो तो समय लगता है, तोड़ने में क्या समय लगेगा ? यहां कर्मों का मकान तोड़ना है ।

* 'चंदाविज्झय पयत्ता' का नाम तो पक्खी सूत्र में अनेक बार सुना था, परन्तु सांतलपुर के भंडार में उसका नाम पढ़कर मैं उसे पढ़ने के लिए लालायित हुआ। मैंने उसे पढ़ा। थोड़े ही श्लोकों में सात विभागों में विभाजित यह ग्रन्थ देख कर आनन्द आया। नागेश्वर के संघ के समय (आचार्य प्रद्योतनसूरिजी भी तब साथ थे। उनकी आचार्य पदवी भी उस संघ में ही हुई थी वि.सं. २०३८) उन पर वाचना रखी गई थी। उसके बाद अभी फिर से वाचना रखी गई है। इस समय भी यह ग्रन्थ अद्भुत एवं अपूर्व प्रतीत होता है। इसके सात अधिकारों में इस समय सातवां (मरण-गुण) अधिकार चल रहा है। इस ग्रन्थ पर वाचना पूर्ण होने पर 'ललित विस्तरा' पर वाचना रखने की इच्छा है।

* इस ग्रन्थ में विशेष करके प्रारम्भ में विनय पर अत्यन्त ही भार दिया गया है।

भगवान एवं गुरु का विनय नहीं हो तो समकित प्रकट नहीं होता। यदि प्रकट हो चुका हो तो स्थिर नहीं रहता।

भगवान स्वयं कहते हैं कि मैं और गुरु भिन्न नहीं है। गुरु का अपमान करने वाला व्यक्ति मेरा अपमान करता है। गुरु का सम्मान करने वाला व्यक्ति मेरा सम्मान करता है। शास्त्र में तो यहां तक उल्लेख है कि 'गुरु विणओ मोक्खो', गुरु का विनय ही मोक्ष है।

गुरु का विनय करना आने पर मोक्ष-मार्ग की यात्रा प्रारम्भ हुई समझें।

ज्ञान पुस्तक के अधीन नहीं है, गुरु के अधीन है। पुस्तक से ज्ञान प्राप्त करके उद्धत बना शिष्य जब कह देता है - 'आपको कुछ नहीं आता। मुझे अधिक आता है, तब समझें कि अब इसके पतन का प्रारम्भ हो गया है।

महाज्ञानी उपा. यशोविजयजी म.सा. जैसे भी अपनी अपेक्षा से अल्पज्ञानी गुरुको भी सदा आगे रखकर कहते हैं - 'श्री नयविजय विबुध पय-सेवक।'।

* आज हम जोग के लिए उतावल करते हैं, परन्तु ग्रन्थ की, ज्ञान की या विनय की हमें कुछ भी पड़ी नहीं है।

विनयपूर्वक ग्रहण किया गया ज्ञान ही फलदायी बनता है।

अभिमान पूर्वक का ज्ञान तो अवरोधक है । योगोद्धहन से यह ही सीखना है । प्रत्येक बार आने वाले सात खमासमण विनय के ही सूचक हैं ।

योगोद्धहन करने वाले भी स्वयं कराते हों ऐसा नहीं है परन्तु 'खमासमणाणं हत्थेणं' पूर्व के महान् 'क्षमाश्रमणों के हाथों से' मैं कराता हूँ, यह मानते हैं ।

* पाटन में पू. मानतुंगसूरिजी ने कहा था - इन ४५ आगमों को न भूलें । हमें अनेक संकल्प भी कराये थे । आज हमारी दशा विकट हो गई है । अन्य सब जंजाल इतने बढ़ गये हैं कि आगम एक ओर ढकेल दिये गये हैं ।

* जामनगर में पंडित ब्रजलालजी हमें पहले 'न्याय' का अध्ययन कराते थे (वि. संवत् २०१८) । सर्व प्रथम जैन न्याय का अध्ययन ही करना चाहिये । प्रथम से ही जैनेतर न्याय का अध्ययन कर लेने से उनका ही पक्ष हमारे मस्तिष्क में सत्य के रूप में बैठ जाता है ।

अतः मैंने सर्व प्रथम जैन न्याय का ही अध्ययन किया । उसके बाद षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया । 'स्याद्वाद रत्नाकर' भी प्रारम्भ किया । प्रारम्भिक पाठ में ही पंडितजी को भी अनेक पंक्तियाँ समझ में नहीं आईं । जब पंडितजी को भी अर्थ समझ में नहीं आया तो मुझे तो कैसे समझ में आता?

परन्तु भगवान की प्रतिमा मेरे सामने थी । स्थापना गुरु मेरे सामने थे । मैंने उन्हें याद किया, उनको वन्दन किया ।

(जिन्होंने ने मूर्ति छोड़ी उन्होंने बहुत कुछ छोड़ दिया है । इस काल में तो मुझे स्थापना गुरु से और स्थापना भगवान से ही मिला है । मुझे इसका अनेक बार अनुभव हुआ है । ध्यान-विचार के पदार्थों में अनेकबार नवीन स्फुरणा हो तब मैं इन समस्त पदार्थों को लिख सके ऐसे कल्पतरुविजय से लिखवा लेता ।)

'स्याद्वाद रत्नाकर' की कठिन पंक्तियाँ मुझे समझ में आ गईं । दूसरे दिन मैंने पंडितजी को कहा तब वे स्वयं भी चकित हो गये । उन्होंने ने कहा - 'किसको पूछा ? आपके गुरुदेव तो यहां हैं नहीं ।'

मैंने कहा - देह रूप में चाहे यहां नहीं है, स्थापना के रूप

में एवं नाम के रूप में तो गुरु उपस्थित हैं । उनके प्रभाव से मैं इन पंक्तियों को समझा हूँ । हम गुरु की अनुपस्थिति के विषय में सोचते हैं, परन्तु उनकी अनुपस्थिति कदापि होती नहीं है । ये स्थापनाचार्य सुधर्मा स्वामी से लगाकर अनेक - अनेक गुरुओं के प्रतीक हैं । वे सामने हैं । फिर गुरु की अनुपस्थिति कैसी ?

* कषायों का तनिक भी विश्वास करने योग्य नहीं है । हम तो क्या, अनन्त १४ पूर्वधर, जो कभी ग्यारहवे गुणस्थानक पर होते हैं, वे भी कषायों पर विश्वास नहीं कर सकते । अनन्त १४ पूर्वधर आज भी निगोद में हैं, वे इसी कारण से हैं । वे गफलत में रह गये और फंस गये । थोड़े से असावधान बनो, तब मोहराजा आपको फन्दे में लेने के लिए तैयार ही है ।

आग लगी हो तब आप क्या करते हैं ? 'फायर ब्रिगेड' की प्रतीक्षा करते हैं या पानी आदि जो मिल सके उससे आग बुझाने का प्रयत्न करते हैं ?

कषाय भी आग ही हैं । उपमितिकार ने तो क्रोध का नाम ही वैश्वानल दिया है । वैश्वानल अर्थात् अग्नि ! अग्नि का तनिक भी भरोसा नहीं किया जा सकता तो क्रोध आदि कषायों का भरोसा कैसे किया जाये ? बाहर की आग तो लाखों-करौड़ों द्रव्य-सम्पत्ति को ही जलाती है, परन्तु ये कषाय तो आत्मा की अनन्त गुण सम्पत्ति ही जला कर राख कर डालते हैं ।

क्रोधाग्नि को बुझाने के लिए समतारूपी पानी चाहिये ।

* विनय से विद्या मिलती है ।

विद्या से विवेक मिलता है ।

विनयपूर्वक प्राप्त की गई विद्या विवेक प्राप्त कराती ही है । विवेक अर्थात् स्व-पर का पृथक्करण करने की शक्ति । 'स्व' कौन ? 'पर' कौन ? यह बात विवेक शक्ति से ज्ञात होती है । यह समझने के लिए ही उपा. यशोविजयजी म.सा. ने 'ज्ञानसार' का पंद्रहवाँ अष्टक खास विवेक पर ही बनाया है ।

विवेक ही आपको क्रोधाग्नि से दूर रखता है । वह सिखाता है - कि अग्नि की उपेक्षा करो तो दूसरे का ही घर जलेगा ऐसा नहीं है, आपका भी घर जलेगा । यदि क्रोध की उपेक्षा करोगे

तो आपको ही नहीं, दूसरे को भी हानि होगी ही ।

विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है ।

स्व-पर की समझ से वैराग्य आता ही है । विवेकी व्यक्ति विषयों को विष से भी भयंकर समझता है । यदि वासना में मन जाता हो और उपासना में नहीं जाता हो तो समझ लेना, उतने अंशों में विवेक नहीं है ।

वैराग्य से विरति प्रकट होती है ।

वैराग्य सच्चा वही कहलाता है जो आपको त्याग के मार्ग पर ले जाये, संसार पर विराम चिन्ह लगवा दे ।

विरति से वीतरागता उत्पन्न होती है ।

विरति की साधना के द्वारा भीतर वीतरागता उत्पन्न होती ही है ।

वीतरागता से विमुक्ति उत्पन्न होती ही है ।

एक विनय आपको कहां से कहां ले जाता है ? विनय, विद्या, विवेक, वैराग्य, विरति, वीतरागता एवं विमुक्ति - ये क्रमशः मिलते-जुलते पदार्थ हैं, परन्तु प्रारम्भ विनय से ही करना पड़ेगा । यदि विनय चूक गये तो अन्य गुण एक की संख्या से रहित शून्य ही सिद्ध होंगे ।

ॐ ॐ ॐ

* विदेशों में प्रवास में जाते समय तीन रानियों ने राजा के पास झांझर, कड़ा और हार मंगवाये । चौथी बोली - 'मुझे तो आपकी ही आवश्यकता है, अन्य कुछ नहीं चाहिये ।' तीनों को उतना ही मिला । चौथी को राजा मिला अर्थात् सबकुछ मिल गया ।

आप प्रभु के पास मांगोगे या प्रभु को ही मांगोगे ? बड़ी मांग में छोटी मांगों का समावेश हो जाता है, यह न भूलें ।



पूज्यश्री के केशर के पगलिये, वि.सं. २०३१, का.सु. १५

१७-६-२०००, शनिवार

आषा. कृष्णा-१ : पालीताणा

* बकरे काटनेवाला 'कसाई' कहलाता है ।

कषाय करनेवाला भी 'कषायी' कहलाता है ।

दोनों में केवल नाम-साम्य ही नहीं, दूसरा भी साम्य है ।

कसाई की तरह कषाय करनेवाला भी स्व-पर के भाव-प्राणों की हत्या करता है । इस अपेक्षा से कसाई की अपेक्षा भी 'कषायी' खतरनाक है ।

द्रव्य-प्राण का मूल्य अधिक है या भाव-प्राण का ?

द्रव्य-प्राण की हत्या करने वाले को कसाई कहते हैं । भाव-प्राण के हत्यारे को हम क्या कहेंगे ?

* ऋषभदेव ने व्यवहार जगत् की (शिल्प, राज्य आदि की) व्यवस्था इसलिये की है कि उसके द्वारा सभ्य बना मानव धर्म के लिए योग्य बन सकता है ।

इस युग के ऐसे आद्य प्रवर्तक भगवान को भी कर्म नहीं छोड़ते तो हमें कौन छोड़ेगा ?

कषाय कर-कर के हम कर्म बांध रहे हैं, परन्तु हमें पता नहीं कि इसका विपाक कैसा आयेगा ?

कषाय नहीं करने पर भी हो जाते हैं ।

‘कषायों से लड़ने की शक्ति नहीं है । लड़ते हैं तब कषाय जीत जाते हैं । हम हार जाते हैं । क्या करें ? यदि आप ऐसा कहते हैं तो मैं कहूंगा, ‘अपनी शक्तिसे कषाय नहीं जीत जायेंगे । इसके लिए भगवान का शरण स्वीकार करना पड़ेगा ।

प्रभु का शरण स्वीकार करके लड़नेवाला आज तक कदापि हारा नहीं । हम अपनी शक्ति से लड़ने के लिए जाते हैं । फल स्वरूप हम हार जाते हैं और निराश बन जाते हैं । हमारी शक्ति कितनी ?

अनन्त शक्ति की शरण पकड़े तो कदापि पराजय का मुँह देखना नहीं पड़ेगा ।

यद्यपि, प्रभु की शरण लेने की इच्छा होने के लिए भी चित्त की निर्मलता चाहिये । जब तक कर्म-दल अमुक प्रमाण में निर्बल न हो जायें तब तक प्रभु कदापि याद नहीं आते, उनकी शरण में रहने की इच्छा नहीं होती ।

प्रभु याद आये, प्रभु की शरण लेने की इच्छा हो तो समझ लें चित्त निर्मल हो गया है, कर्मों के प्रगाढ़ बादलों में छेद हो गया है ।

निर्मल चित्त में ही विनय, विद्या, विवेक, वैराग्य, विरति, वीतरागता और विमुक्ति क्रमशः प्राप्त होती हैं ।

* आपके घर पर कोई अतिथि आता है तब आप क्या करते हैं ? यह पालीताना है । यहां अन्य समुदाय के या अन्य गच्छ के साधु-साध्वीजी भी आते हैं । उनका सत्कार करें । आगे बिठायें । आप तो नित्य सुनते ही हैं । कभी दूसरे को अवसर दें । पीछे बैठने से नहीं सुनाई दें तो भी आपने दूसरे को सुनने का अवसर दिया जिससे आपको लाभ ही है । सुन-सुन कर भी अन्त में करना क्या है ? यही तो करना है ।

* रत्न और रत्न की चमक कदापि अलग नहीं हो सकते । रत्न चाहे खान में पड़ा हो, उसकी चमक तनिक भी नहीं दिखाई देती हो, कांच से भी कम चमक हो, फिर भी जौहरी की आंख तो उसमें भी चमक देखती ही है ।

हैं। इनका हम उपयोग कर रहे हैं, जिनका बोझ कितना बढ़ता है, क्या यह विचार किया है ?

छोटे से घाव की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। सम्भव है कि छोटी सी फुन्सी भी कैंसर की गांठ हो सकती है। छोटा सा कांटा भी प्राण-धातक हो सकता है। छोटा घाव भी धनुर्वा (एक भयंकर वात-व्याधि) में बदल सकता है।

छोटी सी अग्नि की चिनगारी का भी विश्वास नहीं किया जाता। सम्भव है वह सम्पूर्ण मकान को, अरे, सम्पूर्ण गांव को जला दे। उस प्रकार छोटे से कषाय का भी भरोसा नहीं किया जा सकता। छोटा सा कषाय भी अनन्त संसार खड़ा कर दे।

* इन कषायों पर विजय प्राप्त करनी हो तो स्व-बल से विजय प्राप्त नहीं की जा सकती, भगवान का सहारा लेना पड़ेगा।

भगवान हृदय में आते ही चित्त में स्वस्थता आती है, चित्त अभय (निर्भय) बनता है, स्थिर बनता है।

अभय की प्राप्ति केवल भगवान से ही होती है। हरिभद्रसूरिजी ने 'ललित विस्तर' में यह स्पष्ट लिखा है।

चित्त को स्थिर करने की आप लाखों प्रक्रिया करें, परन्तु भगवान को पास नहीं रखो तो चित्त कदापि स्थिर नहीं होगा। भगवान मिलते ही चित्त स्थिर हो जाता है। पुण्डरीक कमल प्राप्त होते ही भ्रमर स्थिर हो जाता है, उस प्रकार प्रभु के चरण-कमल प्राप्त होते ही मन स्थिर हो जाता है।

* विनय से विद्या

विद्या से विवेक

विवेक से वैराग्य

वैराग्य से विरति

विरति से वीतरागता

वीतरागता से विमुक्ति। यह क्रम है, परन्तु प्रारम्भ तो विनय से ही होगा। यह बात बताने के लिए ही मानो 'नवकार' में सर्व प्रथम 'नमो' रखा गया है। 'नमो' अर्थात् ही विनय। 'नमो' अर्थात् धर्म का प्रवेश-द्वार। इसके बिना आप कहीं से भी धर्म के राजमहल में प्रवेश नहीं कर सकेंगे।

विद्या-विनय को स्थायी रखनेवाला भी विनय है। यदि विनय चला जाये तो आगे के गुण मिले हुए हों तो भी चले जाते हैं। “जोग कर लें, पदवी ले लें, फिर गुरु-गुरु के रास्ते और मैं अपने रास्ते। गुरु को कौन पूछता है ?” यह विचार अविनय का द्योतक है।

विनय-विवेक पूर्वक आया हुआ वैराग्य ही ज्ञान-गर्भित होता है।

* इस जगत् की सबसे बड़ी सेवा कौन सी है ? अपने निमित्त से असंख्य जीव पल-पल त्रास अनुभव करते हैं। इस त्रास में से जीवों को छुड़ाना ही इस संसार की बड़ी सेवा है। हम एक मोक्ष में जायें तो अपने निमित्त से असंख्य जीवों को होने वाला त्रास रूकता है। यह भी इस जगत् की महान् सेवा है।

एक गुण्डे ने किसी चिन्तक को पूछा, “मैं समाज की किस प्रकार सेवा करूं ?”

“आप किसी के आड़े न आये यह भी समाज की बड़ी सेवा गिनी जायेगी। आप शान्त बैठे रहो तो भी महान् सेवा गिनी जायेगी।” चिन्तक का यह उत्तर मुक्ति के परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है।

हमारा जीवन सतत दूसरों को त्रास रूप होता आया है। यह त्रास तब ही रूक सकेगा। यदि हम मोक्ष में जायें।

* भगवान का बहुमान-सम्मान मोक्ष का बीज है। छोटे से बीज में से विशाल घटायोप बरगद बनता है।

लूणावा में एक बरगद का वृक्ष है। वह इतना विशाल है कि किसी दीक्षा आदि के प्रसंग पर मण्डप की आवश्यकता ही न पड़े। उसके नीचे अनेक दीक्षाएँ हो चुकी हैं।

एक छोटे बीज में से विशाल बरगद बनता है, उस प्रकार प्रभु के सम्मान रूप बीज में से साधना का विशाल वृक्ष तैयार हो जाये।

इसीलिए मैं इस बीज पर बल देता हूँ। किसान दूसरा सब करे परन्तु बीज यदि न बोये तो कुछ प्राप्त नहीं करता। उसी

प्रकार से साधक दूसरा सब करे परन्तु प्रभु का बहुमान न करें तो कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकेगा ।

महोपाध्याय यशोविजयजी म.सा. जैसे कहते हैं -

“प्रभु-पद वलग्ना ते रह्या ताजा;

अलगा अंग न साजा रे...”

“तुम न्यारे तब सब ही न्यारा...”

ऐसे सब उद्गार आपको कदम-कदम पर देखने को मिलेंगे । हृदय में प्रभु के प्रति पूर्ण बहुमान (सम्मान) के बिना ऐसे उद्गार निकल ही नहीं सकते ।

उपा. यशोविजयजी म.सा. जैसों के चित्त में भगवान बसते थे ।

आपके हृदय में कौन बसता है ? कभी आत्म-निरीक्षण करें ।

“चित्त कौन रमे ? चित्त कौन रमे ?

मल्लिनाथ विना चित्त कौन रमे...?”

कवि के ये उद्गार अपने हृदय के उद्गार बनें, ऐसी अपनी साधना क्यों न बनें ?

ॐ ॐ ॐ

मेरे सात अज्ञान

१. मैं सर्वोपरि चैतन्य का अंश हूं, वह मैं नहीं जानता ।
२. मैं अहं में भरा हुआ हूं, वह मैं जानता नहीं हूं ।
३. मुझे नाम-रूप अत्यन्त प्रिय है, परन्तु वस्तुतः वही दुःख-दायी है, वह मैं नहीं जानता ।
४. दृश्यमान जगत् ही मुझे सत्य प्रतीत होता है ।
५. अदृश्यमान विश्व कैसा होगा ? उसका मैं कदापि विचार नहीं करता ।
६. मैं शरीर हूं - इसी ध्यान में मैं रचता रहता हूं ।
७. जगत् के जीवों के साथ मेरा सम्बन्ध मैं भिन्न मानता हूं ।



अग्नि संस्कार, शंखेश्वर

१८-६-२०००, रविवार
आषा. कृष्णा द्वितीय-१ : पालीताणा

* “मैं ही साधना करूँ, दूसरे सब चाहें यों ही रहें । मैं ही अकेला प्राप्त करूँ, पढ़ लूँ, दूसरे चाहे वैसे ही रहें ।” यह कनिष्ठ भावना यहाँ नहीं होनी चाहिये । यहाँ तो ऐसी विशाल भावना हो कि हृदय में सबका समावेश हो ।

नयविजयजी म.सा. ने यह विचार नहीं किया कि मैं नहीं पढ़ा तो मेरा शिष्य क्यों पढ़े ? नहीं, उन्होंने अपने शिष्य को (यशोविजयजी को) पढ़ाकर अच्छी तरह तैयार करने के लिए काशी तक विहार किया ।

ऐसी उदात्त भावना इस जिन-शासन की नींव में है ।

आगे बढ़कर समस्त जीवों का कल्याण इस जिनशासन में समाविष्ट है । इस बुनियादी विचार पर ही जैन लोग पांजरपोल आदि चलाते हैं ।

* पू. सागरजी, पू. नेमिसूरिजी, पू. प्रेमसूरिजी के समय में संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों का अध्ययन करनेवाले फिर भी थे । आजकल यह अध्ययन अत्यन्त कम हो गया है ।

हम यदि भगवान के आगमों का अध्ययन नहीं करेंगे तो

कौन करेगा ? यह परम्परा कैसे चलेगी ?

* वि.संवत् २०१५ में मुनि पद्मविजयजी म.सा. को कैंसर की भयंकर बीमारी थी । उस समय भी उनकी शिकायत थी कि मुझ से कोई आराधना नहीं हो सकती ।

पू.पं. भद्रंकरविजयजी महाराज ने आउर पच्चक्खाण में से एक गाथा निकाल कर बताई - “आया मे दंसणं आया मे नाणं” मेरी आत्मा ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि है ।

“अब आत्मा पर ध्यान केन्द्रित करें । देह सम्बन्धी विचार त्याग कर आत्मा को लक्ष्य बनायें ।” मैं कोई आराधना कर नहीं सकता । यह निराशाजनक बात भूल कर उत्साह उत्पन्न करें ।”

चौबीस घंटे में हमें अपनी आत्मा कितनी बार याद आती है ? क्या पांच मिनट भी आत्मा याद आती है ?

“हूँ कर्ता पर भाव नो एम जिम जिम जाणे;

तिम तिम अज्ञानी पडे, निज कर्मने घाणे ।”

पर-भाव का कर्तृत्व दूर करना है । शुद्ध आत्म द्रव्य का चिन्तन करके उसमें प्रतिष्ठित होना है ।

“शुद्धात्मद्रव्यमेवाहं शुद्ध ज्ञानं गुणो मम ।”

यद्यपि ये निश्चयनय की बातें हैं, व्यवहार का क्रियाकाण्ड उस निश्चयनय का ही पोषक है, परन्तु कठिनाई यह है कि हम निश्चय को सर्वथा भूल गये हैं । इसीलिए संथारा पोरसी में नित्य शुद्ध आत्म-द्रव्य को याद करने का ज्ञानीयों का फरमान (आदेश) है ।

“एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणं संजुओ ।”

देह कब ढल जाये ? कब यमराज आक्रमण कर ले ? क्या भरोसा है ?

अभी ही (जेठ शुक्ला-१३ को) एक सज्जन भारमलभाई हमें मिल कर मांगलिक श्रवण कर के ऊपर गिरिराज पर यात्रा करने के लिए गये । सौ-दो सौ सीढ़ियों चढ़े होंगे कि वे ढल गये । उनके प्राण पखेरू उड़ गये ।

कोई भी तैयारी नहीं हो तो ऐसे समय समाधि कैसे मिलेगी ?

बाल्टी कुए में पड़ी हो, परन्तु डोरी हाथ में ही होनी चाहिये ।

भले अपना तन व्यवहार में हो, परन्तु निश्चय रूपी डोरी कदापि नहीं छोड़नी चाहिये । निश्चय रूपी डोरी छूट जायेगी तो आत्म-घट डूब जायेगा ।

* आत्म-संप्रेक्षण की रीति -

अपना अल्प दोष भी पहाड़ तुल्य मानना ।

दूसरे का अल्प गुण भी पहाड़ तुल्य मानना ।

तो ही सच्ची अनुमोदना एवं सच्ची दुष्कृत-गर्हा हो सकेगी ।

गुण रूपी डोरी अत्यन्त विचित्र है । अपनी गुण रूपी डोरी यदि दूसरे पकड़ें तो वे कुंए में से बाहर निकलें, परन्तु यदि हम ही पकड़ लें तो डूब कर मर जायें ।

जो अनुमोदन के नाम पर स्व-प्रशंसा में पड़ जाते हैं, उन्हें सावधान होना है ।

* कषाय नष्ट किये बिना अपनी कुशलता नहीं है । कषाय मंद हो जायें तो भी विश्वास पर बैठे न रहें । जब तक क्षायिक भाव प्रकट नहीं हो तब तक पालथी लगाकर बैठना नहीं है ।

* शत्रु का विमान, एरोड्राम पर प्रथम आक्रमण करता है, उस प्रकार मोह राजा सर्व प्रथम अपने मन पर आक्रमण करता है । मन ही अपना मुख्य स्थान है ।

कितनेक व्यक्ति कहते हैं कि माला गिनता हूं और मन भागने लगता है । अतः मैं तो माला गिनता ही नहीं । पढ़ने लगता हूं तो नींद आती है । अतः मैं तो पढ़ता ही नहीं । पूजा करने लगूं तो मन चक्कर-चक्कर घूमता है । अतः मैं तो पूजा करता ही नहीं । ऐसे आदमी चतुर्गई बताते हुए कहते हैं कि हम दिखावे के लिए कुछ करते ही नहीं हैं । मन लगे तो ही करना, यही हमारा सिद्धान्त है । ऐसे आदमीओं को कहें कि माला गिनने से मन चंचल नहीं हुआ । मन चंचल तो था ही, परन्तु माला गिनते (फेरते) समय आपको पता लगा कि मन चंचल है । प्रमाद तो भीतर था ही । पूजा करते समय इसका पता लगा । तो अब करना क्या ?

माला फेरते-फेरते ही कभी न कभी मन स्थिर होगा । माला फिराने से भी मन स्थिर नहीं हुआ तो नहीं फिराने से क्या स्थिर होगा ? दुकान खुली रखने से भी धन नहीं कमाया

तो क्या दुकान बन्ध रखने से धन कमा लोगे ? दुकान खुली रखें । कभी न कभी कमा सकोगे । माला फिराते रहो, धर्म-क्रिया करते रहो । कभी तो मन स्थिर बनेगा ।

अन्यथा, मन यदि सबका स्थिर हो सकता होता तो आनंदघनजी जैसे “मनडुं किमही न बाजे हो कुन्थु जिन ! मनडुं किमही न बाजे” ऐसा न कहते ।

मन की चार अवस्थाओं में प्रथम अवस्था विक्षिप्त है । प्रारम्भ में मन विक्षिप्त ही होता है । उसके बाद ही यातायात (स्थिर-अस्थिर होता रहता है ऐसी स्थिति) में आता है और उसके बाद ही सुश्लिष्ट एवं सुलीन बनता है । हम सीधे ही सुलीन अवस्था में कूदना चाहते हैं, सीधी ही चौथी मंजिल का निर्माण, बिना नींव डाले हुए ही करना चाहते हैं ।

पचवक्त्राण, तप, पूजा आदि कुछ भी नहीं करना और सीधी निश्चय की बातें करते रहना आत्म-वंचना है ।

मैं छोटा था । पू. आचार्य केसरसूरिजी म.सा. कृत एक पुस्तक मिली । पुस्तक सुन्दर थी । उसमें निश्चय-नय की बातें थीं । मेरे मामाजी के साथ आने वाले एक सज्जन नित्य बोलते रहते -

“मैं सच्चिदानंद आत्मा हूँ ।

मुझे पर-द्रव्य से कोई लेना-देना नहीं है ।

पर-भाव का मैं कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ ।”

इस प्रकार बोलते रहते, परन्तु जीवन में कुछ नहीं ।

ऐसा कोई निश्चय उद्धार नहीं कर सकता । वह केवल आपके प्रमाद का पोषण कर सकता है । प्रमाद-पोषक निश्चय से सदा सावधान रहें ।

* राजस्थान (मारवाड़) में एक वृद्धा मांजी सामायिक करते थे । द्वार खुला होने से कुत्ता भीतर आया और आंगन में रखी हुई गुड़ की भेली खाने लगा । मांजी की दृष्टि उस पर पड़ी । वे रह न सकी, परन्तु सामायिक में बोला कैसे जाये ? फिर भी बोले -

“सामायिक में समताभाव, गुड़ की भेली कुत्ता खाय ।

जो बोलू तो सामायिक जाय, नहीं बोलू तो कुत्ता खाय ॥”

इस प्रकार अनेक व्यक्ति सामायिक आदि क्रिया-काण्ड की हंसी उड़ाते हैं, परन्तु वे जानते नहीं कि ऐसे सामायिक भी धीरे-धीरे आगे बढ़ाने वाले बन सकते हैं ।

प्रारम्भ में स्कूल जाने वाला बालक केवल एक की संख्या के स्थान पर टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें ही खींचता है । परन्तु ऐसा करते-करते ही सही एक की संख्या लिखना सीख जाता है, यह न भूलें । अतः मेरा आप से अनुरोध है कि क्रिया-काण्ड की कदापि निन्दा न करें ।

साथ ही साथ यह भी कह दूँ कि केवल द्रव्य क्रिया-काण्ड से सन्तुष्ट भी मत बन जाना ।

योग कर लिए । अधिकार मिल गया । आप यह न मान लें कि सूत्र पढ़ें बिना ही अधिकार मिल गया । भीतर से योग्यता उत्पन्न करने का प्रयत्न करें ।

* अभी ही हमें कोई कहे कि “यह धर्मशाला (उपाश्रय) खाली करो ।” तो हम कहां जायेंगे ? यह चिन्ता होती है न ?

उस प्रकार से कर्म-सत्ता आज ही कहे कि यह किराये का मकान, यह देह अभी ही खाली करो । तो हम कहां जायेंगे ? क्या कभी सोचा है ? किसी भी समय, किसी भी दिन कर्म सत्ता की आज्ञा आ जाये । “यह देह खाली करो, तो भी हमें सद्गति का विश्वास होना चाहिये । यहां से मर कर मैं सद्गति में ही जाऊंगा, चाहे जब मरूं, ऐसी प्रतीति करानेवाला हमारा जीवन होना चाहिये ।

* भगवान एवं गुरु का ज्यों ज्यों सम्मान बढ़ता जाये, त्यों-त्यों आत्म-गुण बढ़ते जाते हैं, आत्म-शक्ति खिलती जाती है । इतना विश्वास रख कर साधना में आगे बढ़ें ।

यह सब कहना, सुनना या लिखना सरल है, परन्तु तदनुसार जीवन जीना अत्यन्त ही कठिन है । आप के लिए ही नहीं, मेरे लिए भी कठिन है ।

कषायों के आवेश के समय क्या करोगे ? कषाय आपको सिखायेंगे “अब मैं इसके साथ बोलूंगा नहीं । इसका कार्य नहीं करूंगा । इसके साथ कोई व्यवहार रखूंगा नहीं ।” परन्तु इन विचारों

पर आप अमल मत करना । कुछ समय व्यतीत होने देना । आवेश का स्वतः ही शमन हो जायेगा । आवेश के समय किया गया कोई भी निर्णय प्रमाणभूत न गिनें । ऐसा करोगे तो क्रोध को आप निष्फल बना सकेंगे । शास्त्रकार यही कहते हैं - 'कोहं असच्चं कुक्विज्जा ।'

क्रोध भले चाहे जितना अजेय माना जाता हो, परन्तु उससे भयभीत न बनें । सम्राट नेपोलियन बोनापार्ट अजेय गिना जाता था । उसका नाम सुनते ही लोग कांपने लगते थे, फिर भी उसकी भी कोई निर्बल कड़ी थी । शत्रुओं को उसका पता लगा । चलते युद्ध में उन्हें समाचार भेजा गया कि आपकी प्रियतमा की मृत्यु हो गई है । बस ! खूंखार नेपोलियन शिथिल हो गया, युद्ध में परास्त हो गया ।

दुर्जय प्रतीत होते क्रोध को नष्ट करना हो तो क्षमा लाओ । कदापि नहीं हारने वाला क्रोध क्षमा के पास हार जायेगा ।

ॐ ॐ ॐ

वर्तमान में तीन प्रकार के बोर्ड

१. ओफिस पर - No admission without Permission
२. विद्यालय पर - No admission without Donation.
३. साधना-धाम पर - No admission without Devotion.

पांच मुक्ति

१. सालोक्य - भगवान के समान लोक की प्राप्ति ।
२. सार्ष्टि - भगवान के समान ऐश्वर्य की प्राप्ति ।
३. सामीप्य - भगवान के समीप स्थान की प्राप्ति ।
४. सारूप्य - भगवान के समान स्वरूप की प्राप्ति ।
५. सायुज्य - भगवान में लय की प्राप्ति ।

- भागवत ३/२९/१३



पालीताणा, वि.सं. २०५६

१९-६-२०००, सोमवार
आषा. कृष्णा-२ : पालीताणा

* भगवान की कृपा से ही मुक्ति का मार्ग मिल सकता है और फल सकता है। सतत बोला जाने वाला 'देव-गुरु-पसाय' इसी तत्त्व को उजागर करता है।

उत्तम कार्य किया चाहे हमने, परन्तु कराया भगवान ने। उत्तम कार्य का कर्तृत्व 'स्व' पर न डालकर भगवान पर रखने से कर्तृव्य का अभिमान नहीं आता। किसी भी गुण या कला की प्राप्ति में भी यही मानें। समस्त गुणों के स्वामी भगवान हैं। उनकी जाने-अजाने हुई भक्ति से ही अमुक अंशों में हम में गुण आये हैं। वे गुण प्राप्त होने पर भगवान को कैसे भूल सकते हैं ?

गुण बाद में आते हैं। उनसे पूर्व गुणानुराग आता है, जो भगवान की कृपा से ही आ सकता है। गुणों का सम्मान अन्ततोगत्वा सर्वाधिक गुणी भगवान का ही सम्मान है।

सभी अनुष्ठान / किया-काण्ड तीर्थकरो के प्रति सम्मान उत्पन्न करने के लिए ही हैं। यदि सम्मान-बहुमान उत्पन्न नहीं होता हो तो समझ लें कि अनुष्ठान सफल नहीं होंगे।

गुरु का यही कार्य है - आपको प्रभु के रागी बनाना।

गुरु ही भगवान के साथ जोड़ते हैं, इसीलिए 'गुरु-बहुमाणो मोक्खो ।' ऐसा कहा गया है ।

१५०० तापसों को पहले भगवान नहीं, गुरु मिले थे । गुरु के बहुमान ने उन्हें केवलज्ञान की भेंट दी । "ओह ! ऐसे महान योगी ! हमने वर्षों तक साधना की, फिर भी अष्टापद पर चढ़ नहीं सकते और ये खेल-खेल में ऊपर चढ़ गये । अहो ! आश्चर्य ! गुरु तो ऐसे ही बनाने चाहिये । ऐसे विचार से उन्हें गुरु के प्रति आदर-भाव उत्पन्न हो गया ।

प्रारम्भ में जीव बाह्य आडम्बर देख कर ही आकर्षित होते हैं । भगवान के अष्ट प्रातिहार्य इसीलिए होते हैं । उन्हें देखकर अनेक जीव तर जाते हैं । अन्यथा, अपरिग्रही एवं वीतरग के ये अष्ट प्रातिहार्य एवं ३४ अतिशयों का ठाठ क्यों ?

परन्तु तीर्थकरो की विभूति का अनुकरण हमसे नहीं होता । सोने-चांदी की ठवणी रखकर आडम्बर नहीं रख सकते । रखने गये वे गये । आचार्य रत्नाकरसूरिजी की चांदी की ठवणी देखकर एक दृढ़ धर्म व्यक्ति ने पूछा, "भगवन् ! गौतमस्वामी स्वर्ण की ठवणी रखकर या चांदी की ठवणी रखकर क्या व्याख्यान देते थे ? आचार्य तात्पर्य समझ गये । दूसरे दिन उन्होंने परिग्रह का विसर्जन किया ।

भगवान की बात अलग है, अपनी बात अलग है ।

गौतम स्वामी की बाह्य लब्धि से प्रभावित १५०० तापसों ने दीक्षा अंगीकार की और अन्त में वे केवली बने ।

१५०० तापसों के पारणे के लिए गौतम स्वामी केवल एक पात्र खीर लाये परन्तु किसी को यह विचार नहीं आया कि इतनी सी खीर से तो सबके तिलक भी नहीं हो सकते, तो पेट कैसे भरेगा ?

सभी तापस इतने समर्पित थे कि किसी के मन में ऐसा विचार नहीं आया । इस समर्पण के प्रभाव से ही ५०० तापस तो खीर खाते-खाते ही केवली बन गये । इसे कहते हैं - 'गुरु बहुमाणो मोक्खो ।'

मारवाड़ में बिच्छु को पकड़ने के लिए चीमटे और बड़े सांप

को पकड़ने के लिए सांडसे घर में रखते हैं । हमारे मन के घर में कषाय रूपी बिच्छु-सांप आ जायेंगे तब क्या करेंगे ? चीमटा एवं सांडसा के स्थान पर हमें चार शरण स्वीकार करने पड़ेंगे ।

अरिहंत आदी चार शरणों से चार कषाय नष्ट होंगे ।

अरिहंत के शरण से क्रोध,

सिद्ध के शरण से मान,

साधु के शरण से माया,

धर्म के शरण से लोभ जायेगा ।

शरणागति के प्रभाव से हमारे कर्म क्षय होते हैं, शिथिल होते हैं ।

“सिद्धिर्लीभवंति परिहायन्ति खिज्जन्ति असुहकम्पाणुबंधा ।”

- पंचसूत्र

* बारह महिनों के पर्याय में तो साधु का सुख अनुत्तर विमान के देव के सुख से भी बढ़ जाता है । ज्यों ज्यों लेश्या विशुद्ध बनती जाती है, त्यों त्यों उसकी मधुरता बढ़ती जाती है ।

कृष्ण-नील-कापोत लेश्या कड़वी होती है ।

तेजो-पद्म-शुक्ल लेश्या मधुर होती है ।

इन लेश्याओं के कड़वाहट एवं मिठास का वर्णन उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से किया गया है ।

लेश्या की विशुद्धता से आत्मिक माधुर्य बढ़ता जाता है ।

अपने आनन्द का माधुर्य बढ़ना चाहिये । सच कहें - जीवन में मधुरता बढ़ रही है कि कड़वाहट बढ़ रही है ? कड़वाहट बढ़ रही हो तो समझें कि हमारी लेश्याएँ अशुभ हैं । हमारा आभा-मण्डल विकृत है । मधुरता एवं आनन्द बढ़ते हों तो समझें कि भीतर का लेश्यातंत्र शुभ बना है, आभा-मण्डल तेजस्वी बना है ।

इसके लिए अन्य किसी को पूछने की आवश्यकता नहीं है । आपकी आत्मा ही इसकी साक्षी बनेगी ।

लेश्या विशुद्ध कब बनती है ? ज्यों ज्यों हमारे कषाय निर्बल बनते जाते हैं, त्यों त्यों लेश्याएं विशुद्ध होती जाती हैं । हम कषायों को पुष्ट रखकर जीवन मधुर बनाना चाहते हैं । हम बबूल बोकर आमों की आशा रखते हैं ।

कषायों की मन्दता से लेश्याएँ विशुद्ध बनती जाती है, गुण प्रकट होते जाते हैं, दोष नष्ट होते जाते हैं । गुण ही हमारे स्थायी साथी हैं ।

हमारी कठिनाई यह है कि दोषों को हमने साथी मान लिये है । दोष लिपटे हुए हैं यह तो ठीक है परन्तु वे दोष पुनः मधुर लगते हैं । हम बेडियों को आभूषण मानते हैं ।

* “मैं किसी का नहीं मानता, गुरु का भी नहीं ।” ऐसी स्वच्छन्द वृत्ति मोह की पराधीनता है । जिसने गुरु की पराधीनता छोड़ दी, उसने मोह की पराधीनता स्वीकार कर ली । मोह की पराधीनता में स्वतंत्रता के दर्शन करना महा-मोह है ।

छोटी सी कला सीखने के लिए भी व्यवहार में गुरु को सम्पूर्ण समर्पण करना पड़ता है । समर्पण अधिक तो कलाज्ञान अधिक । अर्जुन किस लिये सब से अधिक होशियार हुआ ? क्योंकि अर्जुन का गुरु-समर्पण सबसे उत्कृष्ट था । समर्पण अधिक तो ज्ञान अधिक ।

व्यावहारिक ज्ञान सीखने के लिए भी इतनी सेवा करनी पड़ती है तो फिर आध्यात्मिक ज्ञान के लिए तो कहना ही क्या ? जिसने गृहस्थ-जीवन में माता-पिता की सेवा नहीं की वह दीक्षित होकर गुरु की सेवा करे यह असम्भव है । इसीलिए ‘जय वीरराय’ सूत्र में सर्व प्रथम ‘गुरुजणपूआ’ (माता-पिता आदि गुरुजनों की पूजा) की मांग की गई है । उसके बाद ही “सुहगुरुजोगो तव्वयणसेवणा आभवमखंडा” कह कर सद्गुरु के योग एवं उनके वचनों की अखण्ड सेवा की मांग की है ।

* माता-पिता की सेवा भी स्वार्थ से नहीं होती । अतः ‘जयवीरराय’ में फिर लिखा - ‘परत्थकरणं च’ मुझे ‘परोपकार-भाव’ प्राप्त हो । इस प्रकार माता-पिता की भक्ति एवं परोपकार का भाव आने के बाद ही सद्गुरु का संयोग मिलता है । इसीलिए फिर लिखा - ‘सुहगुरुजोगो ।’

* गुरु-कृपा के स्पर्श से कठिन कार्य भी सरल हो जाते हैं । एक बार अनुभव करके देखें । गुरु को समर्पित होकर अनुभव करके देखो ।

* आप सबमें से कदाचित् एक का भी जीवन-परिवर्तन न हो तो भी मुझे तो लाभ ही है । मुझे तो कमीशन मिलेगा ही क्योंकि मैं तो एजन्ट हूँ । केवल भगवान की बातें आप तक पहुंचाने का ही मेरा कार्य है ।

* शुभ-गुरु तो मिले, परन्तु फिर क्या ? गुरु के वचनों की अखण्ड सेवा । पंचसूत्र में लिखा है - 'इन गुरु की सेवा से मुझे मोक्ष का बीज प्राप्त हो ।'

‘होउ मे इओ मुखबीअंति ।’

गुरु मिलते हैं परन्तु फलते हैं तब जब हम उनको मानें । न मानें तो गुरु-योग का कोई अर्थ नहीं है ।

एक शिष्य ने बारह वर्षों तक गुरु की सेवा की, त्वरित वेग से सेवा की, परन्तु गुरु ने अभी तक एक अक्षर भी सिखाया नहीं ।

एक बार रात्रि में सांप आया और कहने लगा - “आपके इस शिष्य के साथ मेरा पूर्व जन्म का वैर है । मैं उसका खून पीने के लिए आया हूँ ।”

“आपको खून से ही काम है न ? मैं ही वह आपको दे दूँ तो क्या नहीं चलेगा ?”

सांप बोला - ‘चलेगा ।’

गुरु निद्राधीन शिष्य की छाती पर चढ़ बैठे, चाकू से थोड़ा शरीर काट कर सांप को खून पिलाया ।

सांप चला गया । दूसरे दिन गुरु ने पूछा, “उस समय तुम्हें क्या विचार आया था ?”

“गुरु करते होंगे वह मेरे हित के लिए ही करते होंगे । उसमें दूसरा विचार करने का क्या होगा ?” शिष्य के प्रत्युत्तर से प्रसन्न होकर गुरु ने उसे अपनी कला सिखाई ।

यदि अपनी कोई ऐसी परीक्षा ले तो ? क्या उस परीक्षा में सफल होंगे ऐसा लगता है ? परीक्षा की बात जाने दें । किसी को परीक्षा लेने की इच्छा हो, ऐसा अपना जीवन हे क्या ? याद रखें, ‘परीक्षा उसकी ही होती है, जो परीक्षा के लिए कुछ योग्य हो ।’

सौधर्मेन्द्र कालिकाचार्य जैसे की परीक्षा करे, हम जैसों की नहीं ।

* अपने मस्तिष्क को झंकृत करने के लिए, कसने के लिए शास्त्रकारों ने कैसे-कैसे उपाय बताये हैं ? 'भगवती' में इस समय 'गांगेय' प्रकरण चलता है । उसमें भांगों की जाल आती है ।

उदाहरणार्थ, पांच जीव सात नरक में जायें तो उसके कितने विकल्प हो सकते हैं ? वे समस्त विकल्प बताये हैं । यों देखें तो अंकों का खेल लगता है, तमाशा लगता है, परन्तु गहराई से देखें तो एकाग्र बनने की कला प्रतीत होती है, धर्म ध्यान की चाबी प्रतीत होती है ।

ॐ ॐ ॐ

सिद्धगिरि पर आदिनाथ कितनी बार आये ?

प्रत्येक दस हजार, दस वर्षों के अन्तराल पर भगवान पधारते थे । आदिनाथ कुल मिला कर सिद्धाचल पर ६९ कोटिकोटि, ८५ करोड़ लाख, ४४ करोड़ हजार बार आये ।

पूर्व की रीति - ८४ लाख को ८४ लाख से गुणा करने पर एक पूर्व की संख्या ७०५६००००००००००० ! इस संख्या को ९९ से गुणा करने से ६९८५४४०००००००००००० संख्या होगी ।



हेमांजलि उद्घाटन, सुरेन्द्रनगर, वि.सं. २०५६

२०-६-२०००, मंगलवार
ज्ये. कृष्णा-३ : पालीताणा

* आज हिमालय बट्टीनाथ में प्रतिष्ठित होनेवाले श्री आदिनाथजी भगवान रथ में आये थे । सकल संघ के साथ दर्शन किये । अंजनशलाका पूज्य आचार्य यशोवर्मसूरि के द्वारा हुई है । प्रतिष्ठा पूज्य जंबूविजयजी के द्वारा सावन में होगी । मूर्ति पंचधातुओं से निर्मित है । ५४ तोला स्वर्ण उसमें काम में लगा है ।

* भक्ति भक्त को खींच लाती है । आपने अभी ही देखा न ? मानो सामने से भगवान मिलने आये हों । मूर्ति में भगवान के दर्शन करोगे तो निहाल हो जाओगे । मुनि जंबूविजयजी म. इतने विद्वान होते हुए भी उनकी आप भक्ति देखें तो चकित हो जायेंगे ।

* प्रश्न - 'आत्मा सामायिक है ।' शास्त्र में ऐसा उल्लेख है तो सभी आत्मा सामायिक नहीं बन जायें ?

उत्तर - भले बन जायें; संग्रहनय से वैसे है ही । संग्रहनय अपनी हताशा मिटाने के लिए ही है, परन्तु यह पूर्णाहुति नहीं है । एवंभूत नय जब तक हमें परमात्मा न कहे तब तक रुकना नहीं है ।

* हमारे संसारी कुटुम्बी शिवराजजी लुकड़ हमें गृहस्थ-जीवन में लटके के साथ कहते - अक्षय ! तुम दीक्षा ग्रहण करते हो ? क्या है दीक्षा में ? गृहस्थ-जीवन में रहकर क्या साधना नहीं हो सकती ? भगवान महावीर के आनन्द एवं कामदेव जैसे श्रावकों ने भी दीक्षा ग्रहण नहीं की थी । आप उनसे भी बढ़ गये ?

साधुओं को तो आप देखते हैं न ? दीक्षा अंगीकार करने के बाद क्या करते हैं ? परन्तु मैं दीक्षा ग्रहण करने के भाव में स्थिर रहा ।

साधु-जीवन में जो साधना हो सकती है वह गृहस्थ-जीवन में कैसे हो सकती है ?

* इस जीवन में निश्चय कर ही लो कि मुझे भगवान प्राप्त करने ही हैं । इसके बिना रहना ही नहीं है ।

“धुआँडे धीजुं नहीं साहिब,

पेट पड्या पतीजे...” ऐसा प्रभु को कह दो ।

प्रणिधान (निर्धार, दृढ संकल्प) पक्का होगा तो सिद्धि कहाँ जायेगी ? मोहराजा का यही कार्य है - आपके निर्धार को तोड़ डालना ।

दीक्षा ग्रहण की तब अपना ध्येय क्या था ? और आज ध्येय क्या है ? बदल तो नहीं गया न ? मोह राजा की चाल सफल नहीं हुई न ? भगवान की और गुरु की कृपा के बिना मोहराजा की चाल से बचा नहीं जा सकता ।

आजका दिन तो अपूर्व है । नित्य वाचना ही सुनते हैं । आज तो भगवान स्वयं मिलने आये हैं जो हिमालय में प्रतिष्ठित होने वाले हैं । वाचना की बात का सीधा ही अमल हुआ ।

भगवान प्रति छः माह के बाद (समुद्घात रूप में) मिलने के लिए आते ही हैं । हम कहाँ सम्मुख होते हैं ?

खिड़की खुली होगी तो सूर्य आयेगा ही ।

हृदय खुला होगा तो भगवान आयेंगे ही ।

हम हृदय को बन्ध करके पुकारते हैं - “भगवान पधारो ।”

परन्तु भगवान कहाँ आते हैं ? खिड़की बन्द हो तो सूर्य

का प्रकाश कैसे भीतर आयेगा ? भगवान तो गुणों के रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं ही । देखो, भक्तामर में -

“संपूर्ण-मंडल शशांक कला-कलाप
शुभ्रा गुणास्त्रिभुवनं तव लंघयन्ति ।”

“भगवन् ! चन्द्रमा के समान तेरे शुभ गुण तीनों लोकों में फैल गये हैं ।”

इस प्रकार भगवान गुणों एवं ज्ञान से व्यापक हैं । इस अपेक्षा से भगवान् कहां नहीं हैं ?

जहां जहां प्रकाश है, वहां वहां सूर्य है ही । वहां से आप देखो, सूर्य दिखाई देगा ।

जहां-जहां गुण हैं, वहां-वहां भगवान हैं ही । गुण-गुणी का अभेद है ।

तदुपरान्त भगवान समुद्घात के चौथे समय में आत्म-प्रदेशों से सर्व लोक-व्यापी बनते ही हैं । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैलने वाले भगवान हमारे घर में भी आते ही हैं न ?

हम यह जानते हैं, फिर भी भगवान का अन्तर्यामित्व हम मानने के लिए तैयार नहीं हैं ।

भगवान चाहे समुद्घात अपने लिए (कर्म क्षय के लिए) करते हों, परन्तु हमारे लिए यह घटना अत्यन्त उपयोगी है ।

जैनेतर दर्शनों में भगवान देह रूप में भक्त के पास आते हैं, परन्तु यहां समुद्घात में तो आत्म-प्रदेशों से विश्व के समस्त जीवों को मानो मिलने के लिए आते हैं । ‘शक्रस्तव’ में भगवान का एक विशेषण है - विश्वरूपाय - भगवान विश्व रूप हैं ।

भगवान ने हमसे कदापि भिन्नता नहीं रखी, हमने अवश्य रखी है । मां ने पुत्र के साथ कदापि जुदाई नहीं रखी, पुत्र ने अवश्य रखी होगी । भगवान तो सम्पूर्ण विश्व की माता हैं, जगदंबा हैं । जगत् की मां मोक्ष में जाने से पूर्व हमें मिलने के लिए क्यों नहीं आती ? यह जानोगे तो भगवान का अपार वात्सल्य समझ में आयेगा ।

भगवान के पास केवलज्ञान का विशाल दर्पण है, जिसमें तीनों कालों का विश्व प्रतिबिम्बित है । तो भक्ति करके हम भगवान

में प्रतिबिम्बित हैं या नहीं ? चैत्यवन्दन करते समय यदि यह भाव आये उल्लास में कितनी वृद्धि हो जाये ?

भगवान में तो हम प्रतिष्ठित हैं ही, परन्तु भगवान हमारे भीतर कितने अंशो तक प्रतिष्ठित है ? हमारा चित्त जितना निर्मल होगा, उतने अंशों में भगवान हमारे चित्त में प्रतिबिम्बित होंगे । भगवान को लाना चाहो तो चित्त को निर्मल करते रहें ।

यह बात मैंने आपके समक्ष रखी है । गलत हो तो कहें ! आप गीतार्थ है । मैंने वि. संवत् २०२८ में यह बात पू.पं. भद्रंकरविजयजी म.सा. के पास भेजी थी । पं. भद्रंकरविजयजी ने चन्द्रशेखर विजयजी के पास भेजी । उन्होंने भी पं. भद्रंकरविजयजी म. के नाम के साथ पुस्तक में रखी ।

‘* “‘पंचसूत्र’ अर्थात् साधना का सार । ‘पंचसूत्र’ को सामने रख कर १४४४ ग्रन्थ लिखे हों ऐसा प्रतीत होता है ।” पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. यह बात अनेक बार कहते थे ।

‘पंचसूत्र’ के तीन पदार्थ (शरणागति, दुष्कृतगर्हा, सुकृत-अनुमोदना) भावित किये बिना कोई भी साधना सफल नहीं होती, चाहे कोई नौ पूर्व का अध्ययन कर ले ।

ये तीन पदार्थ ही दुर्लभ हैं, अन्य सब सुलभ हैं ।

“मले सोहिला राज्य देवादि भोगो,
परं दोहिलो एक तुझ भक्तियोगो ।”

भक्ति भूला दी गई तो ध्येय भूला दिया समझें । ध्येय भूलने पर हम कोई गलत मार्ग पर चढ़ जायेंगे ।

कोई भी शास्त्र पढ़ते हुए या किया करते हुए इस ध्येय को कदापि नहीं चूकें ।

* ‘पंचसूत्र’ में क्या लिखा है ?

होउ मे एएहि संजोगो,

होउ मे एसा सुपत्थणा,

भगवान एवं गुरु के साथ मेरा संयोग हो ।

मेरी यह सुप्रार्थना हो !

केवल प्रार्थना नहीं, परन्तु ‘सु-प्रार्थना’ कहा ।

अनेक बार अतिथियों को औपचारिकता के खातिर भी निमन्त्रण



पूज्यश्री का आशीर्वाद, पालिताना, वि.सं. २०५६

२१-६-२०००, बुधवार
वै. कृष्णा-४ : पालीताणा

* हमें तीर्थ मिला है, यह तीर्थकरो का उपकार है, परन्तु उपकार मानने मात्र से पूरा नहीं हो जाता। यह तीर्थ दूसरों को भी मिलता रहे, उसकी अविच्छिन्न परम्परा चले, उसमें हमें निमित्त बनना है। पूर्वाचार्यों ने इन जिनागमों तथा जिन-बिम्बों की रक्षार्थ अपने प्राणों की भी आहुति दी है, उन आगमों और प्रतिमाओं को कायम रखने के लिए क्या हमें पुरुषार्थ नहीं करना चाहिये ?

आगमों एवं प्रतिमाओं की केवल सुरक्षा ही नहीं, आगमों के अनुसार जीवन जीने से, मूर्ति में भगवान के दर्शन करने से ही आगमों एवं प्रतिमाओं की सुरक्षा होगी। इनकी परम्परा चलेगी।

* मैं चाहे जितना बोलूं, परन्तु आपके भीतर कितना आयेगा ? मैं बोलता हूं उतना नहीं, परन्तु जितना मैं पालता हूं, उतना ही आपमें आयेगा।

पू.पं. जिनसेनविजयजी - ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? हम में भी योग्यता होनी चाहिये न ?

उत्तर - मुझे भी अपनी समाधि के लिए सोचना है। मैं कहूं फिर भी सामने वाले का जीवन नहीं बदले तो मुझे किसलिए

उद्विग्न या हताश बनना चाहिये ? मुझे तो यही विचारना चाहिये कि मेरी स्वयं की कमी है ।

अहिंसा की सिद्धि यदि मुझ में हो चुकी हो तो मेरे पास आने वाला जीव क्यों उपशान्त न बने ?

यदि उपशान्त न बने तो समझना चाहिये कि मेरी अहिंसा में कमी है । दूसरे की कमी क्यों देखें ? मेरी ही कमी देख कर समाधि क्यों न रखूं ? यह मेरा दृष्टिकोण है ।

हमें ऐसा दृष्टिकोण पकड़ना चाहिये जिससे अपनी शान्ति नष्ट न हो ।

* अपने लिए शान्ति, मृदुता, ऋजुता एवं मुक्ति इन चारों का सेवन करना चाहिये । अन्य जीवों के साथ मैत्री आदि चार भावनाओं का सेवन करना चाहिये । शान्ति आदि स्व-सम्बन्धी हैं, मैत्री आदि पर सम्बन्धी हैं ।

* पू.पं. भद्रंकरविजयजी महाराज अनेक बार कहते, 'लो, ये सुवाक्य डायरी में लिख लो ।'

उस समय सामान्य लगने वाले अनेक सुवाक्य, श्लोक आज अमूल्य खजाना प्रतीत होता है ।

उन्होंने ने एक श्लोक दिया था, 'शोभा नराणां, प्रिय सत्य-वाणी ।'

इस श्लोक पर बांकी में नौ दिनों तक व्याख्यान चले थे । चार माताएँ, नवपद आदि अनेक पदार्थ उनमें से निकले थे ।

* बचपन में हम जो नवकार, पंचिदिय, इच्छकार, लोगस्स आदि सीखे थे वे व्यर्थ नहीं समझें । अत्यन्त रहस्यमय हैं ये सूत्र ! नवकार में आये पंच परमेष्ठियों का ही इस सूत्रों में विस्तार है ।

लोगस्स 'नमो अरिहंताणं' एवं 'नमो सिद्धाणं' का ही विस्तार है ।

'पंचिदिय' 'नमो आयरियाणं' का विस्तार है ।

'इच्छकार सुहराई' 'नमो उवज्झायाणं' एवं 'नमो लोए सव्व-साहूणं' का विस्तार है ।

* मोह का कार्य जगत् के जीवों को अपवित्र बनाना है ।

भगवान का कार्य है - जगत् के जीवों को पवित्र बनाने का ।

नाम आदि चारों से भगवान समस्त जगत् को सतत पवित्र बना रहे हैं । मोह के राज्य की तरह भगवान का भी राज्य है । मोह का किला भगवान के अतिरिक्त अन्य किसी से भी टूट नहीं सकता । इसीलिए अपने सभी सूत्रों में विविध रूप से भगवान व्याप्त हैं ।

लोगस्स में नाम रूप से ।

अरिहंत चेइआणं में स्थापना रूप से ।

नमुत्थुणं में द्रव्य और भाव अरिहंतों की स्तुति है । कोई ऐसा सूत्र नहीं होगा, जिसमें किसी न किसी रूप में भगवान न हों ।

* मोह का आक्रमण विफल करने के लिए भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है । मोह का आक्रमण अपने सामर्थ्य से विफल नहीं किया जा सकता । किसी समर्थ की शरण लेनी ही पड़ेगी । भगवानके अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ नहीं है । इन समर्थ के चरण चिन्हों ने पकड़ लिये, उनका काम हो गया ।

“प्रभु-पद वलग्या ते र्ह्या ताजा;

अलगा अंग न साजा रे...”

- पू. उपाध्यायजी

मोह एवं कषायों के कारण आपकी आत्मा त्रिविध ताप से जल रही है । दूसरे की तो ठीक, हमें अपनी आत्मा पर भी दया नहीं आती । दूसरे जलते हों तब तो दया आती है, तो स्वयं पर दया क्यों नहीं आती ?

मोह से जल रहे हैं ऐसा समझ में आये, तब ही सरोवर तुल्य अरिहन्त की शरण लेने की इच्छा होती है, साधु की शरण लेने की इच्छा होती है ।

“अहो ! अहो ! साधुजी समताना दरिया” आपकी शरण में कोई आये तो शान्ति मिलती है न ? क्या आपको स्वयं को यह विश्वास है ?

* मोह राजा ने भगवान एवं अपने बीच में ऐसा भेद किया है कि अभेद-भाव से भक्ति हो नहीं सकती ।

भगवान से कहें, “प्रभु ! आपके साथ मैं अभेद कर नहीं

सकता, जीवों के साथ भी अभेद कर नहीं सकता; हां, जड़ के साथ अभेद अवश्य किया है ।

भगवन् ! देह साथ का अभेद तोड़ो,

चैतन्य साथ का अभेद जोड़ो ।

मन्दिर में भगवान के पास इसीलिए जाना है । केवल हाथ जोड़कर मन्दिर में से बाहर नहीं आना है । दर्शन ऐसे करें कि एक दिन हृदय में विद्यमान भगवान भी दिखाई दें । चौबीसो घंटे भगवान दिख सकें ।

* सम्यक्त्व के दो प्रकार हैं - व्यवहार एवं निश्चय ।

शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिकता - इन लक्षणों के द्वारा भीतर विद्यमान सम्यक्त्व प्रतीत हो । इसकी कमी तो सम्यक्त्वकी कमी समझे ।

ये पांच लक्षण हों तो समझ लें - सम्यक्त्व आ गया है । यह व्यवहार समकित है ।

देहाध्यास टूटे तो निश्चय समकित है । विवेकाष्टक (ज्ञानसार - पन्द्रहवां अष्टक) पढ़ने पर आपको उसका विशेष ख्याल आयेगा ।

सम्यक्त्व अर्थात् भीतर विद्यमान परम चेतना को प्रकट करने की तीव्र इच्छा । यही मोक्ष की इच्छा है । ध्येय के रूप में यदि यह जम जाये तो समझ लें कि शुद्ध प्रणिधान हो गया है ।

तत्पश्चात् मोक्ष-मार्ग की साधना प्रारम्भ होगी ।

देह की सुविधा, अनुकूलता आदि का जितना विचार करते हैं, इसके लिए जितना बोलते हैं, उसकी अपेक्षा हजारवे भाग की बात भी आत्मा के लिए हम क्या कदापि करते हैं ?

उपा. यशोविजयजी महाराज कहते हैं -

देहात्माद्यविवेकोऽयं, सर्वदा सुलभो भवे ।

भवकोऽपि तद्भेद - विवेकस्त्वतिदुर्लभः ॥

- ज्ञानसार, १५-२

देह-आत्मा का अभेद तो प्रत्येक भव में मिलता है, परन्तु भेदज्ञान करोड़ों जन्मों में भी दुर्लभ है ।

आज के युग में आत्मा की बात ही करोड़ों योजन दूर ढकेल दी गई है ।

आत्मा याद आने के पश्चात् उसके छः स्थानों के विषय में विचार करना है -

१. आत्मा है ।
२. आत्मा नित्य है ।
३. आत्मा कर्म की कर्ता है ।
४. आत्मा कर्म की भोक्ता है ।
५. मोक्ष है ।
६. आत्मा का उपाय है ।

* यह समस्त चिन्तन भगवान की कृपा से ही मिलता है ।

इन्द्रभूति गौतम आत्मा के विषय में शंकित थे । भगवान को मिलने से पूर्व क्या समकित था ? भगवान मिलने के बाद ही समकित मिला है । यह भगवान का प्रभाव है ।

भगवान के बहुमान के बिना ऐसे गुणों की प्राप्ति नहीं होती । मेरी अन्य बातें भले आप भूल जायें, याद नहीं रख सकें । केवल इतना ही याद रखें कि भगवान के प्रति बहुमान उत्पन्न करना है ।

भगवान के प्रति बहुमान होगा तो अन्य सब स्वतः ही हो जायेगा । सर्व प्रथम माता-पिता का बहुमान करो ।

माता-पिता का बहुमान गुरु का बहुमान उत्पन्न करेगा ।

गुरु का बहुमान शास्त्र एवं भगवान का बहुमान उत्पन्न करेगा । भगवान का बहुमान होने पर समझें कि मुक्ति की और प्रयाण प्रारम्भ हो गया है ।

भगवान का बहुमान अर्थात् अंततोगत्वा हमारी ही परम चेतना का बहुमान ।

मोक्ष की ओर प्रयाण अर्थात् अपनी ही परम चेतना की ओर प्रयाण ।

चैत्यवन्दन आदि क्रिया परमात्मा के प्रति बहुमान की ही क्रिया है । हमने उसे दैनिक क्रिया में समाविष्ट कर दी, उसे केवल यान्त्रिक बना दी । आप यह देखना भूल गये कि इसमें मेरी ही परम चेतना को विकसित करनेवाले परिबल छिपे हुए हैं ।

यह दृष्टि खुल जाये तो चैत्यवन्दन आदि समस्त क्रियाएँ यान्त्रिक प्रतीत नहीं होगी, जड रूढ़ि प्रतीत नहीं होगी, परन्तु प्रत्येक क्रिया में जीवन्तता आये, कदम-कदम पर क्रिया करते समय आनन्द आये ।

भगवान का बहुमान हृदय में जम जाये तो समझ लें कि अपने समस्त शुष्क अनुष्ठान नवपल्लवित हो उठे हैं, अपना पतझड़ बसन्त में बदल गया । अपना मरु स्थल वृन्दावन बन गया ।

* मुक्ति-प्रयाण में हम कहां तक पहुंचे ? यदि यह जानना हो तो अपने गुणों की जांच करें । मार्गानुसारी के गुण हैं ? मित्रादृष्टि के गुणी हैं ? पाप करते समय भय लगता है ? कि आनन्द आता है ?

गुणों के बिना सच्चे अर्थ में कदापि मुक्ति के मार्ग पर प्रयाण हो नहीं सकता ।

दोष तो कांटों के समान हैं, जो हमें मुक्ति-पथ पर चलने से रोक देते हैं ।

मार्ग में चलते समय कांटे भी चुभते हैं । (जघन्य विघ्न)

मार्ग में चलने में ज्वर भी आता है । (मध्यम विघ्न)

मार्ग भूल भी सकते हैं । (उत्कृष्ट विघ्न)

इन तीनों प्रकार के विघ्नों को पार करते-करते हमें मुक्ति-नगर में पहुंचना है ।

केवल हमें ही नहीं चलना है, अपने साथ चलने वाले को सहायक भी बनना है । पीछे चलने वाला मार्ग भूल न जाये, अतः मार्ग में चिन्ह (→) करते हैं न ? हमें भी ऐसा कुछ करते-करते आगे बढ़ना है । हमारे पूर्वाचार्यों ने ऐसा किया है । इन ग्रन्थों में अन्य कुछ नहीं है । मुक्ति-मार्ग की ओर प्रयाण करते अपने पूर्वाचार्यों द्वारा किये गये चिन्ह हैं । आपकी भाषा में यदि कहूं तो ये 'माइल-स्टोन' हैं ।

पूर्वाचार्य कहते हैं - शीघ्रता करो । प्रयाण में यदि विलम्ब हुआ तो धूप (भव-ताप) तप जायेगी, चलने में अधिक कष्ट पड़ेगा । (भव-भ्रमण के कष्ट)

एक बार विहार में हम सायं समय पर पहुंच गये, परन्तु श्रावकों ने कहा, "सब आ गये हैं न ? कोई बाकी तो नहीं है

न ? कुछ समय पूर्व एक बार पीछे रह गये महात्मा को कोई हिंसक प्राणी खा गया था ।

द्रव्य मार्ग में पीछे रहनेवाले की भी ऐसी दशा होती हो तो भाव-मार्ग में पीछे रहने वाले की दशा क्या होगी ? यह आप तनिक सोच लें ।

* भगवान का बहुमान समस्त साधना की नींव है । भगवान के बहुमान से ही अपने भीतर विद्यमान दोष दिखाई देते हैं । उन दोषों की निन्दा एवं गर्हा करने की इच्छा होती है, दूसरे के सुकृतों की अनुमोदना करने की इच्छा होती है ।

ये तीन पदार्थ आत्मसात् हो गये तो समझना कि मुक्ति-मार्ग खुल गया ।

* व्यापारियों को सन्तोष नहीं है - नित्य नया नया कमाना चाहते हैं । धन का उपयोग करते रहना चाहते हैं ।

यहां गुण धन है । इसे बढ़ाते रहना है, परन्तु हम तो मान बैठे हैं कि दीक्षा ग्रहण की अतः बात पूर्ण हो गई । सब मिल गया । दीक्षा अर्थात् साधना की पूर्णाहुति नहीं परन्तु साधना का प्रारम्भ है - यह बात भुला दी । गुणों की अभी भी आवश्यकता है, यह बात ही दिमाग में से निकल गई ।

गृहस्थ को धन का लोभ दोष है, परन्तु साधु को यदि गुणों में सन्तोष रहे तो दोष है ।

धन का लोभ डुबोता है । गुणों का लोभ उद्धार करता है ।

धन का लोभ बुरा है । गुणों का लोभ उत्तम है ।

ॐ ॐ ॐ

कब किसकी आराधना ?

तपोवृद्धि हेतु - वर्धमान स्वामी की, आदीश्वर की ।

शान्ति हेतु - शान्तिनाथ की ।

ब्रह्मचर्य हेतु - नेमिनाथ की ।

विघ्न निवारणार्थ - पार्श्वनाथ की ।



श्रमण संमेलन, अमदावाद, वि.सं. २०४४

२२-६-२०००, गुरुवार
आषा. कृष्णा-५ : पालीताणा

धन्ना निच्चमरागा जिणवयणरया नियत्तियकसाया ।

निस्संग निम्ममत्ता विहरंति जहिच्छया साहू ॥ १४७ ॥

* प्रभु के कथनानुसार श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त करके साधना करें तो अपने भीतर छिपे प्रभु प्रकट होंगे ही ।

* प्रभु के हम पर अनन्त उपकार हैं । भक्त को तो चारों ओर प्रभु के उपकारों की वृष्टि होती प्रतीत होती है । जहां जहां गुण हैं, पुण्य हैं, सुख हैं, शुभ हैं, परोपकार हैं; वहां वहां प्रभु का ही प्रभाव है । चारों ओर उनकी वृष्टि हो रही है । उसे देखने के लिए आपके पास आंखें होनी चाहिये, भक्त की आंखें चाहिये ।

भक्त की आंखों से जगत् को देखोगे तो प्रभु के उपकारों की वृष्टि होती प्रतीत होगी । फिर तो यशोविजयजी म.सा. की तरह आप भी गा उठेंगे -

“प्रभु उपकार गुणे भर्या, मन अवगुण एक न माय रे...”

प्रभु के उपकारों से, गुणों से मन ऐसा भर जायेगा कि एक अवगुण भी नहीं दिखाई देगा ।

भौतिक देह का जन्म देनेवाली माता का भी उपकार मानना

है । ठाणंग सूत्र में यहां तक लिखा है कि आप चाहे जितनी माता-पिता की सेवा करें तो भी उपकार का बदला नहीं चुका सकोगे । दुष्प्रतिकार हैं माता-पिता । हां, यदि आप उन्हें धर्म-मार्ग की ओर उन्मुख करें तो कुछ अंशों में प्रत्युपकार कर सकते हैं ।

भौतिक देह को उत्पन्न करने वाले माता-पिता का इतना उपकार मानना होता है तो गुण-देह, अध्यात्म-देह के जन्म-दाता (जनक) गुरु एवं भगवान का कितना उपकार मानना चाहिये । भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता बढ़कर है ।

* भगवान एवं गुरु उपकार बुद्धि से हमें कुछ देना चाहते हैं, परन्तु उपमिति के उस भिखारी की तरह हम दूर भागते हैं ।

“भूख्याने जिम घेवर देतां, हाथ न मांडे घेलोजी”

* यहां मैं जो कुछ बोलता हूं वह जमा कर नहीं बोलता, कुछ सोच कर नहीं आता, फिर भी उसमें से आपको कोई सुवाक्य मिल जाते हो, ये सुवाक्य आपकी साधना के अनुकूल लगते हों तो उन्हें ग्रहण कर लें । भगवान ने ही मुझे माध्यम बना कर वे सुवाक्य आपके पास भेजे हैं, यह मानकर उन्हें ग्रहण कर लें । भगवान अनेक रूप में हमारे पास आते हैं । कभी नाम रूप में, कभी मूर्ति के रूप में तो कभी सुवाक्यों के रूप में भी आते हैं । जिस रूप में भगवान आयें उसे स्वीकार कर लें । भगवान का यह प्रसाद शिरोधार्य करें । प्रमाद में पड़े रहोगे, अवसर खो दोगे तो यह अवसर पुनः नहीं मिलेगा ।

* “पर की अपेक्षा रहेगी तब तक दुःख रहेगा ।” ऐसा जब मैं कहूं तब आपके मन में कदाचित् ऐसा भी हो कि भगवान की अपेक्षा भी पर की अपेक्षा ही है न ? परन्तु याद रहे कि यहां ‘पर’ से पर पुद्गल लेने हैं, प्रभु को नहीं, क्योंकि प्रभु ‘पर’ नहीं है, अपनी ही परम चेतना का आविष्कार है ।

* अनेक बार कुत्तों को परस्पर लड़ते देख कर मुझे विचार आता है कि ऐसा क्यों ? बिना कारण के इस प्रकार साश दिन क्यों लड़ते रहते होंगे ? निश्चित रूप से पूर्व जन्म में ईर्ष्यालू होंगे, झगडालू होंगे, कर्म-सत्ता ने उन्हें कुत्ते बनाये होंगे ।

याद रहे, झगडा करते रहोगे, परस्पर ईर्ष्या करते रहोगे तो कुत्ते बनना पड़ेगा । कुत्ते ईर्ष्या के प्रतीक हैं ।

जो व्यक्ति यहां हृदय से कुत्ता बनता है, वह आगामी जन्म में कुत्ता बनता है । कर्मसत्ता की सीधी बात है, जो प्रिय है वह दे दूं । आप को ईर्ष्या एवं झगडा प्रिय है तो ऐसे जन्म दूं जहां ईर्ष्या-झगड़े स्वाभाविक ही होते हैं ।

हमें सदा इच्छित ही प्राप्त हुआ है ।

विषय-कषाय प्रिय लगे तो, विषय-कषाय मिलेंगे ।

विषय-कषाय रहित अवस्था प्रिय लगी तो वह मिलेगी । चाहे जो मिले ।

मोक्ष नहीं मिला क्योंकि वह कदापि प्रिय नहीं लगा ।

संसार मिलता रहा है, क्योंकि वही प्रिय लगता रहा है ।

क्या ऐसा जन्म पाकर कुत्ते बनेंगे ? पुनः ऐसा अवसर कब आयेगा ?

अभी भगवती सूत्र में गांगेय प्रकरण चल रहा है, जिसमें भांगाओं की जाल है । इसमें से जीव किस-किस तरह से कितने-कितने भांगे नरक आदि गति में जाते हैं, यह बताया है । यदि हम यहां ईर्ष्या-झगडे करते रहे तो यह जन्म खो देंगे और संसार में दीर्घ-काल तक भटकते रहेंगे ।

* आप को किस गुण की त्रुटि लगती है ? जिस गुण की आपको त्रुटि प्रतीत होती है, वह गुण अन्यत्र आपको कहां दिखाई देता है ? जिस स्थान पर दिखाई देता हो, उसे देख कर प्रसन्न होओ, हृदय से नाच उठो । वह गुण आपमें आयेगा ही ।

जिस गुण को देख कर आप प्रसन्न होते हैं, उस गुण के आने के लिए आप अपने अन्तर के द्वार खुले रखते हैं । दूसरे शब्दों में कहूं तो गुणों को देख कर प्रसन्न होना अर्थात् उन्हें निमंत्रण-पत्रिका लिखनी ।

इसे ही शास्त्रकारों ने अनुमोदना कही है ।

अनुमोदना बढ़ने के साथ वह गुण सुदृढ होता जायेगा । ऐसा सुदृढ बनेगा कि भवान्तर में भी नहीं जायेगा ।

शर्त इतनी कि उसमें आदर एवं सातत्य चाहिये । आदर एवं

सातत्य पूर्वक जिस गुण का आप सेवन करते हैं, वह गुण भवान्तर में भी साथ चलेगा ।

* जन्म होने के पश्चात् मृत्यु नहीं हुई हो ऐसा एक भी उदाहरण हो तो मुझे बताओ ।

संक्षेप में, मृत्यु निश्चित है । आज या कल मरना ही है । परन्तु किस तरह मरना है ? यह लाख रुपयों का प्रश्न है । जन्म का एक ही प्रकार है, परन्तु मृत्यु के हजारों प्रकार हैं । कौन से प्रकार से मृत्यु होगी यह निश्चित नहीं है, परन्तु मृत्यु आयेगी यह तो निश्चित ही है ।

हमें तो अब इतना ही विचार करना है कि मेरी मृत्यु समाधिमय कैसे बने ?

उसके लिए तैयारी अभी शुरू कर देनी चाहिये ।

जिसका जीवन आराधनामय होगा, उसे ही मृत्यु में समाधि मिलेगी । चाहे जैसा जीवन जीकर मृत्यु में समाधि रखकर सद्गति में चले जायेंगे, इस भ्रम में मत रहना ।

यहां रही हुई साधना अपूर्ण रहे तो भी चिन्ता न करें । भवान्तर में वह साधना पुनः प्रारम्भ होगी ।

आप देखते हैं न ?

कुछ व्यक्ति थोड़ा सा प्रयत्न करके गाथा कंठस्थ कर लेते हैं । दूसरे लाख सिर पटकते हैं तो भी कर नहीं सकते । क्या कारण है ?

कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही शान्त होते हैं ।

कितनेक स्वभाव से ही क्रोधी होते हैं । क्या कारण है ?

वर्तमान विज्ञान कदाचित् जिनेटिक थियरी में उत्तर ढूंढने का प्रयत्न करेगा, परन्तु पुनः प्रश्न तो खड़ा ही रहेगा - ऐसे ही जीन्स क्यों मिले ?

पूर्व जन्म के कर्म मानने ही पड़ेंगे । पूर्व जन्म की आराधना-विराधना के कारण ऐसा अन्तर प्रतीत होता है ।

* बोलो, यहां कितने व्यक्ति नींद करते हैं ? नींद यहीं पर आती है ।

मोह राजा निद्रा देवी को ऐसे स्थानों पर ही भेजता है ।

मोह राजा को पता है कि यह सभा अर्थात् मुझे सम्मिलित करने की छावनी । इस छावनी पर आक्रमण करना ही है । निद्रा देवी को भेज कर वह आक्रमण करता है ।

मोह राजा की यह चाल समझ लेना । हम कितने विचित्र हैं ?

आगे के स्थान पर बैठने के लिए दौड़-धूप करते हैं, परन्तु वहां बैठ कर नींद आ जाये, उसकी परवाह करते नहीं हैं ।

आगे बैठते हैं वह सुनने के लिए बैठते हैं कि अहंकार के पोषण के लिए बैठते हैं ? अपने हृदय को पूछ लेना ।

जानने के लिए बैठते हैं कि बताने के लिए ?

बताने के लिए बैठते हैं कि जीने के लिए ? हृदय को पूछ लेना ।

इस प्रकार प्रश्नोत्तरी करने से जो सच्चा उत्तर आयेगा वह अपना शुद्ध प्रणिधान होगा ।

* हम साधु-साध्वी कितनी उच्च कक्षा पर हैं ? इतनी उच्च भूमिका पर पहुंचने के बाद भी कषाय करते रहें, झगड़ा करते रहें, वह कैसा ? झगड़ा करते हैं तो उस समय सोचो, मैं स्वयं को तो दुर्लभ-बोधि बनाता ही हूं, परन्तु दूसरों को भी दुर्लभ-बोधि बनाता हूं । क्योंकि यह देखकर अनेक व्यक्ति साधु-साध्वीयों की निन्दा करेंगे - छिः, जैन साधु ऐसे झगडालू ?

जिन-शासन की बदनामी के समान अन्य कोई पाप नहीं है ।

आपके मन में प्रश्न उठेगा - वह ज्यों त्यों बोलता रहे तो कहां तक सहन करूं ? फिर तो क्रोध आये ही न ?

मैं कहता हूं - सामने वाले का चाहे जैसा स्वभाव हो, परन्तु हम वैसा स्वभाव क्यों बनायें ? वह अपना स्वभाव न छोड़े तो हम क्यों छोड़े ? चन्दन को काटो, जलाओ अथवा घिसो, वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता । हमें ऐसा बनना है ।

सामने वाले की बात यदि सत्य हो तो स्वीकार कर लो । असत्य हो तो उपेक्षा करो । क्रोध करने की क्या आवश्यकता ? गाली-गलौज या झगड़ा करने की क्या आवश्यकता ? गाली-गलौज या झगड़ा करके मैं अपनी आत्मा को दुर्गति में क्यों डालूं ?

मांसाहार, पंचेन्द्रिय हत्या, महा-आरम्भ, महा-परिग्रह, गाली-

गलौज, झगड़ा, उत्कट कषाय - ये नरकगति के कारण हैं । बोलो, नरक में जाना है ?

माया, खाने की वृत्ति, शल्य युक्त जीवन तिर्यच गति के कारण हैं ।

मध्यम गुण, अल्प कषाय, दान-रुचि, परोपकार मनुष्य गति के कारण हैं ।

बाल तप, सराग, संयम, अज्ञान-कष्ट ये सब देवगति के कारण हैं । हमें कहां जाना है ?

किसी के कारण हमें अपनी आत्मा की दशा क्यों बिगाड़नी ? यह संयम जीवन इसलिए नहीं लिया ।

* पहले शरीर को कृश करना है । फिर कर्मों को, कषायों को कृश करना है । अनेक बार हम भूल जाते हैं - काया को कृश करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कषायों को कृश करने की बात भूल जाते हैं ।

अभ्यंतर तपका लक्ष्य छोड़कर केवल बाह्य तप करने वालों की यह बात है । बाकी जिनकी शक्ति है, जिनका लक्ष्य शुद्ध है, उनकी यह बात नहीं है ।

कोई भी बात एकांगी नहीं बननी चाहिये, ध्येय भूला जाना नहीं चाहिये । अतः यह सब मैं कह रहा हूं ।

* भगवान की भक्ति के बिना, गुरु की सेवा के बिना समकित नहीं मिलता । यदि मिला हुआ हो तो वह टिकता नहीं है । यह आप वज्र के अक्षरों से लिख रखें ।

इसी लिए अतिचारों में देव एवं गुरु की आशातना हुई हो तो उसके लिए मिच्छामि दुक्कडं मांगने में आता है ।

ॐ ॐ ॐ



ज्ञान बढ़ने के साथ समकित निर्मल होता जाता है । समकित निर्मल बनने पर ज्ञान सूक्ष्म बनता जाता है । समकित निर्मल कैसे बने ? अरिहंत की भक्ति से निर्मल बने ।

“जिम जिम अरिहा सेविए रे,
तिम तिम प्रगटे ज्ञान सलूणा ।”

यह लिखा, परन्तु

“जिम जिम पुस्तक वांचिए रे,
तिम तिम प्रगटे ज्ञान ।”

यह नहीं लिखा ।

* इस समय भगवती में गांगेय प्रकरण में भंगजाल चलता है । गांगेय के प्रश्न के उत्तर में भगवान उत्तर देते हैं, जिससे गांगेय ऋषि को (जो पार्श्वनाथ संतानीय थे) प्रतीति होती है कि ये महावीर प्रभु ही सर्वज्ञ हैं ।

उस युग में सर्वज्ञता का दावा करने वाले अन्य भी बहुत (बुद्ध, पूरणकाश्यप, अजित केशकंबली, संजय वेलट्टी, गोशालक आदि) थे, जिनमें सामान्य मनुष्य असमंजस में पड़ जाये, परन्तु प्रश्नोत्तरी से गांगेय ऋषि निःशंक बने और चातुर्याम में से पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया ।

* विभिन्ना अपि पन्थानः, समुद्रं सरितामिव ।

मध्यस्थानां परं ब्रह्म, प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥

जूदा-जूदा नदी मार्गों, मले एकज अब्धिने ।

मध्यस्थना जूदा मार्गों, मले एकज मुक्ति ने ।

नदियों के मार्ग अलग, परन्तु सभी नदियों का मुकाम एक ही है - समुद्र ।

नर्मदा पश्चिम की ओर बहती है तो भी समुद्र में मिलती है ।

गंगा पूर्व की ओर बहती है तो भी समुद्र में मिलती है ।

यहां सिद्धाचल पर देखो न ?

कोई यहां से चढ़ता है,

कोई घेटीपाग से चढ़ता है,

कोई रोहिशाला से चढ़ता है,

कोई पीछे से चढ़ता है ।

परन्तु दादा के दरबार में सब साथ ।

यहां भी मार्ग भले अलग दिखाई दे, परन्तु परब्रह्म रूप मुक्ति में सब एक । अतः कोई भिन्न पद्धति से उपासना करता हो तो उसका तिरस्कार नहीं करें । किसी का भी तिरस्कार नहीं करना चाहिये ।

* हमसे उच्च भूमिका वाले का जैसे बहुमान करना है तो नीची भूमिका वाले का तिरस्कार नहीं करना है । उस पर करुणा चाहिये । भले उसमें अनेक दुर्गुण, दोष हों, परन्तु उससे क्या हुआ ? हम जब उसकी भूमिका में थे तब कितने दोषों से परिपूर्ण थे ?

दूसरों के दोष देखेंगे तो वे दोष हममें आयेंगे ।

गुण देखेंगे तो वे गुण हममें आयेंगे ।

क्या चाहिये ? यदि गुण चाहिये तो गुणों का स्वागत करो ।

दोष चाहिये तो दोषों का आदर करो ।

जिसे आदर दोगे वह आयेगा ।

हमारे गुणों पर आवरण है, परन्तु भगवान के तो सभी गुणों परसे आवरण हट गया है । उनके गुण गाने से हमारे भीतर गुण प्रकट होंगे । प्रभु का गान करो, ध्यान करो, उनमें खो जाओ । गुणों का आपमें अवतरण होगा ।

प्रभु एवं हममें कोई अन्तर नहीं है । केवल आवरण का अन्तर है । आवरण दूर करने के लिए प्रभु के पीछे पागल बनो ।

प्रभु के पीछे आप पागल बनो, दुनिया आपके पीछे पागल बनेगी ।

प्रभु के आप दास बनो, दुनिया आपकी दास बनेगी ।

आधोई में कान्ति भट्ट नामक पत्रकार ने पूछा था, “क्या आपने कच्छ-वागड़ की जनता पर कोई वशीकरण किया है, जिससे लोग दौड़े आते हैं ?”

मैंने कहा, “मैं कोई वशीकरण नहीं करता, लोगों को प्रभावित करने का प्रयत्न भी नहीं करता । हां, लोगों को मैं चाहता हूं ।”

जो दोगे वह मिलेगा ।

प्रेम दोगे तो प्रेम मिलेगा ।

कटुता दोगे तो कटुता मिलेगी ।

* लोगों को जीतने का वशीकरण मंत्र बताऊं ?

‘न हीदृशं संवननं, त्रिषु लोकेषु विद्यते ।

दया मैत्री च भूतेषु, दानं च मधुरा च वाक् ॥’

नीतिशास्त्र कहता है - जीवों पर दया रखें, मैत्री रखें, दान दें और मधुर वाणी बोलें । तीनों लोकों में इसके समान कोई अन्य वशीकरण मंत्र नहीं है ।

* रोटी-कपड़े-मकान के अभाव से संतप्त लोगों पर करुणा करने वाले अनेक हैं, परन्तु मिथ्यात्व आदि से ग्रस्त लोगों पर करुणा करने वाले केवल भगवान हैं ।

* भगवान हमारे भीतर स्वयं की भगवत्ता देखते हैं । भगवान की दृष्टि से हम पूर्ण हैं । भगवान पूर्ण रूप में देखते हों तो वह पूर्णता क्यों न प्रकट करें ? प्रकट करने का प्रयत्न क्यों न करें ? मालूम हो जाये कि घर में निधान हैं तो क्या आप खोदने का प्रयत्न नहीं करेंगे ?

निश्चय दृष्टि से अपनी पूर्णता पर विश्वास नहीं करना मिथ्यात्व है । स्वयं को अपूर्ण मानना मिथ्यात्व है । हम स्वयं को अपूर्ण मानकर दीन बनते हैं । यदि पूर्णता की ओर दृष्टि जाये तो दीनता कैसे रहेगी ?

निश्चय से स्वयं को पूर्ण देखो ।

व्यवहार से स्वयं को अपूर्ण देखो ।

यदि स्वयं को अपूर्ण देखोगे, कर्मों से घिरे हुए देखोगे तो ही कर्म हटाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ होंगे । पहले से ही स्वयं को पूर्ण रूप में देखोगे तो कर्म हटाने का पुरुषार्थ कैसे हो सकेगा ? इसीलिए पहले व्यवहार में निष्णात बनकर फिर निश्चय में जाना है । तालाब में तैरना सीखकर ही समुद्र में कूद सकते हैं, सीधा ही समुद्र में नहीं कूद सकते । सीधे ही निश्चय में गये वे गये ही । डूब ही गये, पथ-भ्रष्ट हो गये ।

* समकित के ६७ भेद बताये हैं ।

“सडसठ भेदे जे अलंकरियो, ज्ञान चारित्रनुं मूल ।

समकित दर्शन ते नित नमिये, शिवपंथनु अनुकूल ।”

समकित ज्ञान एवं चारित्र का मूल है ।

समकित आया तो समझो - सत्य मार्ग मिल गया ।

ज्ञान चाहे जितना पढ़ो, चारित्र चाहे जितना पालन करो, परन्तु मृत्यु के समय समकित ही साथ आयेगा । चौदह पूर्वी होंगे तो चौदह पूर्व भूल जायेंगे, चारित्र चला जायेगा, परन्तु समकित साथ रहेगा ।

आत्मा के सहज आनन्द का समकित के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है ।

आत्मा से देह, कर्म, विचार आदि भिन्न है, परन्तु आनन्द भिन्न नहीं है । यह अपने साथ ही रहता है । इस आनन्द को लाने वाला समकित है ।

हमारा पुरुषार्थ उस आनन्द को लाने के लिए होना चाहिये ।

* कुदेव, कुगुरु आदि को मानना लौकिक मिथ्यात्व है, परन्तु देह को आत्मा माननी लोकोत्तर मिथ्यात्व है ।

* आप भगवान भगवान कहते हैं । आगम आगम की बातें करते हैं, परन्तु ये ही भगवान हैं । ये ही इनके आगम हैं । इसका विश्वास क्या ? ऐसे प्रश्न अनेक बुद्धिजीवी उठाते हैं ।

वे कहते हैं कि ये आगम तो भगवान के एक हजार वर्षों के बाद लिखे गये । इनमें भगवान का क्या रहा ? परन्तु उन्हें पता नहीं है कि आगम लिखने वाले महापुरुष अत्यन्त भव-भीरु थे । वे एक अक्षर भी आगे-पीछे करने वाले नहीं थे । कहीं भिन्न पाठ देखने को मिले तो लिखते हैं - ‘इति पाठान्तरम् ।’

ऐसे भव-भीरु महापुरुषों पर विश्वास नहीं करो तो किन पर करोगे ?

विश्वास के बिना तो धर्म में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते । धर्म में ही क्यों ? व्यवहार में भी विश्वास के बिना कहां चल सकता है ? डोक्टर, वकील, ड्राईवर, नाई आदि पर विश्वास करने वाले आप भगवान पर ही विश्वास नहीं करते । यह कैसी बात है ? धर्म की तो उत्पत्ति ही श्रद्धा में से होती है । आप जन्म स्थान को, उद्गम को ही जला दोगे तो धर्म का जन्म कैसे होगा ?

* समकित निर्मल होता जाये तो अपने कषाय मन्द होते जाते हैं, कषायों के आवेशों को जीतने की शक्ति बढ़ती जाती है । इस के लिए शक्ति धैर्य से विकसित होती है ।

कषाय हमें अधीर करते हैं, आवेशमय बनाते हैं, भयानक चेहरे वाला बनाते हैं ।

हमारे फलोदी में लाभूजी वैद्य थे । क्रोध में आते तब उनके होंठ ऐसे फड़कते कि मानो हाथी के फड़कते कान देख लो ।

ऐसे आवेशों को घटाने का कार्य धैर्य करता है, विवेक-शक्ति करती है ।

समकित से विवेक एवं धैर्य बढ़ते हैं ।

कुमारपाल ने अर्णोराज के साथ युद्ध किया था तब सम्पूर्ण सेना फूट गई थी, फिर भी वफादार हाथी एवं वफादार महावत के सहारे विजय प्राप्त की थी । जब सब जाने लगे तब धैर्य एवं विवेक स्थिर रखना । जीत (विजय) आपकी होगी ।

* नौ तत्त्वों में प्रथम तत्त्व जीव है । अन्तिम तत्त्व मोक्ष (शिव) है । जीव को शिव बनाना ही साधना का सार है । इसके लिए ही पाप-आश्रय आदि का त्याग और पुन्य-संवर आदि का स्वीकार करना है । नौ तत्त्वों के अध्ययन से यही समझना है ।

इस जीवन तथा गत अनेक जीवनों में देह के साथ इतना अभेद हो गया है कि जीव (आत्मा) कदापि याद आता ही नहीं है, शिव तो याद आये ही कहाँ से ?

“मैं अर्थात् देह ।”

“मेरा अर्थात् देह सम्बन्धी अन्य सब ।”

इस मंत्र से मोह राजा ने सम्पूर्ण विश्व को अंधा बना दिया है । अब मोह राजा को जीतना हो तो प्रतिमंत्र का आश्रय लेना पड़ेगा ।

“मैं अर्थात् देह नहीं, परन्तु आत्मा ।

मेरा अर्थात् परिवार आदि नहीं, परन्तु ज्ञान आदि ।”

मोह को जीतने का यह मंत्र है ।

कैसा है अपना स्वरूप ?

“देह, मन-वचन पुद्गल थकी, कर्मथी भिन्न तुझ रूप रे;
अक्षय अकलंक छे जीवनुं, ज्ञान आनन्द स्वरूप रे...”

ज्ञान एवं आनन्द स्वरूप आत्मा को नहीं जानना, देह को ही आत्मा मानना ही सच्चा मिथ्यात्व है ।

* ‘ज्ञानसार’ में प्रथम अष्टक में पूर्णता बताई । पूर्णता अपना लक्ष्य है । पूर्णता कैसे प्राप्त हो ? पूर्णता तन्मयता से प्राप्त होगी । तन्मयता कैसे मिलेगी ? स्थिरता से मिलेगी । स्थिरता कैसे मिलेगी ? स्थिरता मोह-त्याग से मिलेगी और मोह-त्याग कैसे मिलेगा ? ज्ञान से मिलेगा ।

इस प्रकार बत्तीसों अष्टकों में आपको कार्य-कारण भाव संकलित देखने को मिलेगा ।

* पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. कहते थे - “आपको क्या बनना है ? विद्वान कि गीतार्थ ? मेरा परामर्श है कि विद्वान नहीं, गीतार्थ बनने का मनोरथ करें ।”

ॐ ॐ ॐ

ध्यान के लिए आठ अंग

ध्यान करने के अभिलाषी को इन आठ अंगों को बराबर जानना चाहिये ।

१. ध्याता - इन्द्रियों एवं मन का निग्रह करने वाली आत्मा ।
२. ध्यान - जिसका ध्यान करना है उसमें तल्लीनता ।
३. फल - संवर एवं निर्जर रूप ।
४. ध्येय - इष्ट देव आदि ।
५. यस्य - ध्यान का स्वामी ।
६. यत्र - ध्यान का क्षेत्र ।
७. यदा - ध्यान का समय ।
८. यथा - ध्यान की विधि ।

- तत्त्वानुशासन-३७



वि.सं. २०५०, मद्रास

२४-६-२०००, शनिवार

आषा. कृष्णा-७ : पालीताणा

* हमारे समान भटकते प्राणी को यह शासन मिला है जो निर्धन को चिन्तामणि प्राप्त हो जाये ऐसा बना है ।

अभी तक भटकने का कारण यह शासन नहीं मिला था, वह है ।

“भमिया भमिहिंति चिरं जीवा जिणवयणमलहंता ।”

- 'जीव विचार'

पूर्व में शासन मिला होगा तो अन्तः करण से आराधना नहीं की होगी । इसीलिए परिभ्रमण चालु रहा ।

दूसरों का (भुवनभानु केवली आदि) चरित्र पढ़कर केवल हमें उनका ही विचार आता है कि उन्होंने ने कितनी भूलें की ? वास्तव में तो यह विचार करना है कि यह मेरा ही भूतकाल है । मैं ने ऐसी ही भूलें की हैं । इसीलिए मिला हुआ शासन हार गया । फल स्वरूप संसार का परिभ्रमण चालु रहा ।

* हमें इस समय जैसी धर्म-सामग्री (मानव-भव, जैन कुल, जिन वाणी, ऐसा तीर्थ क्षेत्र, संयम-जीवन आदि) मिली है, वैसी सामग्री अन्य कितनों को मिली है ? कितने जीवों को यह सामग्री

नहीं मिली ? निगोद के अनन्त जीव, अधिकतर तिर्यच, वेदना से तड़पते नारक - ये सब तो बाकात हो ही गये, परन्तु मनुष्यों में से भी कितनेक जीव निकल गये । अनार्य देश आदि में उत्पन्न यहां आने के पश्चात् भी श्रद्धा आदि से रहित ये सब भी निकल गये न ? तो बचे कौन ?

योगसार - कर्ता के शब्दों में कहूं तो 'द्वित्राः' (दो-तीन ही) बचे, क्योंकि वेष धारण करने वाले भी सब प्राप्त किये हुए नहीं होते । आत्मानुभवी श्रमण तो दो-चार ही होंगे । हमारा नम्बर उनमें क्यों नहीं लगे ?

* क्यों इस जीवन में भव-सागर तरने की कला न सीख लें ? सागर में नाव तैर रही थी । कितनेक विद्वान अशिक्षित खलासी की हंसी उड़ा रहे थे । इतिहास, गणित, विज्ञान, भूगोल, खगोल आदि के विषय में अज्ञान देख कर वे कमशः तेरी चौथाई, आधी, पौनी जिन्दगी पानी में गई यह कहने लगे ।

तब सागर में तूफान आने पर खलासी ने पूछा, 'क्या आपको तैरना आता है ?'

सब एक साथ बोले - 'नहीं ।'

'तो आपका सम्पूर्ण जीवन पानी में गया' खलासी ने कहा । इतने में नाव टूट गई और सब डूब गये । खलासी तैर कर बच गया ।

अन्य सब सीखें, परन्तु धर्म-कला नहीं सीखें तो डूबना ही पड़ेगा । धर्म-कला सीखें और अन्य न आयें तो भी चिन्ता नहीं, भव-सागर तर जायेंगे ।

* वाहन में बैठते समय 'ड्राइविंग' करने वाले ड्राइवर पर जितना विश्वास है, उतना भी विश्वास अरिहंत पर कहां है ? यदि विश्वास हो तो क्या ऐसी चिन्ता होगी ?

बच्चा जितने विश्वासपूर्वक माता की गोद में सो जाता है, उतने विश्वास के साथ प्रभु की गोद में बैठ जाना है ।

माता की गोद में स्थित बालक को चिन्ता नहीं ।

भगवान के चरणों में रहने वाले भक्त को भी चिन्ता नहीं ।

* "आत्म अज्ञाने करी, जे भव-दुःख लहिये;

आत्म ज्ञाने ते टले, एम मन सहिए ।”

सभी दुःख आत्मा के अज्ञान में से उत्पन्न हुआ है । एक आत्मज्ञान आ गया तो संसार का सभी दुःख मिट गया समझें ।

‘गुरु-कृपा के बिना आत्मज्ञान नहीं होता, ऐसा कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरिजी योगशास्त्र में लिखते हैं ।

नित्य बोला जाने वाला श्लोक -

‘अज्ञान तिमिरास्थानां’ यही बात कहता है । आप सबको यह श्लोक आता ही होगा । गुरु चर्म-चक्षु नहीं, परन्तु विवेक-चक्षु खोल देते हैं ।

* आप स्वयं को तो जीव रूप में कदाचित् मानते हैं, परन्तु क्या दूसरे को भी जीव रूप में मानते हैं ? केवल मानने से नहीं चलेगा । उन पर आप कितना प्रेम करते हैं ? उस पर सब आधार है ।

आप जीव हैं, वैसे दूसरे भी जीव हैं, ऐसा स्वीकार किये बिना आप ध्यान-मार्ग या भक्ति-मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकते ।

इसीलिए एक जीव के साथ का अमैत्री भाव समस्त जीवों के साथ का अमैत्री-भाव है । एक जीव की हत्या छः जीव-निकाय की हत्या है ।

इसी प्रकार से एक तीर्थंकर की भक्ति समस्त तीर्थंकरों की भक्ति है । इसीलिए एक जीव की रक्षा जिस प्रकार आपको ऊपर चढ़ा देती है, उस प्रकार एक जीव की हत्या आपको नीचे भी पछाड़ देती है ।

* मैं बार-बार यह बात बलपूर्वक कहता हूँ कि भगवान भले ही मोक्ष में गये, परन्तु जगत् को पवित्र बनाने की उनकी शक्ति यहां निरन्तर कार्यरत है । अपना ध्यान उस ओर नहीं जाता यही हमारा दुर्भाग्य है ।

* सिद्धशिला पर मिलने वाली मुक्ति तो बाद में मिलेगी, परन्तु उससे पूर्व यहीं मिलने वाली सामीप्य-मुक्ति आदि चार मुक्तियों की ओर ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा ।

करोड़पति तो बाद में बनेंगे । उससे पूर्व ९९ लाख रुपये तो प्राप्त करने पड़ेंगे न ?

* कानजीभाई के मतवाले चाहे “मैं सच्चिदानंदी हूं” ऐसी बातें करते रहते हैं, परन्तु ऐसे ठिकाना नहीं पड़ेगा। यह व्यवहार-मार्ग नहीं है। पहले ‘दासोऽहं’, उसके बाद ‘सोऽहं’ की साधना आती है।

महोपाध्याय यशोविजयजी महाराज लिखते हैं -

“उचित व्यवहार अवलंबने, एम करी स्थिर परिणाम रे;

भाविये शुद्ध नय-भावना, पाव नासयतणुं ठाम रे...”

अर्थात् व्यवहार में निष्णात बनने के पश्चात् ही निश्चय में आगे बढ़ना है।

* वांकी में भुज के न्यायाधीश आये थे। साधना में कभी आगे बढ़े हुए थे। आनन्द की झलक भी प्राप्त की थी, परन्तु बाद में वे साधना चूक गये, परन्तु प्राप्त किये हुए आनन्द की वह झलक कैसे भूलते? क्या खाये हुए रसगुल्लों का स्वाद आप भूल जायेंगे?

आत्मा की झलक एक बार मिल जाये, फिर बार-बार वह झलक प्राप्त करने के लिए मन ललचायेगा ही।

उसे प्राप्त करने के लिए उसके पीछे पागल बन जाये, बार-बार भगवान को पुकारे। दुनिया कहे - यह पागल है, अंधा है; परन्तु भक्त कहता है कि भले दुनिया पागल कहे, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

उन न्यायाधीश ने मुझे अपने गुरु की कृपा के द्वारा प्राप्त हुई साधना की बात की।

किसी भी धर्मानुरागी की बात तुरन्त ही काटनी नहीं चाहिये। उसे धैर्य से सुनें। उसमें रहे सत्यांश को प्रोत्साहित करें। बाद में उसे योग्य मार्ग बताना चाहिये। सीधा ही आक्रमण नहीं करना चाहिये।

आप मानते हैं “वे कुदेव हैं, कुगुरु हैं।” आदि बातें नहीं करनी चाहिये।

उन सज्जन को मैंने फिर प्रेम से समझाया। उन्होंने मेरी बात मान ली। मूर्ति में श्रद्धा नहीं रखने वाला धर्म होते हुए भी उन्होंने ने शंखेश्वर पार्श्वनाथ का फोटो ग्रहण किया और मंत्र भी ग्रहण किया।

* लाकड़िया के भाई ने कहा - 'मैं पैदल चल कर पालीताणा जाना चाहता हूँ।' उसे कहा गया, 'चलो, हम चित्रोड़, गागोदर होकर आगे जायें।'।

"नहीं, मैं रहूंगा तो यहीं। चित्रोड़-बित्रोड़ कहीं भी नहीं आऊंगा। हां, मुझे जाना है, पैदल चल कर पालीताणा, परन्तु रहना है लाकड़िया में।"

ऐसे मूर्ख को क्या कहें ? पालीताणा जाना है, परन्तु लाकड़िया छोड़ना नहीं है।

अपनी दशा ऐसी है। मोक्ष में जाना है, परन्तु मोक्ष-मार्ग की ओर एक कदम भी चलना नहीं है। सिद्धि चाहिये, परन्तु साधना करनी नहीं है। शिखर पर पहुंचना है, परन्तु तलहटी छोड़नी नहीं है। क्षमा प्राप्त करनी है, परन्तु क्रोध छोड़ना नहीं है। मुक्ति प्राप्त करनी है परन्तु संसार का त्याग नहीं करना है।

* ज्ञानी पुरुषों का प्रश्न है - आपमें सच्चे अर्थ में मुक्ति की रुचि जागृत हुई है ? 'मोक्ष में जाना है' इसका अर्थ क्या ? क्या यह आप जानते हैं ? मोक्ष में जाना अर्थात् भगवान के साथ एकाकार हो जाना। हम मोक्ष-मोक्ष करते रहे, परन्तु भगवान को पूर्णतः भूल गये।

* सबको जला देने वाले चंडकौशिक के पास भगवान क्यों गये ? वह भी बिना बुलाये गये। गये तो भी वह स्वागत तो नहीं करता, परन्तु फुफकार मार कर डंक मारता है।

फिर भी करुणासागर भगवान वहीं खड़े रहे। चंडकौशिक के पास खड़े हुए उन भगवान को आप मानस दृष्टि से देखें। आपको करुणामूर्ति जगदम्बा के दर्शन होंगे।

गुरु भी अपनी इच्छा नहीं होते हुए भी कई बार ऐसा करते हैं।

'तत्त्व प्रीतिकर' पानी पिलाते हैं। (सम्यग् दर्शन)

'विमलालोक' नामक अंजन आंखों में लगाते हैं। (सम्यग् ज्ञान)

'परमात्र' नामक भोजन (सम्यक् चारित्र) खिलाते हैं। अंधे एवं रोगी भिखारी जैसे हम नहीं... नहीं करते रहते हैं और करुणामूर्ति



११ सामूहिक दीक्षा, भुज, वि.सं. २०२८, माघ शु. १४

२५-६-२०००, रविवार
आषा. कृष्णा-८ : पालीताणा

* पुष्करवर्त मेघ की तरह प्रभु करुणा-वृष्टि कर रहे हैं ताकि बाह्य-आंतर ताप-संतापों का शमन हो जाये ।

जितनी शक्ति भगवान में है, उतनी ही शक्ति उनके नाम में, आगमों में, चतुर्विध संघ के प्रत्येक सदस्य में हैं; क्योंकि चतुर्विध संघ की स्थापना भगवान के कर-कमलों से हुई है, भगवान ने उसमें शक्ति का संचार किया है ।

इस शक्ति से ही भगवान की अनुपस्थिति में भी भगवान का कार्य सम्पन्न होता रहता है ।

इस शक्ति पर विश्वास न हो तो आप भगवान के साथ अनुसंधान कर नहीं सकते । इसके बिना साधना चाहे जितनी करो, सब व्यर्थ है ।

“मैं चल नहीं सकता, भगवान ही मुझे मुक्ति-मार्ग पर चला रहे हैं । मैं तो छोटा बच्चा हूँ । भगवान माता हैं । असहाय बालक तुल्य मैं माता के बिना क्या कर सकूंगा ?” इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुए बिना आप मुक्ति-मार्ग में एक कदम भी आगे बढ़ नहीं सकेंगे ।

मनुष्यों की ही नहीं, पशुओं की माताएँ भी अपने शिशुओं की संभाल लेती हैं । यह मातृत्व कितना अद्भुत है ?

जिस छोटे शिशु को एक-दो दिन तक माता की हूँफ नहीं मिली, वह क्या जीवित रह सकेगा ? बचपन में बालक को माता के प्रति जैसा भाव होता है, वैसा ही भाव भगवान के प्रति हो जाये तो समझ लें कि भक्ति की दुनिया में प्रवेश हो गया है ।

इस अनुभव की मैं आपको बात कहता हूँ । मुझे तो अनेक बार अनुभव होता है कि मैं चलता नहीं हूँ, मुझे भगवान चला रहे हैं । आज का ही अनुभव बताऊँ । मैं सिद्धाचल पर गिर गया । आप सबको समाचार मिले होंगे । अनेक व्यक्ति पूछने भी आये, परन्तु सबको कितने उत्तर देने ? अतः आज वाचना में ही कह देता हूँ, 'मुझे कुछ हुआ नहीं; बचाने वाले भगवान मेरे पास हैं ।

मैं यदि भगवान की ऐसी शक्ति स्वीकार नहीं करूँ तो अपराधी गिना जाऊंगा ।

मुक्ति मैं नहीं प्राप्त करता, भगवान दे रहे हैं । भक्त को सतत ऐसा अनुभव होता रहता है ।

* अनेक व्यक्ति कहते हैं - उपादान कारण रूप आत्मा ही साधना करती है । भगवान क्या करें उसमें ? भगवान मात्र निमित्त है । अन्तर में भूख होनी चाहिये । भूख उपादान है । भोजन निमित्त है । भोजन बिचारा क्या करे ?

जिस प्रकार आपके पेट में भोजन पचाने की शक्ति है, उसी प्रकार से भोजन में भी पचने की शक्ति है । क्या आप यह मानते हैं ? यदि ऐसा न हो तो छिलके अथवा पत्थर खाकर पेट भर लो ।

हममें तरने की शक्ति है, उस प्रकार अरिहंत में तारने की शक्ति है - क्या आप यह मानते हैं ? क्या अरिहंत के बिना किसी अन्य आलंबन से आप तर सकते हैं ? पत्थर खाकर पेट भरा जा सकता हो तो प्रभु के बिना तरा जा सके । पत्थर खाकर तो फिर भी कदाचित् पेट भरा जा सके, परन्तु प्रभु के बिना तर नहीं जा सकता । आज तक कोई तर नहीं सका ।

* अपनी छः कारक शक्तियाँ सदा काल से अनावृत्त हैं । जब तक हम उसे मुक्ति-मार्ग की ओर उन्मुख नहीं करते, तब तक वह संसार-मार्ग की ओर उन्मुख होती रहती है । इसका अर्थ यह हुआ कि अपनी ही शक्तियों से अपने दुःखमय संसार का सृजन हो रहा है । अब यदि हम जग जायें तो इन्हीं शक्तियों के द्वारा सुखमय मुक्ति की ओर प्रयाण कर सकें । यह तत्त्व आज के जीव समझते नहीं है । उन्हें समझाने लें तो भी वे समझने के लिए तैयार नहीं होते । सब हवा में उड़ जाता हो वैसे लगता है । फिर भी मैं निराश नहीं होता क्यों कि मुझे तो एकान्त से लाभ ही है । मेरा स्वाध्याय होता है ।

* दूर स्थित भगवान् भक्ति से निकट आ जाते हैं । भगवान् निकट आये उसका विश्वास क्या ? भगवान् जब निकट होते हैं तब मन की चंचलता कम हो जाती है, विषय-कषाय शान्त हो जाते हैं ।

इसीलिए महापुरुष प्रभु को प्रार्थना करते हैं - 'हे पुरुष सिंह रूप प्रभु ! आप मेरे हृदय की गुफा में सिंह के रूप में पधारे । आप हों तब मोह रूपी सियारों की क्या शक्ति है कि, वे यहां आने का साहस भी कर सकें ?

* प्रभु को बुलाने हैं ?

प्रभु आ जायें तो भी क्या उनके सामने देखने का भी अवकाश है आपके पास ?

सत्य कहूं ? प्रभु तो अन्तर में बसे हुए हैं ही, परन्तु हम ही उस ओर कदापि देखते नहीं । हमारे भीतर विद्यमान भगवान् तो अनन्त काल से अपनी राह देख रहे हैं कि मेरा यह भक्त कब मेरी ओर देखे ? परन्तु हमें अवकाश नहीं है ।

* जल्दी-जल्दी सिद्धाचल की यात्रा करके आते हैं । सुबह-सुबह दर्शन करके साढ़े सात बजे तो पुनः लौट आते हैं ।

साढ़े सात बजे वन्दन करने के लिए आने वालों को मैं कई बार पूछता हूं - क्या यात्रा कर आये ?

उत्तर मिलता है - जी हां ।

मुझे विचार आता है - कब उठे होंगे ? कब गये होंगे ?

कितने समय तक भगवान के पास बैठे होंगे ?

यद्यपि, मैं किसी को कुछ कहता नहीं हूँ ।

आखिर आपके भाव की बात है ।

श्री कृष्ण ने घोषणा की, “जो जल्दी श्री नेमिनाथ के पहले दर्शन करके आयेगा, उसे मैं लाक्षणिक छोड़ी दूंगा । शाम्ब ने प्रातः उठते ही बिस्तर पर बैठे-बैठे भाव से भगवान के दर्शन किये । पालक उठ कर अंधेरे में ही सीधा भागा - दर्शन करने ।

भगवान ने कहा, “भाव से प्रथम दर्शन शाम्ब ने किये हैं ।”

द्रव्य से प्रथम दर्शन पालक ने किये हैं ।

घोड़ा (अश्व) शाम्ब को मिला ।

अपने दर्शन किसके समान है ? शाम्ब के समान कि पालक के समान ?

* आर्यरक्षित सूरिजी ने आचार्य पद भाई या चाचा आदि को न देकर दुर्बलिकापुष्प को दिया । कारण बताते हुए कहा - ‘मेरा सम्पूर्ण ज्ञान ग्रहण करनेवाला यह एक ही है ।

● गोष्ठ्यामाहिल घी के घड़े के समान ।

मेरे पास बहुत रहा । उसके पास थोड़ा आया ।

● फल्गुमित्र तेल के घड़े के समान ।

उसके पास बहुत गया तो भी मेरे पास थोड़ा रहा ।

● दुर्बलिकापुष्प वाल के घड़े के समान ।

सभी ग्रहण किया ।”

* भगवान अपने भीतर ही बैठे हैं । कोई विरला ही उनके दर्शन कर सकता है ।

“परम निधान प्रगट मुख आगले, जगत उल्लंघी हो जाये ।

ज्योति विना जुओ जगदीशनी, अंधो अंध पुलाय ।”

आनंदधनजी के ये उद्गार अनुभव से ही समझ में आ सकते हैं । भीतर ही परम निधान रूप प्रभु विद्यमान होते हुए भी जगत के लोग कितने पागल हैं ? ये लोग भीतर विद्यमान प्रभु की सतत उपेक्षा करते रहते हैं और धन आदि बाह्य पदार्थों में शोध चलाते हैं ।

* कभी-कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो शरीर

में कोई भार रहा ही नहीं । सर्वथा हलका प्रतीत होता है । कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो शरीर आकाश में उड़ रहा है ।

यह कोई चमत्कार नहीं है या देव सात्रिध्य नहीं है, परन्तु योग-सिद्धि के लक्षण हैं । (देखें, योगशास्त्र १२वां प्रकाश ।)

कर्म का बोझ हलका होने पर हलकेपन का अनुभव होता है ।

* प्रभु महावीर को सर्वज्ञ के रूप में पहचानने वाले मनुष्यों में सर्व प्रथम इन्द्रभूति गौतम थे ।

उनकी सर्वज्ञता में, भगवत्ता में श्रद्धा होने के पश्चात् ही इन्द्रभूति में ऐसी विशिष्ट शक्ति उत्पन्न हुई, जिससे अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांगी बना सके ।

भगवान मिलने पर क्या चमत्कार होता है ? इसका उत्कृष्ट उदाहरण इन्द्रभूति गौतम हैं ।

अभी भगवती में गांगेय प्रकरण आया । पार्श्वनाथ सन्तानीय गांगेय मुनि ने अनेक प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करके भगवान महावीर की सर्वज्ञता निश्चित की । तत्पश्चात् वहां स्वयं को समर्पित किया । सर्वज्ञता की, भगवत्ता की प्रतीति हुए बिना समर्पण हो नहीं सकता ।

भगवान के दर्शन तो सभी करते हैं, परन्तु भगवान में विद्यमान भगवत्ता के दर्शन करे वही तरता है ।

* एक बार आप प्रभु की शरण में गये, धर्म की शरण में गये, बस, हो गया । तुम्हारे सब अपराध माफ ! “एसो पंच-नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो” आपने चाहे जितने पाप किये हों । समर्पण से क्या फल मिलता है ? इसका यह उल्लेख है ।

‘पंचसूत्र’ में उल्लेख है - ‘धर्मनायक प्रभु की शरण में जाने से कर्म-प्रकृति शिथिल बनती है, हीन बनती है, क्षीण बनती है ।

* आज का अनुभव बताऊं ? आपको धर्म के प्रति श्रद्धा होगी । पदमावती से ऊपर चलते-चलते सीढ़ियों पर पैरों की अंगुलियां टकराईं । मैं फिसल कर गिर पड़ा । कहां गिरना, यह तो आदमी के हाथों में होता नहीं है । उस समय तो मुझे भी हुआ - अवश्य कुछ हुआ होगा ।

उसके बाद मैं दादा के दरबार में आया । मेरा नियम कि दादा के दरबार में तो चल कर ही जाना । मैं कुर्सी पर से उतर कर चलने लगा । देखा तो कोई पीड़ा नहीं । सब पूछने लगे - 'क्या यहां दर्द है ? वहां दर्द है । कहां दर्द है ? सबको कहता रहा - कहीं भी पीड़ा नहीं है, कहीं लगा नहीं ।

इस प्रकार दो-चार बार गिरा हूँ ।

गाय की टक्कर से एक बार भुज में वि. संवत् २०४६ में गिर पड़ा और फ्रैक्चर हो गया । तब से चलना बंद हुआ । डोली आई ।

अभी गत वर्ष बलसाड़ में प्रवेश से एक दिन पूर्व अतुल में गिर पड़ा । कितने ही महिनों तक दर्द रहा ।

गृहस्थ जीवन में हमारे घर में सीढियाँ गिर जायें ऐसी थी । तनिक ध्यान न रखें तो सीधे नीचे । डेढ़ वर्ष का एक बच्चा लुढ़क कर गिर पड़ा । हम चिन्ता में पड़ गये, परन्तु आश्चर्य यह कि वह बच्चा तुरन्त ही चलने लगा । उसे कहीं भी कोई चोट नहीं लगी थी, मानो प्रभु ने उसकी रक्षा की । यह बात उसे या अन्य किसी को मालूम नहीं है । केवल उस की माता को पता होगा ।

यह बालक मुनिश्री कल्पतरुविजयजी हैं ।

'धर्मो रक्षति रक्षितः ।' इस वाक्य पर विश्वास हो वैसी यह घटना है ।

ॐ ॐ ॐ

किसकी कब मुख्यता ?

औदयिक भाव की घटना में उपादान की मुख्यता मानें ।
औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक में पुष्ट निमित्त (प्रभु) की मुख्यता मानें ।



आचार्य पदवी प्रसंग, भद्रेश्वर - कच्छ, वि.सं. २०२९, माग. सु. ३

२६-६-२०००, सोमवार

आषा. कृष्णा-९ : पालीताणा

* जीव के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त आनन्द भरा होने पर भी वह यह जानता नहीं, श्रद्धा करता नहीं । इसीलिए वह उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता नहीं है । पहले श्रद्धा होती है फिर प्रयत्न होता है ।

आत्मा के आनन्द की श्रद्धा ही सम्यग् दर्शन है ।

आत्मा के आनन्द की जानकारी ही सम्यग् ज्ञान है ।

आत्मा के आनन्द में रमणता ही सम्यक् चारित्र्य है ।

धर्म के द्वारा यही प्राप्त करना है - आत्मा का आनन्द । यह तब ही सम्भव होता है यदि जीव पर चिपके कर्म हट जायें ।

आत्मानन्द की इच्छा के बिना किया गया धर्म सच्चा धर्म नहीं बन सकता । ऐसे धर्म का तो अभव्य भी सेवन करता है । वह नवे ग्रैवेयक तक भी जा सकता है, परन्तु पुनः संसार में गिर पड़ता है, क्योंकि भौतिक सुख की ही श्रद्धा थी । आत्मा के आनन्द की न श्रद्धा थी, न उसके लिए प्रयत्न थे ।

भगवान का यही कार्य है - आत्मानन्द की रुचि उत्पन्न करना । एक बार आपमें उसके लिए रुचि जगी तो उसके लिए आप पुरुषार्थ

करेंगे ही । वह रुचि, वह श्रद्धा तब ही प्रकट होती है यदि प्रभु के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो । प्रभु पर, प्रभु के वचनों पर श्रद्धा उत्पन्न हो तो आत्मा के आनन्द पर श्रद्धा उत्पन्न होगी ।

व्यापारी अपने पुत्रों को व्यापार की कला सिखाकर अपने समान बनाता है, गुरु अपने शिष्यों को अपने समान बनाने का प्रयत्न करे तो भगवान अपने भक्तों को अपने समान आनन्द क्यों न दे ? भगवान तो स्व-तुल्य पदवी-दाता है ।

आपने दीक्षा ग्रहण की तो प्रभु के पूर्णतः शरण में गये । सम्पूर्ण शरणागति स्वीकार की तो आपकी आत्मा का आनन्द बढ़ता ही गया, बढ़ता ही गया । बारह महिनों में तो आपका आनन्द इतना बढ़ जाता है कि अनुत्तर देवों का आनन्द भी पीछे रह जाये ।

भगवान की ओर से प्राप्त होने वाली यह आनन्द की प्रसादी है । साधु गोचरी जाते हैं, विहार-लोच आदि करते हैं, फिर भी आनन्द में तनिक भी हानि नहीं होती, यह प्रभु-मार्ग की बलिहारी है ।

यहां साधु-जीवन में आने के पश्चात् भी आत्मा के आनन्द की रूकावट के अनेक परिबल हैं - 'मैं विद्वान हूं, मेरे अनेक भक्त हैं, मेरे अनेक शिष्य हैं, मेरा समाज में नाम है ।' समाज में फैल जाने की ऐसी महत्वाकांक्षा साधना में रूकावट डालती है । साधना में रूकावट आने पर आत्मा के आनन्द में रूकावट आई ही समझें ।

* "जे उपाय बहुविधनी रचना, जोग माया ते जाणो रे;

शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय ध्याने, शिव दिये प्रभु सपराणो रे ।"

महोपाध्याय यशोविजयजी म. कहते हैं - 'अधिक लम्बी-चौड़ी योग की जंजाल रहने दें । कहीं इसमें उलझ जाओगे । शुद्ध द्रव्य-गुण पर्याय के ध्यान से प्रभु का अभेद ध्यान करें । भगवान स्वतः ही आपको मोक्ष प्रदान करेंगे । अरे, आपके भीतर ही मोक्ष प्रकट होगा ।

* गृहस्थ जीवन में मेरा भी एक समय भ्रम था कि यहां ही ध्यान लग जाता है, फिर दीक्षा की क्या आवश्यकता है ?

परन्तु जब जानने को मिला कि अपने निमित्त जब तक

छः काय के जीवों के जीवन-मरण होते रहें तब तक अपने जन्म-मरण नहीं रुकेंगे ।

गृहस्थ जीवन में तो छः काय की हत्या होती ही रहती है । जिन-दर्शन के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि चारित्र के बिना मुक्ति नहीं है ।

गृहस्थ जीवन में चौथा व्रत देने वाले पूज्य हिमांशुविजयजी महाराज (वर्तमान में आचार्य) मेरे प्रथम गुरु हैं ।

उन्होंने मुझे उस समय प्रेरणा दी - 'अब क्या रहा है संसार में ? आ जाओ यहीं । वे भी मेरे उपकारी हैं । उपकारी का उपकार नहीं भुलाया जाता ।

* सम्यक्त्व या ज्ञान को या चारित्र को आप नमस्कार करते हैं, तब आप उनके धारकों को भी नमस्कार करते हैं, क्योंकि गुणी के बिना गुण कहीं भी रहते नहीं हैं । गुणों को नमस्कार अर्थात् गुणी को नमस्कार ।

सम्यक्त्व अर्थात् नौ तत्त्वों की रुचि ।

नौ तत्त्वों की रुचि अर्थात् क्या ? नौ तत्त्वों में प्रथम तत्त्व है - जीव । उस जीव को जानना अर्थात् क्या ? जीव का जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप अनुभव करने की रुचि जागृत हो तो ही आपने सच्चे अर्थ में जीव-तत्त्व जाना है, यह कहा जा सकता है ।

जीव तत्त्व के प्रति ऐसी रुचि नहीं जगने से ही सम्यग् दर्शन होता नहीं है ।

सम्यग् दर्शन आते ही अनादिकालीन भ्रम नष्ट हो जाते हैं ।

सम्यग् दर्शन आते ही व्यवहार से कुदेवों आदि का त्याग किया, परन्तु यह तो लौकिक समकित आया, परन्तु देह में आत्मबुद्धि दूर हो, आत्मा में आत्मबुद्धि जगे तो लोकोत्तर समकित प्राप्त हो ।

दिखाई देनेवाली देह मैं नहीं हूँ, इन्द्रियों मैं नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति जिसके द्वारा हो वह समकित है । देह-इन्द्रिय 'मैं' नहीं हूँ तो वह कौन है ? पुद्गल है । पुद्गल 'पर' हैं । 'पर' को अपने माने तो हो चुका । कर्म-बन्धन होगा ही । दूसरों की वस्तु पर अपने स्वामित्व का दावा करने जाओ तो व्यवहार में भी आप

दण्डित होते हैं । यहां भी इसी तरह दण्डित होना पड़ता है ।

* सिंह जब तक अपना सिंहत्व न जाने तब तक भले ही बकरी की तरह 'बें-बें' करता रहे, परन्तु जब अपना सच्चा स्वरूप जान लेता है तब गर्जना करके पिंजरा तोड़ कर भाग जाता है । जब हम अपना सच्चा स्वरूप जान लें तब कर्मों के बकरे हमारे समक्ष ठहर नहीं सकेंगे ।

* "गिरिवर दर्शन फरसन योगे..."

- निन्नाणवे प्रकारी पूजा

इस पंक्ति का अर्थ अच्छी तरह समझें । सच्चे अर्थ में सिद्धाचल गिरि का स्पर्श कब होता है ? आत्मा की स्पर्शना के साथ सिद्धगिरि की स्पर्शना संकलित है ।

आत्मा की स्पर्शना की बातें तो मैं अनेक करता हूं, परन्तु मुझे भी अभी तक स्पर्शना नहीं हुई । हां, तीव्र रूचि अवश्य है । इसके लिए ही भगवान को पकड़े हैं ।

मेरी पूर्णता भले प्रकट नहीं है, परन्तु मेरे भगवान की पूर्णता पूरी तरह प्रकट हो चुकी है । उस भगवान पर विश्वास है ।

गुरु का ज्ञान अगीतार्थ शिष्य के काम आता है तो भगवान की पूर्णता भक्त के काम नहीं आये ?

प्रभु के प्रति यदि पूर्ण समर्पण भाव हो तो उनकी पूर्णता भक्त को अवश्य मिलेगी ।

मालशीभाई ! आपकी धनराशि से कितने ही लोग करोड़पति बने हैं न ? आप जैसों से भी लोग करोड़पति बनते हों तो भगवान के सहारे से भक्त भगवान क्यों न बनें ?

आपकी सम्पत्ति तो फिर भी कम हो जाये, परन्तु भगवान की भगवत्ता कदापि कम नहीं होती । भले चाहे जितनी ही जाती रहे ।

तो निश्चय करो कि जब तक अपनी पूर्णता प्रकट न हो तब तक भगवान को छोड़ने नहीं है ।

नूतन आचार्यश्री - आप लोन दीजिये ।

पूज्यश्री - यह क्या कर रहा हूं ? बोल कर आपको लोन ही दे रहा हूं न ? मैं तो रसोइया हूं । सेठ का (भगवान का)

माल परोस रहा हूं। भगवान जैसे देनेवाले हों तो मैं क्यों कंजूसई करूं ?

* निश्चय भीतर प्रकट होने वाली वस्तु है।

व्यवहार बाहर प्रकट होने वाली वस्तु है।

शुद्ध व्यवहार से भीतर का निश्चय व्यक्त होता है। कोई केवल निश्चय की बातें करे, परन्तु व्यवहार में कार्य के द्वारा कुछ भी प्रकट नहीं प्रतीत हो रहा हो तो वे बातें केवल बातें ही कही जायेंगी।

* समकित देते समय द्रव्य सम्यक्त्व का आरोप करके दिया जाता है। यह समझ कर कि भविष्य में समकित प्राप्त कर लेगा। साहुकार को इसी विश्वास पर ही लोन दिया जाता है न ?

अभी हीराभाई ने पूछा - इतने ओघे किये तो भी ठिकाना नहीं पडने का कारण क्या है ?

मैंने कहा - कि सम्यग् दर्शन का स्पर्श नहीं हुआ, जिन-भक्ति और जीव-मैत्री जीवन में नहीं आई।

* सम्यग् दर्शन के आठों आचार दर्शनाचार हैं। उन आचारों का पालन करने से सम्यग्दर्शन की योग्यता प्रकट होती है। जो दर्शनाचार का पालन करने में कुशल होता है वह सम्यक्त्व प्राप्त करता है।

स्वधर्मी की भक्ति करना, संघ का बहुमान करना, स्वधर्मी को स्थिर बनाना, मन को निःशंक बनाना आदि दर्शनाचार हैं।

संघ भगवान का है। उसकी भक्ति से समकित के लिए पूर्व भूमिका तैयार न हो यह असम्भव है।

सात बार चैत्यवन्दन क्यों करते हैं ? ये समकित लाने के उपाय हैं। भगवान के दर्शन किये बिना 'नवकारशी' क्यों नहीं की जा सकती ? इसका यही कारण है। आत्मा का दर्शन न हो तब तक प्रभु का दर्शन अपने लिए आत्मा का ही दर्शन है। प्रभु अर्थात् अपनी ही विशुद्ध बनी हुई आत्मा। प्रभु में अपने ही उज्ज्वल भविष्य को देखना है। उसके लिए दर्शन करने हैं।

सम्यग्दर्शन की निर्मलता बढ़ेगी उतनी सम्यक् चारित्र की निर्मलता बढ़ेगी ही। कपड़े स्वच्छ प्रिय लगते हैं तो चारित्र भी स्वच्छ ही प्रिय लगना चाहिये न ? कपड़ों के दाग न लगे उसकी

सावधानी रखने वाले हम चारित्र की चादर की सावधानी न रखें तो कैसे चले ? मोहराजा उस चादर को भले ही मलिन बनाने का प्रयत्न करे, परन्तु हम जागृत रहें तो उसका कुछ नहीं चलेगा । दर्शन मोहनीय समकित को और चारित्र मोहनीय चारित्र को मलिन बनाने वाले हैं ।

ॐ ॐ ॐ

घड़ा

“घड़ाभाई ! मुंह की अपेक्षा आपका पेट अत्यन्त ही बड़ा है, तो ओपरेशन क्यों नहीं करते ?”

पेट बड़ा है अतः उसमें कुछ समाता है । यदि इसका ओपरेशन हुआ तो आप प्यासे रहेंगे । सब जगह ओपरेशन नहीं करये जाते, पगलो !



कर्णाटक के प्रधान सिन्धिया, बेंगलोर, वि.सं. २०५२

२७-६-२०००, मंगलवार

आषा. कृष्णा-१० : पालीताणा

परमत्थाउ मुणीणं, अवराहो नेव होइ कायव्वो ।

छलियस्स पमाएणं, पच्छित्तमवस्स कायव्वं ॥ १५३ ॥

* परम पुन्योदय से जिन-धर्मोपदेश सुनने को मिलता है । साक्षात् तीर्थंकर से नहीं मिलता, परन्तु उनकी परम्परा में आये हुए सद्गुरु से सुनने को मिले, यह भी महापुन्योदय है ।

* दीर्घ संसारी को ही देव-गुरु की आशातना करने का मन होता है । आशातना करने का मन हो वही भावी दीर्घ संसार की सूचना है ।

आराधक आत्मा दोष न लगे उसकी चिन्ता करता ही है । सभ्य व्यक्ति कपड़े पर दाग न लगे उसकी चिन्ता करेगा ही ।

* प्रथम गणधर, तीर्थ के आधारभूत श्री गौतम स्वामी जैसे को भी भगवान कहा करते थे - “समयं गोयम मा पमायए ।”

“हे गौतम ! एक समय भी प्रमाद मत करना ।”

प्रमाद ही अपराध करता है । सद्बुद्धि-जन्य विवेक से ही प्रमाद को रोका जा सकता है ।

प्रमाद आचरण करने का मन हो और भीतर से आवाज आती

है - “यह करने जैसा नहीं है”, यह आवाज सद्बुद्धि की है जो सद्गुरु के द्वारा प्रदान की गई है। हम उसे न सुनें तो अलग बात है।

* केवल, अवधि, शास्त्र और चर्म - ये चार चक्षु हैं।

सिद्ध केवल-चक्षु हैं।

देव अवधि-चक्षु हैं।

साधु शास्त्र-चक्षु हैं।

और शेष सभी चर्म-चक्षु हैं।

शास्त्र-चक्षु प्रदान करने वाले गुरु हैं। यदि सत्य कहूं तो गुरु के माध्यम से भगवान हैं।

‘चक्रबुदयाणं’ भगवान का विशेषण है।

* एक तो अपना आयुष्य अल्प, उसमें भी आधी या पौनी जिन्दगी तो लगभग समाप्त हो गई। अब कितनी शेष रही है यह हम जानते नहीं हैं। ऐसे अल्प एवं क्षणजीवी जीवन में प्रमाद करते रहें यह ज्ञानी कैसे सहन कर सकते हैं ?

बात एक की एक है, परन्तु बारबार मैं इसलिए कहता हूं कि बारबार सुनने पर भी हम भूल जाते हैं, प्रमाद में पड़ जाते हैं।

आपका प्रमाद नष्ट करने के लिए चौबीसों घंटे गुरु भी समर्थ नहीं हैं। कदाचित् समर्थ हों तो भी क्या प्रति पल थोड़े ही टोकते रहेंगे ? यह तो हमें ही भीतर से जागृत होना पड़ता है।

अपनी जागृति ही अपने प्रमाद को, अपने अपराध को रोक सकती है।

गुरु के समक्ष हम अपराध का प्रायश्चित्त करते अवश्य हैं, परन्तु अधिकतर स्थूल अपराध ही होते हैं। सूक्ष्म विचारों पर तो ध्यान ही नहीं देते। ध्यान देते हैं तो गुरु को कहते नहीं हैं।

लक्ष्मणा साध्वीजी को एक ही विचार आया था, जिस की आलोचना मायापूर्वक ली तो कितनी चौबीसी तक उनका संसार बढ़ गया ?

सर्व प्रथम तो प्रमाद करना ही नहीं। प्रमाद नहीं हो तो कोई स्खलना या कोई अपराध नहीं होता। कदाचित् स्खलना हो जाये तो गुरु के पास आलोचना ले लें।

अनजाने अपराध हो जाये तो अल्प प्रायश्चित आता है । यदि इरादा पूर्वक अपराध किया जाये तो प्रायश्चित अत्यन्त ही अधिक आता है । वह भी यदि हृदय से पश्चाताप होता हो तो ही ।

शास्त्र कहते हैं - 'पच्छित्तं अवस्स कायव्वं ।' ऐसा धर्म विश्व में आपको कहीं नहीं मिलेगा, जो आपको सबके सुकृतों की अनुमोदना करना सिखाये और साथ ही साथ अपने छोटे पाप की भी गह्रा करना सिखाये । ऐसा शासन मिलने के पश्चात् क्या पाप छिपाये जायें ?

'सुण जिनवर शेटुंजा धणीजी...' स्तवन, 'रत्नाकर पच्चीसी' की - 'मंदिर छो मुक्ति तणा' स्तुतियों आदि याद हैं न ? इन रचनाओं में कैसी दुष्कृत-गर्हा की है ? भावपूर्वक यदि दुष्कृत-गर्हा की जाये तो इस जन्म के ही नहीं, जन्म-जन्म के पाप धुल जायें ।

झांझरिया मुनि के हत्यारे यमुन राजा ने ऐसी दुष्कृत-गर्हा की कि मात्र ऋषि-हत्या का पाप ही नहीं, उनके जन्म-जन्म के पाप धुल गये । उन्हें केवलज्ञान हो गया । किसी एक दाग को साफ करने के लिए जब आप वस्त्र धोते हैं तब मात्र वह दाग ही नहीं, अन्य दाग भी साफ हो जाते हैं ।

* अपने ही दोष देखने की कला जिसने सिद्ध कर ली, उसने जगत् की सबसे बड़ी कला सिद्ध कर ली । कितनेक मनुष्य, कितनेक क्यों, अधिकतर मनुष्य दूसरों के ही दोष देखते हैं, चाहे स्वयं में हजारों दोष हों; परन्तु कोई विरले ही होते हैं - जो प्रत्येक घटना में स्वयं की जवाबदारी देखते हैं, अपने ही दोष देखते हैं ।

चंडरुद्राचार्य इतने क्रोधी होने पर भी उनके नूतन शिष्य को इसी गुण के कारण केवलज्ञान प्राप्त हुआ था । यदि उसने गुरु के दोष ही देखे होते तो ? क्या हो ? गुरु इतने क्रोधी हैं कि कोई साधना ही नहीं हो सकती । हम होते तो ऐसा ही करते । जन्म-जन्म में ऐसा ही किया है । इसीलिए तो आज तक केवलज्ञान मिला नहीं है ।

* क्षमा, सन्तोष आदि जितने गुण हैं, वे सभी गुण देने

वाले भगवान हैं। गुण प्रदान करके भगवान जगत् पर सतत उपकार करते ही रहते हैं। इस कार्य में उन्हें कोई थकावट आती ही नहीं है। जो वस्तु आपके स्वभाव की बन जाये, शौक की बन जाये, उसमें क्या थकान लगती है ? बीड़ी पीने वाले को क्या बीड़ी पीते थकान लगती है ? क्या शराबी को शराब पीते थकावट लगती है ? वह उसका स्वभाव बन गया। उल्टा उसके बिना उसको चलता ही नहीं है।

परोपकार प्रभु का स्वभाव बन गया। इसके बिना प्रभु को चलता ही नहीं। 'आकालमेते परार्थव्यसनिनः।'।

* शक्कर की मीठास दूध में आ सकती है, उस प्रकार से प्रभु के गुण हममें आ सकते हैं।

इसके लिए ही तो प्रभु की भक्ति करनी है। दुष्ट की संगति करने से दुष्टता आती हो तो शिष्ट शिरोमणि प्रभु की संगति से शिष्टता क्यों न आये ?

कठिनाई यह है कि हमें दुष्ट की संगति प्रिय है, शिष्ट की संगति प्रिय नहीं है। संग तो प्रिय नहीं लगता परन्तु उनके गुण-गान भी प्रिय नहीं लगते। ईर्ष्या से जलते हैं हम।

गुणी बनने का एक ही मंत्र है - गुणी के गुण-गान करने। जो गुण प्रिय लगें, वे आपको मिलेंगे।

गुण प्रिय है इसका तात्पर्य क्या ? कोई गुण प्रिय है अर्थात् हमारा हृदय चाहता है कि वह गुण मुझमें आये।

आपको धनवान व्यक्ति प्रिय है, उसका अर्थ इतना ही है कि आपको स्वयं को धनवान बनना है। आपको सत्ताधीश प्रिय है, उसका अर्थ इतना ही है कि आपको स्वयं को सत्ताधीश बनना है। आपको कोई गुणी प्रिय है, इसका अर्थ इतना ही कि आपको गुणी बनना है। प्रिय लगना अर्थात् बनना। चित्त को जो प्रिय लगने लगता है, उसे वह तुरन्त ही अपनाने लगता है।

प्रभु के पास गुणों के ढेर हैं। जितने चाहिये उतने ले जाओ। कोई ब्याज नहीं देना पड़ेगा।

“गुण अनंता सदा तुज खजाने भर्या;

एक गुण देत मुझ शृं विमासो ?”

भक्त इस प्रकार कहता है, उसके प्रत्युत्तर में भगवान कहते हैं कि भक्तराज ! तुझे चाहिये उतने गुण ले जा, कौन इनकार करता है ? प्रभु का गुण गाये वह प्रभु के समान बनेगा ही ।

“नात्यद्भुतं भुवन भूषण भूतनाथ ।

भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ॥”

मानतुंगसूरिजी कहते हैं कि आपके गुण गाते-गाते आपके समान बने उसमें आश्चर्य क्या है ? सेठ के आश्रित रहा हुआ व्यक्ति सेठ बन जाये तो भगवान के आश्रित होकर रहा हुआ भक्त भगवान क्यों नहीं बन सकता ?

* भगवान कहीं भी पक्षपात करते नहीं हैं ।

गौतम स्वामी को कदापि ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि मैं सबसे बड़ा फिर भी मुझे केवलज्ञान नहीं और आज के दीक्षित मुनि केवलज्ञान प्राप्त कर लें ? यह कैसा पक्षपात ? उन्हें भक्ति इतनी प्रिय लगी कि उसके लिए उन्होंने केवलज्ञान भी एक ओर रख दिया ।

‘मुक्तिथी अधिक तुज भक्ति मुज मन बसी...’

यह पंक्ति गौतम स्वामी पर चरितार्थ होती प्रतीत होती है ।

* जिन के भक्त को कदापि अपराध करने की इच्छा ही नहीं होती । भक्ति के प्रवाह में बहते भक्त को पता है कि यहां अपराध रह ही नहीं सकता ।

“प्रभु उपकार गुणे भर्या, मन अवगुण एक न माय रे...”

- उपा. यशोविजयजी म.

एकाध दोष होता है वहां उस के अन्य मित्र आते हैं, परन्तु जहां एक भी मित्र नहीं दिखाई दे, वहां दोष आकर करें क्या ? भगवान स्वयं तो दोषमुक्त हैं ही, उनके आश्रय में रहे वह भी दोष-मुक्त बनेगा ही ।

“जिणाणं जावयाणं

तिन्नाणं तारयाणं” ये पद यही बात बताते हैं ।

* ठीक है, भूल हो जायेगी तो प्रायश्चित्त ले लेंगे । ऐसा भाव रहे और भूल करते रहें तो भूल का निवारण कदापि नहीं हो सकता । यदि भूल रहित जीवन बनाना हो तो यह भाव त्यागना ही पड़ेगा ।

ॐ ॐ ॐ

कहने लगे - 'भगवान की करुणा मुझ पर है या नहीं ? मुझे प्रेक्टिकल समझाये ।'

मैंने पूछा, 'आपने दीक्षा क्यों ली ?'

वे बोले, 'गुरु महाराज पू. भुवनभानुसूरिजी की शिबिर में मैं गया था । वहां गुरु महाराज ने मेरा हाथ पकड़ा और मैं यहां आया ।'

"बस, यही भगवान का उपकार है; अन्य किसी का नहीं और आपका ही हाथ क्यों पकड़ा ? गुरु के माध्यम से भगवान की करुणा आपके ऊपर बरसी, ऐसा क्या आपको नहीं लगता ? अन्य किसी को नहीं और आपको ही क्यों समझाया ?"

यद्यपि भगवान की करुणा तर्क से नहीं बैठती, हृदय से बैठती है । कर्म का अमुक क्षयोपशम हुआ हो तो ही समझ में आये ।

यह भी सोचें कि दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् अपना निर्वाह चलता है, यह किसका उपकार है ? भगवान का ही उपकार है । इसमें प्रभाव काम करता है । आगे बढ़कर कहूं तो समग्र विश्व पर नाम आदि के द्वारा भगवान उपकार करते हैं ।

'नामाऽपि पाति भवतो भवतो जगन्ति ।'

प्रभु ! आपका नाम भी संसार से जगत् की रक्षा करता है ।

- कल्याणमन्दिर

इसमें नाम उपकार करता है, प्रभु कहां आये ? यह मत पूछना । आखिर नाम किसका है ? भगवान का ही नाम है न ?

अब यह समझना रहा कि हमें यह मानव-जन्म, नीरोगी शरीर आदि भगवान की कृपा से ही मिले हैं ।

* ऐसी बातें पू.पं. भद्रंकरविजयजी महाराज ने तीन वर्ष तक घोट घोट कर समझाई हैं । हमारा संघ ऐसा पुन्यशाली है । फिर भी कुछ कमी हो तो इस तत्त्व की कमी है, ऐसा पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. कहते थे ।

ऐसे उपकारी भगवान हैं । इसीलिए तो दिन में सात बार चैत्यवन्दन करने हैं, प्रत्येक चौमासीह देववन्दन करने हैं, लोगस्स में नाम लेकर याद करने हैं । लोगस्स में तो गणधर जैसे भी भगवान के पास प्रार्थना करते हैं "आरुग बोहिलाभं समाहिवा

मुत्तमं दितु ।” “हे भगवान् ! मुझे आरोग्य, बोधिलाभ एवं समाधि प्रदान करें ।”

सर्वोत्कृष्ट (‘वर’ अर्थात् सर्वोत्कृष्ट) समाधि की याचना यहां की गई है । इसका अर्थ यह हुआ कि यह सूत्र समाधि-प्रदाता है । इसीलिए पूज्य पं. भद्रंकरविजयजी म. इसे समाधि सूत्र कहते थे ।

समाधि प्राप्त करनी हो तो बोधि चाहिये ।

बोधि प्राप्त करनी हो तो आरोग्य (भाव आरोग्य) चाहिये ।

उत्तराध्ययन में प्रश्न है कि प्रभु के कीर्तन आदि से क्या मिलता है ? उत्तर है - मिथ्यात्व का क्षय होता है, बोधि का लाभ होता है और समाधि प्राप्त होती है ।

* नवकार यदि चौदह पूर्व का सार है, तो उसमें निहित पंचपरमेष्ठी भी चौदह पूर्व के सार हैं ।

नवकार अर्थात् क्या ? केवल अक्षर ? नहीं, पांचो परमेष्ठी जीते-जागते नवकार ही हैं ।

अन्य चारों परमेष्ठियों का मूल अरिहंत है । इसीलिए अरिहंत चौदह पूर्व का ही नहीं, समग्र ब्रह्माण्ड का सार है ।

मिथ्यात्व की मन्दता के बिना ये बातें समझ में नहीं आती । चाहे जितना गुणवान व्यक्ति हो, परन्तु हम उसे प्रायः गुणवान के रूप में स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भीतर अहंकार बैठा है, मिथ्यात्व बैठा है ।

ऐसी वृत्ति अपनी ही नहीं, पूर्व अवस्था में गणधरों की भी थी ।

वे भगवान के पास समझने के लिए नहीं, झुकने के लिए नहीं, परन्तु भगवान को परास्त करने के लिए आये थे ।

भगवान के दर्शन से मिथ्यात्व पिघल गया, भगवान में भगवत्ता दिखाई दी और फिर तो ऐसी शक्ति प्रकट हुई कि अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांगी की रचना की ।

प्रभु की कृपा हुई और गणधरों को आरोग्य, बोधिलाभ, समाधि इन सबकी प्राप्ति हुई ।

* सिंह जब तक अपने सिंहत्व को ही नहीं पहचाने तब

तक वह बकरे को कैसे भगा सकता है ? सिंह स्वयं बकरी की तरह 'बें... बें...' करता रहता हो तो बकरी कैसे भागेंगी ।

जब तक आत्मा अपना परम आत्मत्व नहीं पहचाने तब तक कर्म नहीं भागते ।

* अभी भगवती में आया कि ऋषभदत्त एवं देवानन्दा को प्रभु ने दीक्षित किये थे । देवानन्दा को चंदनबाला ने दीक्षा दी ।

क्या देवानन्दा को दो बार दीक्षा दी गई थी ? यह प्रश्न उठता है । टीकाकार ने स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि दीक्षा भगवान ने ही दी, परन्तु देवानन्दा को साध्वी प्रमुखा चंदनबाला को सौंपी, क्योंकि कपड़े कैसे पहनने चाहिये ? ओघा किस प्रकार बांधा जाये ? यह सब तो साध्वीजी को ही सिखाना पड़ता है न ? इसीलिए चंदनबाला ने भी दीक्षा दी - ऐसा लिखा है ।

* देवगिरि में जिनालय का निर्माण कराने के लिए पेथड़ शाह ने तरकीब की । ओंकारपुर में मंत्री हेमड़ के नाम पर तीन वर्षों तक भोजनशाला चलाई थी । हेमड़ को पता लगते ही वह स्तब्ध रह गया - मेरा नाम रेशन करने वाला यह पेथड़ शाह कौन ? कितने सज्जन ?

पेथड़ शाह को मिलकर हेमड़ गद्गद् हो गया और उसके बाद देवगिरि में हेमड़ की सहायता से पेथड़ शाह ने जिनालय का निर्माण कराया ।

इस पर से मुझे यह कहना है कि भोजनशाला पर नाम है हेमड़ का, परन्तु देने वाले थे पेथड़ शाह । यहां भी...

यह जैन प्रवचन रूपी भोजनशाला है । भोजनशाला पर मेरा नाम टंगा हुआ हो, परन्तु देने वाले भगवान हैं ।

देखो, गणि महाराज मुक्तिचंद्रविजयजी यहां समस्त साधु-साध्वीयों को (१९ साधुओं एवं ९५ साध्वीजियों को) योग कराते हैं । वे क्या अपनी ओर से कराते हैं ? नहीं, महापुरुषों की ओर से कराते हैं ।

सात खमासमणों में क्या बोलते हैं ?

'खमासमणाणं हत्थेणं' पूर्व के महान् क्षमाश्रमणों के हाथों से

मैं आपको देता हूँ ।

* भगवान की साधुओं के लिए आज्ञा है कि पांच प्रहर तक स्वाध्याय करें ।' स्वाध्याय तो साधुओं का प्राण है । इस के बिना कैसे चलेगा ?

ज्ञान, दर्शन तो जीव के लक्षण हैं । इन्हें पुष्ट करने वाला यह साधु-जीवन है । ज्ञान छोड़ दें तो 'जीव' कैसे कहलायें ? सच्चे अर्थ में जीव बनना हो तो ज्ञान में वृद्धि करें । ज्ञान ही ऐसा लक्षण है जो आपको जड़ से भिन्न करता है । आत्मा के ज्ञान आदि छः लक्षणों में प्रथम लक्षण 'ज्ञान' है ।

* आपके मन में होता होगा - इतने सारे को क्यों एकत्रित किया ? क्या प्रयोजन है ?

मैं सबको यहां देना चाहता हूँ । प्राप्त किया हुआ दूसरों को देना ही विनियोग है । बाकी, जीवन का क्या भरोसा है ?

यहां सुनी हुई बातें हवा में न उड़ जाये यह देखना । मेरा श्रम व्यर्थ न जाये इसका ध्यान आपको रखना है ।

मुझे जिस प्रकार अन्य-अन्य महात्माओं ने पक्षपात या भेदभाव के बिना दिया है, उस प्रकार आप भी अन्य को देते रहें । देने में कंजूसई (कृपणता) न करें । जिसका विनियोग नहीं करोगे वह वस्तु आपके पास नहीं रहेगी ।

जोग में अनुज्ञा के खमासमण के समय यही बोलने में आता है, "सम्मं धारिज्जाहि, अत्रेसिं च पवज्जाहि, गुरुगुणेहिं वुड्ढि-ज्जाहि नित्थारपाग्गा होह ।"

"इस सूत्र को सम्यग् धारण करें, दूसरों को दें, महान् गुणों से वृद्धि प्राप्त करें और संसार से पार उतरें ।"

* भगवान के पास हम चैत्यवन्दन करते हैं । इन के सूत्र इतने गंभीर एवं रहस्यपूर्ण हैं कि जगत् की समस्त ध्यान-पद्धतियां एवं योग की बातें केवल चैत्यवन्दन के सूत्रों में आ जाती हैं ।

चैत्यवन्दन का महत्त्व समझानेवाला 'ललित विस्तर' अद्भुत ग्रन्थ है । यदि यह ग्रन्थ नहीं मिला होता, उसका रहस्य समझाने वाले पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. यदि नहीं मिले होते तो आज मेरी दशा कैसी होती ? यह कल्पना ही कंपा देने वाली है ।

* व्याख्यान के लिए मेरा प्रथम चातुर्मास जामनगर प्लोट में हुआ। उस समय व्याख्यान में अध्यात्मसार पढ़ा।

उसमें तीसरा अधिकार है - दम्भ - त्याग। आराधक को दम्भ एवं दिखावे का त्याग करना ही पड़ता है। यदि दम्भ, दिखावा और ढोंग चालु रहे तो आप आराधक कैसे बन सकते हैं ?

जामनगर में कॉंग्रेसी नेता प्रेमजीभाई सामने ही रहते थे। उन्हें इसमें (अध्यात्मसार में) विशेष रुची थी।

दूसरे चातुर्मास में (जामनगर-पाठशाला में) वैराग्य कल्पलता पढ़ा। वि. संवत् २०२२ में भुज में 'ज्ञानसार', बाद में 'उत्तराध्ययन', आचारांग, सूयगडंग इत्यादि व्याख्यान एवं वाचना रहे।

व्याख्यान देने से पूर्व ये सूत्र देखना पड़ता है, सोचना पड़ता है, लोकभोग्य भाषा में परोसना पड़ता है, जिससे यह सूत्र बोलने वाले के लिए कितना दृढ़ हो जाता है ? कितना लाभ हो जाता है ?

* चैत्यवन्दन सूत्र में आता एक 'जग चिन्तामणि' सूत्र भी कितना अद्भुत है ? 'जगचिन्तामणि' सूत्र अर्थात् स्थावर-जंगम तीर्थ की भावयात्रा। कितनी अधिक यात्रा करा दी गई है इस सूत्र में ?

प्रतिमा में साक्षात् भगवान की बुद्धि उत्पन्न न हो तब तक आपके चैत्यवन्दन में प्राणों का संचार नहीं होगा।

ॐ ॐ ॐ

लोगस्स की आराधना

'लोगस्स कल्प' में प्रथम गाथा पूर्व दिशा में जिनमुद्रा में १४ दिन उसके बीज मंत्रों सहित १०८ बार गिनने का विधान है। तदनुसार गिनने से और उसके उपसंहार रूप छठी गाथा बैठकर १०८ बार गिनने से एक प्रकार की अद्भुत शान्ति की अनुभूति होती है।



भुज, वि.सं. २०४३

२९-६-२०००, गुरुवार
आषा. कृष्णा-१३ : पालीताणा

- * न ति सुज्झंति ससल्ल जह भणियं सब्बभावदंसीहि ।
मरणपुणब्भवग्रहिया, आलोयण निंदणा साहू ॥ १५५ ॥
- * तीर्थ की सेवा किये बिना कोई मुक्ति नहीं पा सकता ।
'तीर्थ सेवे ते लहे आनंदघन अवतार...'

हमारा मोक्ष नहीं हुआ, क्योंकि तीर्थ की आराधना नहीं की ।
तीर्थ मिला होगा, परन्तु हमने विराधना की होगी ।

"आज्ञाऽऽराद्धा विराद्धा च ।
शिवाय च भवाय च ॥"

- वीतराग स्तोत्र

* चौबीसो घंटे कोई आपका गुरु नहीं बन सकता ।
हमें ही अपना गुरु बनना पड़ता है ।

* भगवान की कृपा के बिना शुभ कार्य होते ही नहीं हैं । किसी भी शुभ कार्य में भगवान की कृपा चाहिये ही ।
कई बार मन में होता है - मैं ऐसा बोल गया ? मैंने इतना लिखा ? लिखने के लिए सोचा हुआ ग्रन्थ सचमुच क्या मैंने ही लिखा ? कैसे लिखा गया ? कैसे बोला गया ? परन्तु फिर

तुरन्त भगवान एवं भगवान की कृपा याद आये और समस्त प्रश्नों के उत्तर मिल जाये ।

शुभ कार्य ही नहीं, शुभ विचार भी भगवान की कृपा से ही आते हैं ।

“एकोऽपि शुभो भावो जायते स भगवत्कृपालभ्य एव ।”

एक भी शुभ विचार करने की आपकी शक्ति नहीं है, यदि आप पर प्रभु की कृपा न हो । मन में शुभ विचारों की धारा चल रही हो तब निश्चित रूप से मानें कि मुझ पर प्रभु की कृपा-वृष्टि हो रही है ।

* हमारे मन में दोनों का युद्ध चलता है, शुभ एवं अशुभ दोनों विचार भीतर उत्पन्न होते रहते हैं । जहां अपनी शक्ति जुड़ती है, उसकी विजय होती है ।

अधिकतर हमने अशुभ को ही शक्ति प्रदान की है । कुरुक्षेत्र में कौरव हार गये थे और पाण्डव विजयी हुए थे । हमारे मन के कुरुक्षेत्र में कौरव (अशुभ विचार) विजयी हो रहे हैं और पाण्डव (शुभ विचार) हार रहे हैं ।

अशुभ विचारों से अशुभ कर्म, अशुभ कर्मों से पाप, पाप से दुःख आते हैं । अपने दुःखों का सृजन अपने ही हाथों हो रहा है ।

आश्चर्य है न ? फिर भी हम अपने दुःखों के लिए दूसरों पर दोषारोपण करते हैं ।

हम नियन्त्रण करने का प्रयत्न करें फिर भी अशुभ विचार आ जायें तो क्या करें ? मन हाथ में नहीं रहता हो तो क्या करें ?

शास्त्रकार उपाय बताते हैं कि तुरन्त अशुभ विचारों की गर्हा करें, उन्हें निकाल दें । शास्त्रीय भाषा में यह दुष्कृत गर्हा कहलाती है । जिन दुष्कृतों की आप गर्हा करते हैं, वे आपकी आत्मा में गहरी मूल जमा नहीं सकते । फलतः आपको पाप एवं दुःख का भागीदार बनना नहीं पड़ता ।

अशुभ विचार बद्धमूल बन गये हों तो वे आपको अवश्य ही अशुभ कार्यों की ओर खींच ले जाते हैं । फिर आप इन पर नियन्त्रण नहीं कर सकते । आप देखते रहें और वे बद्धमूल

बने अशुभ विचार आपसे कार्य कराते रहें । आपकी आंखों के समक्ष ही चोरी होती रहे, फिर भी आप विवश होकर देखते रहें । कुछ भी नहीं कर सकते ।

यदि ऐसा ही हो तो अशुभ विचारों को बद्धमूल क्यों होने दें ? अशुभ विचारों को तब ही दुष्कृत गर्हा के द्वारा निर्मूल क्यों न कर लें ?

अशुभ विचारों से त्रिपृष्ठ के भव में किये गये कर्म ठेठ महावीर स्वामी के भव में भी भोगने पड़ते हों, कर्म भगवान को भी नहीं छोड़ते हों, तो उन कर्मों से हम अभी ही से सचेत न रहें ?

पापों को दूर करने हों तो सतत उनकी आलोचना, निन्दा, गर्हा, दुगंछ आदि करते रहें ।

“आलोइअ निदिअ गरहिअ दुगंछिअं सम्मं ।”

ऐसा करने वाले साधक के जन्म-मरण का चक्र रुक जाता है, क्योंकि उसकी मूल में उसने पलीता लगाया है ।

* आदिनाथ भगवान के जीव ने जीवानंद वैद्य के भव में एक मुनि की भारी सेवा की थी । उन्होंने ने कुछ रोग-ग्रस्त एक मुनि को नीरोगी बनाया था । उन्होंने ने मित्रों की सहायता से सेवा की थी । गोशीर्ष चन्दन, रत्नकम्बल, लक्षपाक तेल (प्रत्येक का मूल्य एक लाख सोनैये था) इन तीनों वस्तुओं के सम्यग् उपयोग से उपचार किया था ।

तीर्थकरों के जीव ऐसे होते हैं ।

इसीलिए तीर्थकर “आकालमेते परार्थ व्यसनिनः ।” कहलाये हैं ।

* पापों के प्रायश्चित के लिए (किसको कितना प्रायश्चित दे वह बताने के लिए) ४५ आगमों में छः आगम हैं । इन छः को छेद-ग्रन्थ कहा गया है । छेद-ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिए पर्याय, पद या उग्र नहीं, परन्तु गम्भीरता देखी जाती है । चाहे जितना दबाव हो फिर भी गुप्त बात निकले नहीं, इसे गम्भीरता कहते हैं । उन तीन पुतलियों की कथा में आता है न ? तीन पुतलियों में सबसे अधिक मूल्य कौन सी पूतली का ? जो पूतली अपने पेट में उतारे, बाहर न जाने दे उस पुतली का मूल्य सर्वाधिक

है । इसका अर्थ यह हुआ कि गम्भीरता मूल्यवान है ।

शरीर स्वस्थ था तब तक पू. देवेन्द्रसूरिजी प्रत्येक क्रिया खड़े-खड़े ही करते थे । ७८ वर्ष की आयु में भी भारी अप्रमत्तता थी । अन्तिम दो वर्ष फ्रेक्चर के कारण शय्या पर थे, वह अलग बात है । अन्यथा उनकी अप्रमत्तता अद्भुत थी । वर्तमान समय में ऐसी अप्रमत्तता कठिनाई से ही देखने को मिलती है ।

* एक भी मृत्यु शल्यसहित हो तो पुनः पुनः जन्म-मरण चालु ही रहता है । इसीलिए पश्चाताप एवं प्रायश्चित के द्वारा शल्य का विसर्जन करने का शास्त्रीय विधान है ।

भुवनभानु केवली अपना जीवन-चरित्र बताते हुए कहते हैं कि अनेक चौबीसियों से पूर्व मैं चौदह पूर्वधर था, परन्तु प्रमाद आदि के कारण मैं अनन्त काल के लिए ठेठ निगोद में चला गया ।

प्रमाद अपना सबसे बड़ा शत्रु है । कट्टर में कट्टर शत्रु भी जो हानि पहुंचाये, उतनी हानि यह एक प्रमाद पहुंचाता है ।

प्रमाद कहां आता है ? अधिकतर प्रतिक्रमण, वाचना आदि में प्रमाद आता है । यहां भी झौंके खाने वाले होंगे ।

नींद करते व्यक्ति को जगायें तो क्या कहेगा ? 'नहीं साहिब, मैं नींद नहीं करता ।' नींद करने वाला कदापि सत्य नहीं बोलता । गुरु के जगाने पर भी वह नहीं जगे तो गुरु को अन्त में उसकी उपेक्षा करनी पड़ती है ।

गुरु की उपेक्षा बढ़ती जाये त्यों उस शिष्य का प्रमाद बढ़ता जाता है ।

इस प्रमाद के कारण अनन्त चौदह पूर्वी आज भी निगोद में पड़े हुए हैं ।

* ये सब बातें आगमों की हैं । यहां मेरा कुछ भी नहीं है ।

हम तो रसोइए हैं । रसोइये का अपना कुछ नहीं होता । सेठ की सामग्री में से आपको प्रिय लगे ऐसे व्यंजन बनाकर यह आपको देता है । हम भी भगवान की बातें आप जैसों को समझ में आये वैसे भाषा में कहने का प्रयत्न करते हैं ।

हमारे हाथ से बननेवाले व्यंजन कैसे हैं । यह तो आपको ज्यादा पता लगता है ।

* शुभ विचारों से शुभ कर्मों की शक्ति बढ़ती है । इतनी शक्ति बढ़ती है कि अशुभ कर्म भी शुभ में बदल जाते हैं । अशुभ विचार करने से उल्टा होता है - शुभ कर्म भी अशुभ में बदल जाते हैं ।

इसीलिए शास्त्रकार शुभ विचारों पर बल देने का कहते हैं ।

* मैं अभी सिद्धाचल पर गिर गया था । नीचे पत्थर थे । कहीं भी गिर जाऊं तो चोट लग सकती थी । सिर में, पीठ में, पांव में, हाथ में, कहीं तो चोट लगती ही, परन्तु आश्चर्य...! मुझे कहीं भी चोट नहीं लगी । मुझे स्वयं को भी आश्चर्य होता है । इसमें मैं भगवान का अनुग्रह न मानूं तो किसका मानूं ?

* दिन में 'इरियावहियं' कितनी बार करनी पड़ती है ? कदम-कदम पर 'इरियावहियं' तैयार रहती है । प्रतिक्रमण, पड़िलेहन, देववन्दन आदि समस्त क्रियाओं में 'इरियावहियं' । ओरे, कचरा निकालना हो या एक सौ कदमों से अधिक चले हों या प्रस्रवण आदि परत्ता हो तो भी इरियावहियं । इस 'इरियावहियं' में क्या है ? इरियावहियं में अशुभ भाव की धारा को नाश करने के तीनों उपाय समाविष्ट हैं ।

'इरियावहियं' में दुष्कृत - गर्हा ।

लोगस्स में सुकृत-अनुमोदना एवं शरणागति है ।

* भूल करनी, करने के पश्चात् स्वीकार नहीं करनी, पश्चाताप अथवा प्रायश्चित्त नहीं करना अर्थात् अपने हाथों अपना ही दुःखमय भावी खड़ा करना ।

यथासंभव भूल करनी ही नहीं । भूल हो जाये तो तुरन्त स्वीकार करनी, 'मिच्छामि दुक्कडं' मांगना, छोटे हों तो भी सामने से 'मिच्छामि दुक्कडं' मांगना । इसमें कोई हमारा बड़प्पन कम नहीं होता ।

* आचार्य को क्रोध आ जाये तब विनीत शिष्य क्या सोचता है ? आचार्य कैसे क्रोधी हैं ? डांट देते ही रहते हैं । क्या मैं ही एक मिला ? दूसरे भी कहां ऐसे अपराध नहीं करते ? ऐसे विचार करते हैं ? ऐसे विचार किये होते तो चंडरुद्राचार्य का वह

नूतन दीक्षित शिष्य क्या केवलज्ञान प्राप्त कर लेता ?

उस समय नम्र शिष्य तो सोचेगा, “मैं कैसा अधम हूँ कि इतनी उच्च भूमिका पर स्थित आचार्य को मेरे कारण निम्न भूमिका पर आना पड़ता है । इनके पास शिष्यों की कहां कमी थी ? ५०० शिष्य तो थे ही । उन्होंने मुझे सामने से कहां दीक्षा दी है ? मैंने मांगी तब दी है ।

मेरे निमित्त आचार्य भगवन् को क्रोध करना पड़े यह मेरी अयोग्यता है ।

ऐसे विचारों से ही उन्हें केवलज्ञान मिला होगा न ?

✽ समय सबको समान ही मिलता है । महापुरुषों को २५ घंटे और दूसरों को २४ घंटों का दिन मिलता हो, ऐसी बात नहीं है ।

समान रूप से प्राप्त होती समय रूपी बक्षीस को सफल कैसे बनाओगे ?

अपराध करके उसे व्यर्थ भी खोया जा सकता है और आराधना करके सफल भी बनाया जा सकता है ।

ॐ ॐ ॐ

भगवान कहां है ?

पुष्प की पंखुड़ियों में सुगन्ध की तरह मैं (भगवान) शास्त्र की पंक्तियों में विद्यमान हूँ । जो मुझे मिलना चाहें, वे मुझे शास्त्रों में देखें ।

भगवान आये तो...

बुद्धि में भगवान आये तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है ।

हृदय में भगवान आये तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है ।

हाथ में (काया में) भगवान आये तो सम्यक्चारित्र प्राप्त होता है ।

तो भवो भव खराब ।

* शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्तिकता-सम्यक्त्व के लक्षणों का यह क्रम प्रधान रूप से है । उत्पत्ति में उत्क्रम से समझें अर्थात् पहले आस्तिकता (श्रद्धा) उत्पन्न होती है । श्रद्धा में से क्रमशः अनुकम्पा, निर्वेद, संवेग जागृत होता है । इन सबके फल स्वरूप अन्त में शम-प्रशम की प्राप्ति होती है ।

आस्तिकता मूल है, शम फूल है ।

आस्तिकता नींव है, शम अगासी है ।

आस्तिकता तलहटी है, शम शिखर है ।

आस्तिकता खनन मुहूर्त है, शम प्रतिष्ठा है ।

* साधना की पूर्व भूमिका के रूप में अभय, अद्वेष, अखेद ये तीन गुण प्रकट होते हैं ।

जो दूसरे को अभय देता है वह स्वयं भी अभय रहता है ।

दूसरे को भय देनेवाला स्वयं भी भयभीत रहता है ।

गुण्डे, आतंकवादी, जुल्मी नेता इसीलिए भयभीत होते हैं । योगी जंगली-हिंसक प्राणियों के मध्य भी निर्भय होते हैं ।

गिरनार के सहस्राग्र वन में अपने एक जैन साधक बन्धु गुफा में ध्यान-लीन थे । एक वाधिन वहां सपरिवार आई । साधक तनिक भी डरे बिना वहीं बैठे रहे । वाधिन या उसके बच्चों ने कुछ भी नहीं किया और वहां से चले गये ।

“अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्यागः ।”

- पातंजल योगदर्शन

पातंजलि कहते हैं कि अहिंसा की सिद्धि जिसके जीवन में हो गई हो, उसके पास जाते ही हृदय में विद्यमान वैर भावना नष्ट हो जाती है ।

सिद्धि उसे ही कही जाती है जो आप दूसरे में उतार सको । अहिंसा की सिद्धि तो ही गिनी जायेगी यदि आपके पास आनेवाला अहिंसक बन जाये ।

* गृहस्थों में भी दान-उदारता के गुण कैसे उत्कृष्ट होते हैं ? सुनकर आश्चर्य होता है ।

हमारे फलोदी में किशनलालजी रहते थे । आतिथ्य-सत्कार

करने में इतने उदार कि आगन्तुक की भक्ति करने में कुछ भी बाकी नहीं रखते । शीतकाल में तो काजू, बादाम, पिस्ता मुठ्ठे भर कर देते । इस कारण से उनका पुन्य भी ऐसा कि उस युग में भी लाखों रुपये कमाते थे ।

* वि. संवत् २०४२ में जयपुर में एक भाई आया । मैंने उसे नवकार की प्रतिज्ञा देने की बात कही तो वह कहने लगा - 'महाराज ! नवकार गिनने से क्या लाभ ? रोटी-रोटी बोलने से क्या पेट भर जायेगा ? अरिहंत-अरिहंत बोलने से क्या मोक्ष हो जायेगा ? मुझे बात नहीं बैठती ।'

मैंने उसे आधे घंटे तक समझाया, परन्तु वह मानने को तैयार ही नहीं हुआ ।

मैंने अन्त में कहा, "ठीक है, आपकी जैसी इच्छा । आपको सद्बुद्धि मिले, मैं तो भगवान से यही प्रार्थना करता रहूंगा । लो, यह वासक्षेप ।"

वह भाई वासक्षेप लेकर चला गया । मुझे विचार आया - यह बिचार नवकार की निन्दा करके कितने कर्म बांधेगा ?

बाजार में जाकर वे सायंकाल में पुनः आकर कहने लगा, 'गुरुदेव ! प्रतिज्ञा दे दीजिये । मेरी भूल थी । भगवान का नाम लिये बिना किसी का आत्म-कल्याण नहीं हो सकता ।'

उसने एक माला गिनने की शपथ मांगकर ली । मुझे सन्तोष हुआ ।

* भगवान का नाम बहुमानपूर्वक लेना प्रारम्भ करें ताकि पाप अपने बिस्तर-पोटले लेकर भाग जायेंगे । सूर्य की किरणों से अंधकार भागता ही है । प्रभु के नाम से पाप भागता ही है ।
"त्वत्संस्तवेन भवसन्तति"

- भक्तामर

सम्पूर्ण लोगस्स भगवान के नाम से भरा हुआ है । चौबीसों भगवान की नामपूर्वक की स्तुति की स्वयं गणधरों ने रचना की है, जिसमें भगवान के पास आरोग्य, बोधि एवं समाधि की मांग की गई है ।

तदुपरान्त चौबीसों भगवान सामने ही हैं - यह मानकर स्तुति की

गई है। 'अभिधुआ' का यही अर्थ होता है। चर्म-चक्षु से भले ही प्रत्यक्ष न हों, परन्तु मानस-चक्षु से, शास्त्र-चक्षु से भगवान साक्षात् हैं।

यह कल्पना नहीं है, सत्य है; क्योंकि प्रभु सब में हैं, सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं। प्रभु को कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार भगवान निरन्तर उपकार करते ही रहते हैं।

टेलिफोन करने से पूर्व आप उस व्यक्ति के नम्बर जोड़ते हैं और फिर आप उसके साथ बात करते हैं। भगवान का नाम भगवान का नम्बर है। भगवान का नाम लो तो सम्पर्क होता ही है। वहां सम्बन्ध जोड़ने वाला तार है। यहां प्रेम का तंतु चाहिये, तो भगवान के साथ जुड़ाव होगा ही।

फोन में तो वह व्यक्ति फोन उठाये तो ही बात हो सकती है, परन्तु यहां तो भगवान सर्वज्ञ है। हम जहां प्रभुमय बने, उसी समय अपना भगवान के साथ जुड़ाव हो ही गया। उनके केवल ज्ञान के दर्पण में सब संक्रान्त हो चुका है।

केवलज्ञान के दर्पण में सम्पूर्ण विश्व संक्रान्त हो तो हम, हमारे हृदय के भाव संक्रान्त न हो यह कैसे हो सकता है ?

इन्द्र महाराजा कहते हैं - "भगवन् ! वहां स्थित आप, यहां स्थित मुझे देखें।" भगवान तो देखते ही हैं, परन्तु ऐसा कहने से कहने वाले का उपयोग प्रभुमय बनता है।

* भक्त को सदा लगता है - बोधि एवं समाधि सबको मिले, क्योंकि मेरे भगवान का ऐसा मनोरथ था। भगवान का मनोरथ सिद्ध हो, ऐसा कौन सा भक्त नहीं चाहता ?

* द्वादशांगी अर्थात् रत्न-करंडक, गणिपिटक।

इन आगमों के टोकरे में, इस पेटी में सम्पूर्ण मोक्ष-मार्ग है। इन आगमों को पढ़ने-पढ़ाने से, तदनुसार जीवन जीने से प्रभु के मार्ग को आगे चलाने में हम निमित्त बनते हैं।

आगमों के अनुसार जीवन जीने से ही सच्ची परम्परा चलती है। इसी लिए ज्ञानी एवं क्रियावान ही स्वयं तरते हैं और दूसरों को तारते हैं, ऐसा कहा है।

* समुद्र चाहे जितना भयंकर हो अथवा चाहे जितना बड़ा हो, परन्तु मजबूत स्टीमर में बैठनेवाले को भय नहीं होता कि मैं

किस प्रकार उस पार पहुँचूंगा ?

संसार चाहे जितना भयंकर हो, परन्तु इस तीर्थ के जहाज में बैठने वाले को भय कैसा ?

‘बापलडां रे पातिकडां तुमे शुं करशो हवे रहीने रे ?

श्री सिद्धाचल नयणे जोतां, दूर जाओ तुमे वहीने रे ।’

इस तीर्थ की स्पर्शना का सबसे बड़ा लाभ यह है कि हमें भव्यत्व की छाप लगी । दुर्भव्य तो उसकी स्पर्शना पा सकता नहीं है ।

दूसरा लाभ - दुर्गति का भय गया ।

तीसरा लाभ - समकित मिला ।

इस शाश्वत गिरिराज की स्पर्शना जैसा उत्तम निमित्त मिलने पर भी समकित नहीं मिले तो हो चुका ।

* शङ्कर में मधुरता, वस्त्र में सफेदी अभेद भाव से है, उस प्रकार आत्मा में गुण अभेद भाव से विद्यमान हैं । ज्ञान, आनन्द आदि गुण अपने भीतर ही अभेद भाव से हैं, फिर भी हम उन्हें पराये मानते हैं और पराये वर्ण, गंध आदि को अपना मानते हैं । यही मोह है, यही अविद्या है ।

गुरु ने तो केवल पहचान के लिए नाम दिया, परन्तु हम तो उस नाम को ‘मैं’ मान बैठे । उसकी कोई प्रशंसा करे तो प्रसन्न, निन्दा करे तो अप्रसन्न हो जाते हैं । नाम से पर मेरा अस्तित्व है, यह बात ही भूल गये ।

* साधना हमें लागू नहीं पड़ती क्योंकि हमने भगवान की शरण स्वीकार नहीं की है ।

वानर-शिशु मां को लिपट कर रहता है और मां जहां जाती है वहां पहुँच जाता है । यह ज्ञानी का प्रभु को समर्पण है, ज्ञानी प्रभु को पकड़ता है ।

मार्जार-शिशु को बिल्ली (मार्जारी) मुंह में पकड़ कर ले जाती है ।

यह भक्त का प्रभु को समर्पण है, भक्त को भगवान पकड़ते हैं । प्रभु को कह दें - अन्यथा शरणं नास्ति ।

तारोगे तो आप ही तारोगे, मुझे अन्यत्र कहीं भी नहीं जाना है ।

‘देशो तो तुमहि भलुं, बीजा तो नवि याचूं रे ।’

* कहीं कविने आदिनाथ प्रभु को उपालम्भ देते हुए कहा है - प्रभु ! आपने अपनी माता, पुत्रों एवं पौत्रों आदि सबको मोक्ष दिया है, मुझे क्यों नहीं ? क्या यह पक्षपात नहीं है ?

भक्त चाहे उपालम्भ की भाषा में कहे परन्तु किसी भगवान ने कहीं भी कदापि पक्षपात किया ही नहीं है । मरीचि पौत्र था, फिर भी उसे कहां तारा ? सत्य कहूं तो हमारी तरने की जितनी इच्छा है, उससे कई गुनी अधिक भगवान को तारने की इच्छा है ।

ॐ ॐ ॐ

मन की नौ शक्तियां

१. धैर्य
२. तर्क-वितर्क में निपुणता
३. स्मरण
४. भ्रान्ति
५. कल्पना
६. क्षमा
७. शुभ संकल्प
८. अशुभ संकल्प
९. चंचलता ।

- महाभारत शान्ति पर्व

यों तो यह आनन्द अपार्थिव है, भौतिकता से परे है, फिर भी सब मनुष्य समझ सकें, अतः भगवान ने साधु के प्रारम्भ के एक वर्ष के सुख की देवलोक के सुख के साथ तुलना की है। फिर तो साधु का सुख इतना बढ़ जाता है कि अनुत्तर देवों का सुख भी कहीं पीछे रह जाता है।

* ज्यों ज्यों लेश्याएं विशुद्ध होती जाती हैं, त्यों त्यों जीवन में मधुरता (बहुत से साधक कहते हैं “मुझे आज मीठाश का अनुभव हुआ, ये मीठाश लेश्या के पुद्गल से जनित समझना, उत्तराध्ययन में जगत के उत्तम मधुर पदार्थों जैसी मधुरता लेश्याओं की कही है) बढ़ती जाती है। ज्यों ज्यों लेश्याएं अशुद्ध बनती हैं, त्यों त्यों जीवन में कटुता बढ़ती जाती है।

ऐसे निरन्तर बढ़ते परिणाम वाले साधुओं से ही यह जगत् टिका हुआ है। अपने जंबूद्वीप से दुगुना बड़ा लवण समुद्र जंबूद्वीप को डुबाता नहीं है, यह ऐसे साधुओं का प्रभाव है।

भगवान तो जगत् के नाथ हैं ही, परन्तु उनके ऐसे उच्च साधु भी जगत् के नाथ बनते हैं, क्योंकि परमात्मा की झलक उनकी आत्मा में उतरी है, प्रभु का प्रभाव उनमें उतरा है।

ऐसे मुनियों को ‘करुणासिन्धु’ कहा है। आप गृहस्थ लोग दीन-दुःखियों को देख कर पैसों आदि द्रव्य पदार्थों का दान करते हो, परन्तु साधु किस वस्तु का दान करते हैं।

अप्रमत्त गुणस्थानक में रहे साधु मात्र प्रभु के ध्यान में बैठे हों तो भी जगत् का उत्कृष्ट कल्याण होता ही रहता है। इसके लिए न तो वासक्षेप की आवश्यकता होती है, न आशीर्वाद की आवश्यकता होती है।

* साधु जगत् का कल्याण करते हैं, उसमें भी भगवान का ही प्रभाव कार्य कर रहा है। अरिहंत के ध्यान में रहने वाला ही साधु कहलाता है। ऐसे साधु, उपाध्याय या आचार्य को किया गया नमस्कार भी समस्त पापों का नाशक होता है। नवकार में लिखा है -

“एसो पंच नमुक्कारो । सव्व पावप्पणासणो ।”

इन पांचों का नमस्कार सभी पापों का नाश करने वाला है।

* मृत्यु के समय सब भूल जाओगे; जब नसें खिंच रही हों, अंतडियों में तनाव हो, भयंकर वेदना हो तब नवकार के अतिरिक्त अन्य कुछ भी याद नहीं आ सकता । उस समय चौदह पूर्वधर भी अन्य सब छोड़ कर नवकार की शरण में जाते हैं ।

नवकार को भावित बनाई होगी तो ही अन्त समय में याद आयेगी । बार-बार भावपूर्वक रटने से ही नवकार भावित बनती है । इसीलिए मैं नवकारवाली (माला गिनने) की सौगन्ध देता रहता हूँ ।

आग में जलते घर में से वणिक रत्नों की पोटली लेकर शीघ्र निकल जाता है, उस प्रकार मृत्यु के समय जलती देह में से नवकार रूपी रत्नों की पोटली लेकर हमें निकल जाना है ।

अत्यन्त सावधानी रखनी पड़ेगी । यह सावधानी भगवान की कृपा से ही मिलेगी ।

* यदि भगवान आपके हृदय में रह गये तो चाहे जितना मोह का तूफान आपकी जीवन-नैया नहीं डुबा सकेगा ।

‘तप-जप मोह महातोफाने,

नाव न चाले माने रे;

पण नहीं भय मुज हाथोहाथे,

तारे ते छे साथे रे ।’

अमेरिका के समान महासत्ता का पीठ-बल हो उसे छोटे-छोटे देश परेशान नहीं कर सकते, उस प्रकार जिसे प्रभु का पीठ-बल मिला हो, उसे मोह परेशान नहीं कर सकता ।

“इक्को मे सासओ अण्णा, नाण-दंसण-संजुओ ।

सेसा मे बाहिण भावा, सव्वे संजोग-लक्खणा ॥ १६१ ॥”

यह गाथा यहां आई है, जो हम नित्य संथार पोरसी में बोलते ही हैं ।

मृत्यु की तिथि, वार (दिन), माह, वर्ष अथवा कोई समय निश्चित नहीं है । वह चाहे जब आ सकती है । साधु मृत्यु के स्वागतार्थ सदा तैयार रहता है - ‘आ मृत्युदेव ! मैं तेरा स्वागत करने के लिए तैयार हूँ । संसार के अन्य लोग तुझसे डर कर दूर भागते होंगे, परन्तु मैं ऐसा नहीं हूँ । आ मित्र ! मैं हृदय से

तेरा आर्लिगन करना चाहता हूं । मैं तेरी आंखों में आंखें डाल कर तुझे पहचानना चाहता हूं ।’

इस प्रकार साधु मृत्यु के लिए सदा तैयार ही होता है ।
संधारा पोरसी अर्थात् मृत्यु की तैयारी ।

देह का नाश है, मेरा कहां नाश है ?

देह अनित्य है, मैं तो नित्य हूं ।

‘सडण-पडण’ पुद्गल का लक्षण है, मेरा नहीं । मैं तो अक्षय-अविनाशी आत्म-तत्त्व हूं । पुद्गलों के लक्षणों से मेरे लक्षण सर्वथा भिन्न हैं ।

देह जले उसमें मेरा क्या ? शरीर साधना में सहायक बना यह सही है, अन्यथा शरीर ‘पर’ है ।

देह यदि छूट जायेगा तो भी चिन्ता किसकी ? मोक्ष नहीं मिले तब तक देह तो पुनः-पुनः मिलने वाला ही है । बस, इतनी ही अपेक्षा रहती है । जब यह देह छूट रहा हो तब हृदय में प्रभु का स्मरण होता हो, नवकार का रटन होता हो ।

शशीकान्तभाई - आपके और हमारे बीच अत्यन्त दूरी न हो जाये ।

पूज्यश्री - इतने समीप तो आप आ गये हैं । अब भी समीप आओ तो कौन रोकता है ?

कौन समीप, कौन दूर ? इसका निर्णय कौन करेगा ? सुलसा दूर थी, तो भी निकट थी । गोशाला निकट था तो भी दूर था ।

पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. की अन्तिम अवस्था थी । हम अन्त में उन्हें पाटन में मिले । पूज्यश्री का स्वास्थ्य देखकर यों तो रुक जाने की ही इच्छा हुई, परन्तु वि. संवत् २०३६ का बेड़ा का कार्यक्रम निश्चित हो गया था, अतः जाना पड़ा । बेड़ा से लौटते समय प्रथम मासिक तिथि पाटन में थी । अन्य सभी भक्त रूदन कर रहे थे और कहते थे - अब क्या होगा ? परन्तु मैंने कहा - ‘पू. पं. न्यासजी म. गये, यह बात ही मिथ्या है । वे तो भक्तों के हृदय में बिराजमान हैं ।’

विशेषावश्यक में लिखा है कि जिस शिष्य के हृदय में गुरु हैं, उसको कभी वियोग होता ही नहीं है । गुरु की सभी शक्ति

वैसे शिष्य में संक्रान्त हो जाती है । यही बात भगवान पर भी लागू पड़ती है ।

* देह के प्रति राग अधिक या भगवान के प्रति राग अधिक ? चाहे जितना देह को कष्ट पड़े, परन्तु भगवान का राग छूटना नहीं चाहिये । (यद्यपि मेरी ऐसी साधना नहीं है, मैं तो केवल कहता हूं ।)

* “राग भरे जन-मन रहो, पण तिहु काल वैराग;

चित्त तुमारा रे समुद्रनो, कोई न पामे रे ताग...”

हे प्रभु ! लोग कहते हैं, आप वीतराग हैं, तो भी आप भक्तों के मन में रहते हैं । क्या यह राग नहीं कहलाता ? प्रभु ! आपका चित्त तो समुद्र है, इसका ताग कौन पा सकता है ?

“औदासीन्येऽपि सततं, विश्व विश्वोपकारिणे ।

नमो वैराग्य निघ्नाय, तायिने परमात्मने ॥”

भगवान उदासीन हैं, वीतराग हैं, इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान पत्थर जैसे कठोर बन गये । भगवान फूल से भी कोमल हैं । वीतराग होने पर भी ये परम वात्सल्य के भंडार हैं । अनेकान्तवाद की दृष्टि से परस्पर विरोधी गुणधर्म भी समा सकते हैं ।

भगवान वीतराग हैं, फिर भी रागी के हृदय में वास करते हैं । संसार का राग बुरा है । धर्म-राग, भक्ति-राग तो अत्यन्त ही श्रेष्ठ हैं ।

भगवान को कहते हैं न ?

“जिणंदराय ! धरजो धर्म-स्नेह ।”

भगवती सूत्र में उल्लेख है - “हंता गोयमा ।” गौतम स्वामी को उतर देते हुए भगवान कहते हैं - ‘हन्त’ शब्द प्रीति वाचक भी है, टीकाकार ने यह कहा है । वीतराग में प्रीति कहां से आई ? यह प्रीति भगवान की करुणा एवं वत्सलना व्यक्त करती है ।

पलना दूर है, परन्तु डोरी माता के पास है । हमारे अन्तर की डोर भगवान के साथ जुड़ी हुई होनी चाहिये । रोता हुआ बच्चा माता की डोरी हिलाने मात्र से शान्त हो जाता है । भक्त भगवान के स्मरण मात्र से शान्त हो जाता है ।

भक्त को अनुभव होता है कि भगवान मुझे बुला रहे हैं, मेरा आर्तिगन कर रहे हैं । प्रभु मेरे अंग-अंग में फैल रहे हैं ।

उपा. यशोविजयजी का यह स्वानुभव असत्य तो नहीं होगा ।

पू.पं. भद्रकरविजयजी म. भले भौतिक देह से उपस्थित नहीं है, परन्तु वे गुण-देह से उपस्थित हैं । भौतिक देह तो भगवान का भी स्थिर नहीं रहता ।

भरतक्षेत्र के मनुष्यों का क्या ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में सीमंधर स्वामी ने इस शाश्वत गिरिराज को परम आलम्बन-भूत गिनाया है ।

इस गिरि की स्पर्शना, अर्थात् अनन्त सिद्धों की स्पर्शना ।

गिरिराज पर मन्दिरों की श्रेणि अर्थात् केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी का स्थान (आवासः केवलश्रीणाम्) कहा है । यहां पूजा करने वाला गृहस्थ दक्षि नहीं होता ।

अनेक व्यक्ति कहते हैं - जैन इतने धनाढ्य क्यों हैं ? वे जान लें कि जैन भगवान की पूजा छोड़ते नहीं हैं । पूजा नहीं छूटती वहां से लक्ष्मी भी नहीं छूटती । पूजा पुन्य का परम कारण है । लक्ष्मी पुन्य से बंधी हुई है ।

‘दुर्ग धर्म - नरेशितुः ।’

यह मन्दिर-श्रेणि अर्थात् धर्म राजा का किला । चित्तौड़गढ़ का किला (आज भी यह किला विद्यमान है, हम वहां गये भी हैं ।) देखा है न ? वहां गये हुए को शत्रु का भय नहीं होता ।

मन्दिर में मोह का भय नहीं सताता । यह तो मन्दिर के बाहर निकल कर जहां आप जूते पहनते हैं वहीं उसमें छिपे मोह के गुण्डे आपके हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं ।

मन्दिर में जाकर भगवान के साथ पूर्णतः एकाकार हो कर देखें । इस काल में भी आप समाधि तक पहुंच सकते हैं ।

‘क्षेत्रं सुबुद्धि - बीजानाम् ।’

भगवान का मन्दिर अर्थात् सदबुद्धि के बीज को बोने का खेत । बीज बोया हुआ हो तो उगेगा ही ।

‘निधानं ध्यान - सम्पदाम् ।’

जिनालय ध्यान की सम्पत्ति का निधान है ।

इसका अनुभव करना हो तो ओसिया, सेवाड़ी आदि स्थानों

✦ ✦ ✦

करुणामय चित्त
मधुरतायुक्त वचन
प्रसन्नतायुक्त दृष्टि
क्षमायुक्त शक्ति
श्रुतयुक्त मति
दानयुक्त लक्ष्मी
शीलयुक्त रूप
नम्रतायुक्त श्रुत
कोमलतायुक्त सत्ता



मनफरा प्रतिष्ठ, वि.सं. २०२३, वै.सु. १०

३-७-२०००, सोमवार
आषाढ़ शुक्ला-२ : पालीताणा

(आज प्रातः गिरिराज पर पूज्यश्री की निश्रा में दादा के दरबार में अभिषेक कराये गये । शशीकान्तभाई ने मेघराजा को प्रार्थना की । श्रेणिकभाई भी वहां आये थे । मध्याह्न में मेघराजा रीझे भी सही । कल भी रीझे थे ।)

* भगवान की आज्ञा का पालन करने से उनकी अचिन्त्य शक्ति का अनुभव होता है । उदाहरणार्थ-गणधर भगवन्त । उन्होंने जहां बिना शर्त के समर्पण किया, वहीं सम्यग्दर्शन आदि पाकर सर्वविरति तो प्राप्त की हीं । त्रिपदी के श्रवण मात्र से अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांगी की भी रचना की ।

तीर्थकर नाम-कर्म की तरह गणधर नाम-कर्म का भी उदय होता है । उनका यह उदय उस समय हुआ था ।

भगवान के पश्चात् देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण तक, एक हजार वर्षों तक आगमों का पाठ मुखपाठ से चलता रहा । उसके बाद आगम पुस्तकों में आये । पुस्तकों की आवश्यकता बढ़ती हुई बुद्धिहीनता की सूचक थी ।

* आदिनाथ महाकाव्य के रचयिता कवि धनपाल को राजा

भोजने कहा था - इसमें अयोध्या के स्थान पर धारा, आदिनाथके स्थान पर शंकर और भरत के स्थान पर भोज - इतना परिवर्तन करें ।

धनपाल के स्वीकार नहीं करने पर राजा ने पुस्तक को भस्मीभूत की । कवि-पुत्री तिलकमंजरी की स्मरण-शक्ति से उक्त ग्रन्थ पुनर्जीवित हुआ । पुत्री के नाम से ही उक्त ग्रन्थ का नाम 'तिलक मंजरी' पड़ा ।

हमारे 'ध्यान-विचार' ग्रन्थ का भी ऐसा ही हुआ था । वि. संवत् २०३८ में उज्जैन में प्रेसवाले ने हस्तप्रत खो दी ।

मुझे लगा - होगा, भगवान की वैसी इच्छा होगी । उसमें भी कोई शुभ संकेत होंगे । पुस्तक जैसी लिखी जानी चाहिये, वैसी नहीं लिखी गई होगी ।

हमने पुनः लिखना प्रारम्भ किया ।

पहले से भी सुन्दर ढंग से लिखी जाकर, 'ध्यान-विचार' के नाम से प्रकाशित हुई ।

पुस्तक भले उपाय है, परन्तु सब पुस्तक के भरोसे नहीं रहना चाहिये ।

* मोक्ष में तो जाना है, परन्तु अभी नहीं ।

दीक्षा तो ग्रहण करनी है, परन्तु अभी नहीं ।

अधिकतर लोगों की मानसिकता ऐसी होती है । उनके ऐसे विचारों में ही सम्पूर्ण जीवन पूरा हो जाता है ।

शुभ विचारों को कदापि स्थगित न रखें, अशुभ विचारों को सदा स्थगित रखें ।

* इस समय पैतालीस आगमों में से एक 'चंदाविज्झय' ग्रन्थ वाचना में चलता है । इस ग्रन्थ में मुक्ति-प्राप्ति के श्रेष्ठ उपाय बताये गये हैं । अभी समाधि-मरण का विषय चलता है ।

मृत्यु, समाधि-मृत्यु कब बनती है ? जब अपना हृदय निःशल्य बने, अटारह पाप-स्थानकों से मुक्त बने । अटारहों पाप मोक्ष-मार्ग के संसर्ग के विघ्नभूत कहे गये हैं - 'मुखमग्गसंसग्गविग्घभूआइं ।'

यह दूर किये बिना अपना मार्ग कदापि मुक्तिगामी नहीं बन सकता । अटारहों पाप प्रायः मोहनीय कर्म-जन्य हैं । मोह का

त्याग करना है ।

* आश्रव से दूर हो जाओ ।

संवर में स्थिर बनो ।

यही एकमात्र प्रभु की मुख्य आज्ञा है । सम्यग् दर्शन आते ही विचारों में एकदम स्पष्टता आ जाती है और कोई भी कार्य करने से पूर्व वह सोचता है - यह मेरे भगवान की आज्ञा है ? मैं आज्ञा में हूँ या आज्ञा से बाहर हूँ ?

इतना ही विचार आपको अनेक अकार्यों से रोक देगा ।

* शरणागति, दुष्कृत-गर्हा, सुकृत-अनुमोदना-आराधना के ये तीन सोपान मोह हटाने के लिए श्रेष्ठ उपाय हैं ।

“शरीर ये मैं, शरीर के साथ जुड़े हुए मकान, दुकान, परिवार आदि मेरे” ऐसी वृत्ति मोह की ओर से मिला हुआ ‘लाग’ है । उसे तोड़ने के लिए उससे विपरीत भावना चाहिये ।

मैं अर्थात् आत्मा ।

मेरा अर्थात् ज्ञान आदि गुण ।

मोह को जीतने का यह प्रतिमंत्र है ।

अब तक सदा मोह जीतता रहा है । हम हारते रहे हैं । अब मोह को हराना है ।

* कल प्रश्न था - “महाराज ! कल अभिषेकों का कार्यक्रम रखा है । वर्षा होती रही तो गिरिराज पर कैसे जा सकेंगे ?” मैंने कहा, “भगवान की इच्छा होगी वैसे होगा । आज आपने देखा न ? प्रातः तीन बजे तक वर्षा चालु थी, परन्तु उसके बाद बंद हो गई । ऊपर आराम से जा सके और नीचे भी आ गये । तब तक एक बूंद भी नहीं गिरी, बाद में पुनः वर्षा शुरू हो गई ।

भगवान अपनी इतनी संभाल लेते हों तो हमें चिन्ता करने की क्या आवश्यकता ?

“सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव”

हम भगवान के लिए यह मान बैठे कि भगवान मोक्ष में गये अतः समाप्त । निष्क्रिय बन गये, परन्तु उनकी परोपकारता, उनकी करुणा अब भी कार्य करती है । इस बात पर कदापि विचार करते ही नहीं हैं ।

भक्तामर में लिखा है - “त्वामव्ययं ।”

इन विशेषणों से भगवान की शक्ति व्यक्त हुई है ।

सत्य बात यह है कि भगवान् अपना सच्चा स्वरूप भक्त को ही बताते हैं । दूसरे बैठे हवा खाते हैं ।

“वेधकता वेधक लहे,
बीजा बैठा वा खाये ।”

- पं. वीरविजयजी म.सा.

* तांबे या स्वर्ण पर स्वर्ण सिद्धि का रस गिरने पर स्वर्ण बन जाता है, ऐसा कहा जाता है । भगवान की भक्ति का रस अपने हृदय में जाये तो अपनी पामर आत्मा परम बन जाती है ।

भगवान के गुणों के प्रति प्रेम ही वेधक-रस समझें । जिसमें इतना भक्ति-रस उत्पन्न हुआ हो वह अवश्य ही भगवत्ता प्राप्त करेगा ।

* योगदृष्टि समुच्चय में कहा है -

गुरु-भक्ति प्रभावेन, तीर्थकुद्दर्शनं मतम् ।

समापत्यादि भेदेन, निर्वाणैक निबन्धनम् ॥

गुरुभक्ति के प्रभाव से समापत्ति आदि से मोक्ष का एक कारण तीर्थंकर प्रभु का दर्शन होता है ।

इसी बात को पंचसूत्र में इस प्रकार कही गई है -

“गुरु-बहुमाणो मोक्षो ।”

समापत्ति अर्थात् प्रभु के साथ सम्पूर्ण रूप से तन्मय हो जाना । गुरु-भक्ति के बिना समापत्ति नहीं आती ।

परोक्ष रहे भगवान को प्रत्यक्ष रूप से बताने वाले गुरु हैं । ध्यानस्थ दशा में शिष्य को भगवान के दर्शन होते हैं । अर्थात् ध्यान के द्वारा वह प्रभु के गुणों का स्पर्श करता है ।

ऐसे पदार्थ हमारे समक्ष पड़े हों फिर भी उनमें हमारा चित्त नहीं लगता, अन्यत्र सब जगह फैला हुआ है, यह हमारी करुणता है ।

* “एगो मे सासओ अप्पा ।” यह शुद्ध निश्चय नय का ज्ञान मोह की मूल काटता है । ऐसी भावना से अपना आत्मत्व जाग उठता है । बकरी की तरह ‘बें-बें’ करने वाला सिंह अब

गर्ज उठता है, उसे होता है कि मैं अर्थात् परम, पामर नहीं । मैं अर्थात् सिंह, बकरी नहीं ।

ऐसी गर्जना सुनते ही सर्व प्रथम ग्वाला (मोह) भागता है । फिर बकरियां (अन्य कर्म प्रकृतियां) भी भाग जाती हैं ।

आत्मा जगती है,

मोह भागता है -

केवल एक गर्जना की आवश्यकता है ।

भक्ति में लीन बने बिना सिंहत्व याद नहीं आता । यह सब कहना - बोलना - लिखना - सुनना सरल है, परन्तु उसे भावित बनाना अत्यन्त ही कठिन है । इसीलिए मैं सदा ज्ञान को भावित बनाने पर बल देता हूँ ।

* साधना का प्रारम्भ छः आवश्यकों से होता है ।

जीवन के आवश्यकता की मुख्य तीन वस्तु हैं - हवा, पानी और भोजन । आध्यात्मिक जीवन की मुख्य छः वस्तुएँ हैं -

सामायिक, चउविसस्थो, वांदने, प्रतिक्रमण, काउस्सग और पच्चक्खाण ।

हमने प्रतिक्रमण किया, जिससे मान लिया कि छः आवश्यक हो गये । वास्तव में ऐसा नहीं है, हमारे चौबीसों घंटे छः आवश्यकमय होने चाहिये । प्रतिक्रमण तो केवल उसका प्रतीक है ।

प्रथम आवश्यक सामायिक ।

सामायिक अर्थात् समता ।

समस्त जीवों पर समत्व एवं समस्त पदार्थों (निन्दा अथवा स्तुति, पत्थर या स्वर्ण) पर समान भाव रखे बिना सामायिक प्रकट नहीं होती ।

* दोष बताने वाले पर अप्रसन्न न हों, प्रसन्न हों । निन्दक तो उपकारी है, जो बिना पैसे आपका मैल धो डालता है । धोबी तो पैसे लेता है । आपकी प्रशंसा करनेवाला तो आपके शुभ कर्मों का नाश करता है, परन्तु निन्दक तो अशुभ कर्मों का नाश करता है । दोनों में अधिक उपकारी कौन है ?

निन्दा-स्तुति में समान भाव आये बिना सामायिक नहीं आती ।

दूसरा आवश्यक है चउविसस्थो ।



पू. यशोविजयसूरिजी के साथ, पालिताना, वि.सं. २०५६

४-७-२०००, मंगलवार
आषाढ़ शुक्ला-३ : पालीताणा

* पयन्ना अर्थात् प्रकीर्णक । आप की भाषा में कहूं तो परचुरण । आगमों में आये हुए परचुरण विषयों का समावेश इन पयन्नाओं में हुआ है । यह कहा जाता है कि भगवान महावीर के चौदह हजार शिष्यों में से प्रत्येक शिष्य ने पयन्ना की रचना की है ।

* बरसात आनेवाला हो उसके लक्षण पहले से मालूम हो जाते हैं । हमें पता लग जाता है कि अब बरसात आयेगा ही । उस प्रकार मोक्ष प्राप्त होने वाला हो उसके चिन्ह भी पहले से मालूम हो जाते हैं, जीवन-मुक्ति आती ही है ।

बिजली की चकाचौंध, बादलों की गर्जना, वातावरण में गर्मी को दूर करते वायु की सनसनाहट आदि से जाना जा सकता है कि अभी ही वृष्टि होगी । वि. संवत् २०१९ में गांधीधाम के चातुर्मास मे सायं बाहर जाने के लिए निकला, मेघाडम्बर देख कर मैंने जाने का विचार बन्द कर दिया । दो-चार मिनटों में ही वृष्टि प्रारम्भ हो गई ।

भगवान की कृपा-वृष्टि होने वाली हो उससे पूर्व जीवों में

अमुक गुण चिन्हों के रूप में दिखाई देते हैं । जैसे नयसार को समकित मिलने वाला था, उससे पूर्व अतिथि को भोजन कराके भोजन करने का मन हुआ । हाथी मेघकुमार बनने वाला था, उससे पूर्व शशक को बचाने की उसकी इच्छा हुई ।

* मोक्ष की रुचि हुई है ऐसा कब माना जाता है ? जब मोक्ष के उपायों के प्रति रुचि जागृत हो तब । केवल शाब्दिक रुचि नहीं चलती, हार्दिक रुचि चाहिये । यहां जीवनमुक्ति मिले उसे ही भवान्तर में सिद्धशिला की मुक्ति मिलती है ।

भगवान् द्वारा प्रदत्त इस चारित्र में जीवनमुक्ति प्रदान करने का सामर्थ्य है ।

* भगवान् के तत्त्वों के प्रति श्रद्धा, सर्वत्र औचित्य, सब के प्रति मैत्री यह अध्यात्मयोग है । उसके बाद भावना, ध्यान, समता एवं अन्त में वृत्ति-संक्षेप रूप योग आता है ।

चारित्रवान् में ये पांचो योग अवश्य होते ही हैं ।

* गृहस्थों की शय्या अर्थात् निद्रा ।

साधु का संधारा अर्थात् समाधि ।

योगी को नींद में भी समाधि होती है, यह समझना रहा । समाधि ध्यान के बिना नहीं आती ।

पूर्वकाल में अपने मुनि ध्यान के प्रयोग करते रहते थे । ध्यान-विचार के २४ ध्यान के भेद पढ़ने से यह ज्ञात होता है ।

यह ध्यान दो प्रकार से होता है - भवन एवं करण के द्वारा । सम्यग्दर्शन भी दो प्रकार से मिलता है - निसर्ग एवं अधिगम से ।

भवन (निसर्ग) अर्थात् सहज ही ।

करण (अधिगम) अर्थात् देशना-श्रवण आदि के पुरुषार्थ से ।

यह लक्ष्य हम चूक गये, अतः ध्यान हमें अजनबी वस्तु प्रतीत होती है । अत्यन्त निकट काल में हो चुके पं. वीरविजयजी, चिदानंदजी आदि की कृतियां पढ़ेंगे तो ध्यान-समाधि आदि की झलक देखने को मिलेगी । देखो, पं. वीरविजयजी म. गाते हैं -

“रंग रसिया रंग-रस बन्यो मनमोहनजी,

कोई आगल नवि कहेवाय;

वेधकता वेधक लहे मनमोहनजी,
बीजा बैठा वा खाय..."

ध्यान-दशा में समाधि की झलक की अनुभूति के बिना ऐसी कृति संभव नहीं थी ।

ग्रन्थ अर्थात् ग्रन्थकार का हृदय ।

ग्रन्थ मिला अर्थात् उन महात्मा का संग मिला ।

ग्रन्थ के माध्यम से आज भी हम हरिभद्रसूरि, उपा. यशोविजयजी आदि महापुरुषों का संग कर सकते हैं ।

* व्यापारी व्यापार की सिर-पच्ची करे, परन्तु सायं लाभ प्राप्त करे । क्या हमें ध्यान अथवा समता का लाभ मिलता है ? क्या हमारी क्रियाएँ अंधेरे में किये गये गोलीबार जैसी नहीं हैं ?

कोई भी एक योग ऐसा पकड़ लो जो आपको समाधि तक ले जाये । याद रहे, प्रत्येक जिनोक्त अनुष्ठान में यह शक्ति है । शक्र के प्रत्येक दाने में मधुरता है, उस प्रकार प्रत्येक जिन-वचन में समाधि का माधुर्य है ।

"सूत्र अक्षर परावर्तना, सरल शेलडी दाखी;

तास रस अनुभव चाखिये, जिहां छे एक साखी ।"

- उपा. यशोविजयजी म.सा.

कल्पना के चम्मच से शास्त्रों के दूधपाक का स्वाद नहीं मिलता । उसके लिए अनुभव की जीभ ही चाहिये । केवल पठन-पाठन से तृप्त न बनें । ठेठ अनुभव तक पहुंचने की तमन्ना रखें ।

आपको यह भी ध्यान रहे कि विहित अनुष्ठान छोड़कर आप अनुभव तक नहीं पहुंच सकेंगे । अनेक व्यक्ति अनुभव प्राप्ति की धुन में प्रतिक्रमण आदि अनुष्ठान छोड़ देते हैं । यह अत्यन्त ही खतरनाक कदम है ।

देखो, उपा. यशोविजयजी म. कहते हैं -

"उचित व्यवहार अवलंबने, एम करी स्थिर परिणाम रे;

भावीए शुद्ध नय भावना, पावनासय तणुं ठाम रे..."

पहले उचित व्यवहार, बाद में ही निश्चय, अन्यथा राजचन्द्र

के अथवा कानजीभाई के भक्तों जैसी दशा होती है । चाहे जितना अनुभवी योगी भी गुरु-सेवा आदि का त्याग नहीं करता । पूज्य हेमचन्द्रचार्य कृत योगशास्त्र का बारहवां प्रकाश पढ़ेंगे तो गुरुकृपा का महत्त्व समझ में आयेगा ।

निश्चय आने पर व्यवहार छोड़ देने की भूल अनेक व्यक्ति करते होते हैं । यह अत्यन्त फिसलने का मार्ग है । इसीलिए उपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने स्थान-स्थान पर उसके सामने लालबत्ती धर कर अपनी उत्कृष्ट गीतार्थता सिद्ध की है ।

* सीर के लिए परिश्रम करती है मां, फिर भी बालक भी मां के समान ही सीर का स्वाद ले सकता है, तनिक भी अन्तर नहीं ।

महापुरुष श्रम करके हमें सारभूत तत्त्वज्ञान प्रदान करते हैं । हमें बिना प्रयत्न के वह प्राप्त होता है ।

ऋषभदेव ने हजार वर्षों तक श्रम करके जो केवलज्ञान प्राप्त किया, वह केवलज्ञान मरुदेवी ने कुछ ही क्षणों में प्राप्त कर लिया ।

* आजकल भगवती में जमालि का अधिकार चलता है । जमालि को लगता है 'कडेमाणे कडे' भगवान की यह बात बराबर नहीं है । 'कडे कडे' ही बराबर है ।

इसमें उसे इतना अभिमान आ जाता है कि ऐसा चिन्तन करने वाला मैं ही जगत् में प्रथम हूँ ।

वह स्वयं को सर्वज्ञ मानने लगता है । भगवान के समक्ष भी वह स्वयं को 'सर्वज्ञ' घोषित करता है ।

यह है मिथ्यात्व ! ऐसे मिथ्यात्व के कारण ही हम हार चुके होंगे । कितनी ही बार हमें 'महावीर' मिले होंगे, परन्तु हम 'जमालि' बने होंगे । कदाचित् 'जमालि' भी नहीं । जमालि का तो १५ भवों में ठिकाना पड़ जायेगा । अपना कहाँ पड़ा है ?

अपनी साधना में अभिमान आदि सब बड़े भय-स्थान हैं । किसी स्थान पर साधक डूब न जाये, फंस न जाये, उस की सावधानी पूर्वक 'ज्ञानसार' की रचना हुई है । साधक कहीं भी मध्यस्थता नहीं खोये, कहीं आत्म-प्रशंसा में न सरके, कदापि कर्म के भरोसे न रहे । उसके लिए एक-एक अष्टक की रचना हुई है ।

अन्त में सर्व नयाष्टक है, जिसमें समस्त नयों का आदर करने का विधान है । समस्त नयों का समादर अर्थात् समस्त विचारों का उन उन स्थानों पर समादर ।

* 'इच्छो मे सासओ अप्पा ।'

मेरा एक आत्मा शाश्वत है । वह ज्ञान-दर्शन आदि से युक्त है । इसके अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई पदार्थ नहीं है जो मेरा हो ।

दिखाई देने वाले समस्त पदार्थ 'पर' हैं । 'मैं' नहीं हूं । 'मैं' (आत्मा) हूं जो दिखाई नहीं देता ।

इतनी छोटी बात भूल जाने से ही जीव को चार गति में भटकना पड़ता है ।

देह में अपनत्व की बुद्धि हमें देह के साथ जोड़ती है, पुनः पुनः हमें देह प्रदान करती है । ज्यों ज्यों देहाध्यास टूटता जाता है, त्यों त्यों मानें कि देह से मुक्त अवस्था (मोक्ष) निकट आ रही है ।

* 'ज्ञानसार' के प्रथम ही श्लोक में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आप पूर्ण हैं, पूर्णता आप की अपनी है । भगवान् भी आपको पूर्ण रूप में देखते हैं । करुणा यह है कि आपको ही अपनी पूर्णता पर विश्वास नहीं है ।

प्रत्येक अष्टक में एक एक विषय लिया गया है । हम अध्ययन कर लेते हैं, परन्तु सब ऊपर-ऊपर से होता है, स्थिरतापूर्वक हम गहराई में नहीं उतरते ।

भय, द्वेष, एवं खेद - ये तीन दोष हों तब तक चित्त चंचल रहता है । द्वेष से घृणा रहती है और खेद से थकान आती है । चंचलता, घृणा एवं थकानपूर्वक किया गया अध्ययन आपको कितना फल देगा ? यह तो आप ही सोच कर देखें ।

* अपूर्ण दृष्टि अपूर्ण देखती है ।

पूर्ण दृष्टि पूर्ण देखती है ।

काले चश्मे से काला दिखाई देता है ।

पीले चश्मे से पीला दिखाई देता है ।

अनेक भक्त कहते हैं - मुझे सर्वत्र भगवान् दिखाई देते हैं,

जो ऐसी पूर्ण-दृष्टि के कारण ।

सृष्टि नहीं बदलती । सृष्टि तो वैसी ही रहती है, परन्तु हमारी देखने की दृष्टि बदलती है । ज्यों ज्यों दृष्टि बदलती रहती है त्यों त्यों सृष्टि भी बदलती रहती है । सृष्टि का आधार हमारी दृष्टि पर है ।

“प्रगट्यो पूरण राग... मेरे प्रभु शं...

पूरण मन सब पूरण दीसे,

नहीं दुविधा को लाग;

पांड चलत पनहि जो पहिने,

तस नवि कंटक लाग...”

यह पूर्ण दृष्टि से दिखाई देती सृष्टि का शब्द-चित्रण है ।

पूर्णता की दृष्टि प्राप्त करने के लिए मग्नता चाहिये । उस के लिए स्थिरता चाहिये । बाद-बाद के अष्टक पूर्व-पूर्व के गुणों की प्राप्ति के कारण है, यह समझ में आये बिना नहीं रहे ।

* देहाध्यास टालना है, परन्तु देह के बिना कुछ भी दिखाई नहीं देता, करना क्या ? ऐसा प्रश्न होता हो तो मैं कहूंगा - आप प्रभु को सामने रखो । प्रभु का स्मरण करो, प्रभु की पूजा करो । प्रभु को जपो । प्रभु का स्मरण करना, पूजना, भजना मतलब अपनी ही आत्मा का सुमिरन करना, पूजना और भजना ।

यहां जो कमाई होगी वह भगवान हमें ही दे देंगे । वे उसे अपने पास रखने वाले नहीं है ।

ॐ ॐ ॐ

काउत्सग

मानसशास्त्री मानते हैं कि मस्तक के दस भागों में से एक भाग जागृत है, नौ भाग सुप्त हैं । कायोत्सर्ग से सुषुप्त शक्ति जागृत होती है ।



११ दीक्षा प्रसंग, भुज, वि.सं. २०२८, माघ शु. १४

५-७-२०००, बुधवार
आषाढ़ शुक्ला-४ : पालीताणा

* स्वयं में रहे हुए शाश्वत ज्ञान, आनन्द एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए यह धर्म-साधना है। इसके लिए ही भगवान् ने तीर्थ-स्थापना की है। “मुझे जो मिला है वह मार्ग सबको मिले। ऐसा मार्ग होते हुए भी जीव मार्ग-भ्रष्ट होकर क्यों भटकते हैं ? औषधि होते हुए भी क्यों रोगी रहें ? पानी होते हुए भी क्यों प्यासे रहें ? भोजन होते हुए भी क्यों भूखे रहें ? दुःख निवारण करने का उपाय होने पर भी क्यों दुःखी रहें ? मेरा चले तो मैं सबको सुखी करूं, सब को शाश्वत सुख का मार्ग बताऊं।” ऐसी भव्य भावना से बंधे हुए तीर्थकर नाम कर्म के उदय से भगवान् ने तीर्थ की स्थापना की है।

* नदी में टकराता-पछाड़े खाता पत्थर अपने आप गोल हो जाता है। हमें यही प्रतीत होता है कि किसी शिल्पी ने इसे गोल बनाया होगा। हमारी आत्मा भी इस प्रकार संसार में टकराती-पछाड़े खाती कुछ योग्य बनती है। ७० कोटकोटि सागरोपम में से ६९ कोटकोटि सागरोपम कम करके अन्तः कोटकोटि सागरोपम की मोहनीय की कर्म की स्थिति बनती है, तब यथाप्रवृत्तिकरण

करके सम्यक्त्व के समीप आता है। ऐसी स्थिति आने के पश्चात् ही धर्म प्रिय लगता है। यद्यपि यहां आने से ही कार्य हो जाता हो, ऐसा नहीं है। हम यहां अनन्त बार आ चुके हैं, परन्तु ग्रन्थि-भेद किये बिना, राग-द्वेष की तीव्र ग्रन्थि भेदे बिना, सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना लौट गये हैं। धर्म हमें प्रिय नहीं लगा। अब भी ऐसे जीव देखते हैं न ? धर्म... धर्म... क्या करते हैं ? कोई आर्थिक-सामाजिक बात हो तो सुनें। हमें आनन्द आये। ऐसे जीवों को धर्म श्रवण करना ही अच्छा नहीं लगता। श्रद्धा या आचरण की तो बात ही कहां है ?

* मियां भले आज कमाया हुआ आज ही खर्च करके कल की चिन्ता न करे। 'आज ईद, फिर रोजा।' कहावत के अनुसार चलेगा, परन्तु बुद्धिशाली वणिक् ऐसा नहीं करता। वह तो भविष्य का भी सोचेगा।

इस समय प्राप्त धर्म-सामग्री पूर्व की धर्मारधना का ही फल है, परन्तु इस समय यदि विशेष धर्मारधना न करें तो फिर क्या होगा ? यदि ऐसा विचार न आये तो हम मियां के समान हैं।

* भगवान का स्मरण करना अर्थात् अपने ही शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना।

भगवान के गुणों का ज्ञान-ध्यान-भान करें तो वे गुण आपके भीतर उत्पन्न होने लगेंगे, क्योंकि वे गुण हमारे भीतर विद्यमान ही हैं। अपने गुण ढंके हुए हैं और भगवान के गुण प्रकट हैं, केवल इतना ही अन्तर है।

ऐसे गुण-समृद्धि-मय भगवान हैं - यह मानकर प्रभु-प्रतिमा के दर्शन करने हैं। फिर आपको प्रभु-मूर्ति में समतारूपी अमृत की वृष्टि दृष्टिगोचर होगी।

आनन्दधनजी की तरह आप भी बोल उठेंगे।

“अमीय भरी मूर्ति रची रे,

उपमा न घटे कोय;

शान्त सुधारस झीलती रे,

निरखत तृप्ति न होय...”

(घोर वर्षा के कारण पतरो का आवाज आने के कारण दस

मिनट तक वाचना बंद रही)

* पांचो ज्ञानों में 'श्रुतज्ञान' उत्तम गिना गया है, केवल परोपकार की प्रधानता के कारण । श्रुतज्ञान का आदान-प्रदान हो सकता है, केवलज्ञान का नहीं । इसीलिए श्रुतज्ञान को सूर्य, चन्द्र, मेघ, दीपक आदि की उपमा दी गई है ।

दीपक बाह्य पदार्थ प्रकाशित करता है । श्रुतज्ञान हमारे अन्तर को ज्योतिर्मय करता है । सम्यग् ज्ञान का प्रकाश आते ही अविद्या नष्ट हो जाती है; अशुचि, अनित्य एवं पर पदार्थों में शुचिता, नित्यता तथा स्वपन की बुद्धि मिट जाती है ।

“ज्ञान प्रकाशे रे मोह तिमिर हरे, जेहने सद्गुरु सूर;
ते निज देखे रे सत्ता धर्म नी, चिदानन्द भरपूर...”

- उपा. यशोविजयजी म.सा.

* देव-गुरु-धर्म में कुदेव आदी की बुद्धि मिथ्यात्व है, उस प्रकार देह में आत्म-बुद्धि भी लोकोत्तर मिथ्यात्व है, यह बात हमें समझ में नहीं आई ।

जिस देह का संयोग हुआ है, उसका वियोग होगा ही । देह के संयोग से हुए समस्त सम्बन्धों का भी वियोग होगा ही । संयोग ही दुःख का मूल है, क्योंकि संयोग के तले में वियोग छिपा हुआ है । संयोग में सुख माना तो वियोग में दुःख होगा ही । इसीलिए कहा है कि -

“संजोगमूला जीवेण, पत्ता दुक्खपरंपरा ।”

अतः वियोग से नहीं, संयोग से डरो ।

ऐसी दृष्टि, भगवान् श्रुतज्ञान देते हैं । याद रहे - गणधरों ने श्रुतज्ञान को भगवान् कहा है । 'सुअस्स भगवओ' 'पुक्खरवरदी सूत्र' के अन्त में आने वाला यह पाठ श्रुतज्ञान में भगवत्ता को सूचित करता है ।

* ध्याता, ध्येय एवं ध्यान की एकता के बिना सम्यग् दर्शन नहीं प्राप्त होता, परन्तु ध्यान से हम मीलों दूर हैं । ध्यान के बिना समकित कैसे मिलेगा ?

यथाप्रवृत्ति करण, अपूर्व करण आदि में रहा हुआ 'करण' शब्द समाधि का वाचक है । करण अर्थात् समाधि...! यथाप्रवृत्ति

करण को अव्यक्त समाधि कहा है ।

ध्यान के बिना समाधि कैसे आयेगी ?

समाधि के बिना सम्यग् दर्शन कैसे आयेगा ?

राग-द्वेष की तीव्र ग्रन्थि भेदे बिना समकित प्राप्त नहीं होगा ।

“एगो मे सासओ अप्पा ।” ये दो गाथा नैश्चयिक सम्यक्त्व की प्राप्ति पर बल देती हैं ।

देह के प्रति ममता कम हुए बिना, उससे परे आत्मा है ऐसी बुद्धि के बिना समकित कैसे मिलेगा ? देह को तनिक कुछ होने पर आकुल-व्याकुल होने वाले हम आत्मा की अस्वस्थता की परवाह नहीं करते । इस स्थिति में समकित कैसे मिलेगा ?

समकित अर्थात् सम्यग् दर्शन ! श्रद्धामय दर्शन ! ‘सम्यग्’ अर्थात् सच्ची रीति से । श्रद्धा से ही जगत् का सच्चा दर्शन हो सकता है ।

* ‘योगदृष्टि-समुच्चय’ ग्रन्थ की रचना करके हरिभद्रसूरिजी ने महान् उपकार किया है । वि. संवत् २०२६ में नवसारी चातुर्मास में एक अजैन भाई एक मील की दूरी से नित्य व्याख्यान में आते । ‘योगदृष्टि समुच्चय’ पर व्याख्यान सुनकर उसे होता कि यहां तो पतंजलि आदि की समस्त बातें आ गई हैं । अजैन लोग भी ग्रहण कर सकें ऐसा यह ग्रन्थ है ।

* हम बहिर्दृष्टि-बहिर्मुखी हैं । तनिक हृदय को पूछें - पांच मिनट भी क्या हम अन्तर्दृष्टि बन सकते हैं ?

“बाहिर दृष्टि देखतां, बाहिर मन धावे;

अन्तर दृष्टि देखतां, अक्षय पद पावे...”

- उपा. यशोविजयजी म.सा.

सर्व प्रथम अन्तर्दृष्टि से प्राप्त होती जागृति घास की अग्नि के समान होती है । तनिक समय में लुप्त हो जाती है । प्रारम्भ में कभी भक्ति करते समय, ज्ञान का अध्ययन करते समय ऐसी झलक मिलती है । आगे-आगे की दृष्टि आने पर जागृति अधिकाधिक टिकती रहती है । इसीलिए वहां होने वाले बोध की क्रमशः लकड़ी की एवं उपलों की अग्नि के साथ तुलना की है । उसके बाद पांचवी दृष्टि में रत्नों के दीपक तुल्य जागृति आ जाती है । दीपक

बुझ जाता है परन्तु क्या रत्नों की ज्योति बुझती है ? क्षायिक समकित मिलने के पश्चात् आत्म-जागृति लुप्त नहीं होती ।

* केवल मित्रा दृष्टि के लक्षण देखें तो भी चकित हो जायें । वाचनाचार्य के पास से श्रवण, आगम-लेखन आदि प्रथम दृष्टि के लक्षण हैं ।

ऐसे शास्त्र देखने पर मन में होता है कि - अपना इसमें कहां स्थान है ? प्रभु को प्रार्थना करने की इच्छा होती है - प्रभु ! हम आपकी शरण में हैं । हमारे लिए जो योग्य हो उस मार्ग पर हमें आरूढ़ करना ।

भगवान की भक्ति में शक्ति है - मिथ्यात्व के पिशाच को हटाने की । भगवान को साथ रख कर साधना-मार्ग पर आगे बढ़ें ।

जब भगवान साथ हैं तो फिर किसका भय ? भगवान के पास मोह रंक है ।

ॐ ॐ ॐ

.....और भूत पकड़ा गया !

हठीसिंह पटेल प्रातः काल में पश्चिम की ओर जा रहे थे । अपनी लम्बी परछाई को भूत समझ कर उसे पकड़ने के लिए दौड़ने लगे, परन्तु 'भूत' तो आगे ही आगे था । पकड़ा ही न गया । पटेल बड़बड़ा उठा : यह भूत जोरदार है ।

दूर से यह दृश्य देखकर पटेल की मूर्खता पर हँसनेवाले सहजानंद स्वामी (स्वामिनारायण पंथ के प्रवर्तक) ने कहा - 'पटेल ! यह भूत आपके हाथ में इस तरह नहीं आयेगा । आप ऐसा करो, पूर्व दिशा की ओर चलने लगे, फिर देखो कि यह भूत आपका दास बनकर आपके पीछे-पीछे फिरता है कि नहीं ? ऐसा करने पर 'भूत' पीछे-पीछे चलने लगा । पटेल प्रसन्न हो गये ।

सही बात है । जो आदमी तृष्णा को पीठ देकर चलता है, उसके पीछे-पीछे परछाई की तरह लक्ष्मी चली आती है ।



११ दीक्षा प्रसंग, भुज, वि.सं. २०२८, माघ शु. १४

६-७-२०००, गुरुवार
आषाढ शुक्ला-५ : पालीताणा

* साक्षात् भगवान् चाहे नहीं मिले, परन्तु उनका धर्म मिला है। उस धर्म का पूर्णरूपेण पालन साधु करते हैं। उस मार्ग पर चलने में जो असमर्थ हैं वे श्रावक-धर्म का पालन करते हैं। ऐसी सामग्री तो मिली है, परन्तु हम सदुपयोग कितना करते हैं? यदि सदुपयोग नहीं हुआ तो दूसरी बार वह नहीं मिलेगी, यह नियम है।

* जहाज में होने वाले छेदों की उपेक्षा करें तो पूरा जाज डूब जाये। संयम में लगनेवाले अतिचारों की यदि उपेक्षा करें तो धीरे-धीरे सम्पूर्ण संयम चला जायेगा।

* दुःख के समय चित्त में उद्वेग होता है, परन्तु हम जानते नहीं हैं कि इसे सहन करने से तो पूर्व की असाता खपती है।

यदि यह दृष्टि विकसित हो जाये तो ?

साधु को असाता उदय में क्यों आये ? मैं कहता हूँ, साधु को भी उदय में आती है, क्योंकि कर्मसत्ता समझती है कि ये साधु तो जल्दी-जल्दी मुक्ति की ओर आगे बढ़ रहे हैं तो शीघ्र इनका हिसाब चूकता कर लें।

देखो, परम तपस्वी पू. कान्तिविजयजी म. को अन्त में कैन्सर

हो गया था । परम तपस्वी पू. पद्मविजयजी म. को भी अन्त में कैन्सर हुआ था ।

पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. को भी रोग ने घेर लिया था ।

हमारे जैसों को होगा कि ऐसे परम साधकों को ऐसा रोग क्यों ? परन्तु हमारी दृष्टि मात्र ऊपर छल्ली है, गहराई में जा नहीं सकती ।

श्रेणिक महाराजा जैसे प्रभु के परम भक्त, फिर भी गये नरक में । कर्मसत्ता को अन्त में हिसाब चूकता करना है न ?

इससे यह बात भी फलित होती है कि निकाचित कर्म कदापि अपना फल दिये बिना जाते नहीं है । वे किसी का पक्षपात नहीं करते । इसीलिए कर्म भोगते समय नहीं, कर्म बांधते समय सचेत होना है ।

“बन्ध समय चित्त चेतीए रे,
उदये शो संताप ?”

- पं. वीरविजयजी म.सा.

प्रश्न - भक्तामर में लिखा है - ‘प्रभु ! आपकी स्तवना से पाप कर्म क्षीण हो जाते हैं तो श्रेणिक के कर्मों का क्षय क्यों नहीं हुआ ? श्रेणिक ने तो प्रभु की अनन्य भक्ति की थी ।

उत्तर - मैंने आपको पहले ही कहा है कि अनिकाचित कर्मों का ही क्षय होता है, निकाचित कर्मों का क्षय नहीं हो सकता । श्रेणिक के कर्म निकाचित थे ।

* असन्तोष इतना ज्वलन्त है कि चाहे जितनी विषयों की इच्छा पूरी की जाये, परन्तु वह पूरी नहीं होती, बढ़ती ही रहती है । उन पर नियन्त्रण करना ही पड़ेगा । विषय उपभोग करने से वश में नहीं आते ।

* प्रथम मित्रादृष्टि में अध्यात्म के बीज हैं । बीज बराबर होगा तो वृक्ष कहीं भी नहीं जायेगा । वह अपने आप उगेगा ।

धर्म एवं धर्मी की अनुमोदना बीज है । उसके बिना धर्म हृदय में बद्धमूल नहीं होगा ।

* दुःखमय संसार का व्युच्छेद शुद्ध धर्म से होता है । शुद्ध धर्म की प्राप्ति तथाभव्यता के परिपाक से होती है । तथा-भव्यता का परिपाक शरणागति आदि तीन से होता है ।

हरिभद्रसूरिजी की सुविशाल प्रज्ञा थी । अब तक जितने ग्रन्थ पढ़े उनमें कहीं भी एक पंक्ति भी निश्चय-व्यवहार से निरपेक्ष नहीं मिली ।

षोडशक में जिनालय के लिए लकड़ा लाना हो तो भी मुहूर्त देखें, लकड़े के लक्षण देखें, उसमें गांठ, पोल आदि न हों वह देखें । ऐसी बारीक-बारीक बातें भी उन्होंने लिखी हैं ।

हरिभद्रसूरिजी स्वयं आगम-पुरुष थे । इसीलिए उनके ग्रन्थ भी आगम-तुल्य गिने जाते हैं ।

आगमों पर सर्व प्रथम टीका लिखने वाले वे ही थे । उन्होंने सर्व प्रथम आवश्यकों पर टीका लिखी । दशवैकालिक पर भी टीका लिखी । इस समय टीका उपलब्ध है वह लघुवृत्ति है । बृहद् वृत्ति तो उपलब्ध ही नहीं है ।

स्तव-परिज्ञा, ध्यान-शतक उनके द्वारा लिखे हुए ग्रन्थ-रत्न हैं ।

मित्रा, तारा, बला और दीप्रा - इन चारों दृष्टियों का समावेश हरिभद्रसूरि ने अपुनर्बंधक में किया है ।

* शुभ भावों की अखण्ड धारा चले, धर्मानुष्ठानों में अमृत का आस्वादन हो, विषयों से विमुखता आये वह धर्मारुधना में प्रगति हो रही है इसके चिन्ह हैं ।

* भगवान का स्तवन करने से पूर्व क्या सोचें ?

हरिभद्रसूरिजी सिखाते हैं - मुझे आज तीन लोक के गुरु अचिन्त्य चिन्तामणि, एकान्त शरण रूप, त्रैलोक्य-पूजित स्वामी मिले हैं । मेरा कैसा पुन्य ?

यह बहुमान ही धर्म का बीज है ।

यह प्रेम मात्र मन में ही नहीं, वचन एवं काया में भी उत्पन्न होता प्रतीत होता है ।

प्रभु-प्रेम का यह बीज ही आगे बढ़ने पर पांचवी दृष्टि में सम्यक्त्व रूपी वृक्ष बनता है ।

‘उवसगहरं’ भले छोट सा स्तोत्र है, परन्तु बड़े स्तोत्रों का पूरा भाव इसमें छिपा हुआ है । उसमें समकित को चिन्तामणि, कल्पवृक्ष से भी अधिक मूल्यवान गिनाया है ।

* भोजन में भूख मिटाने की शक्ति है ।

पानी में प्यास मिटाने की शक्ति है ।

परन्तु हमें वह खाना-पीना चाहिये । भगवान द्वारा कथित कुछ करना नहीं और केवल भगवान सब कर देंगे, ऐसे भरोसे में रहना निरी आत्म-वंचना होगी ।

सब भगवान पर छोड़ना नहीं हैं । हमें साधना करनी है ।

सूर्य का कार्य प्रकाश देना है । आंखें तो हमें ही खोलनी पड़ेगी न ? माता का कार्य सीरा बनाकर देना है । खाना तो हमें ही पड़ेगा न ? भगवान ने मार्ग बताया, परन्तु चलना तो हमें ही पड़ेगा न ?

भक्ति का अर्थ निष्क्रिय हो कर बैठना नहीं है । भक्ति अर्थात् प्रेमपूर्ण समर्पण । जहां समर्पण होगा वहां सक्रियता अपने आप आ जायेगी । प्रेम कदापि निष्क्रिय बैठा नहीं रहता ।

* भद्रबाहु स्वामी जैसे चौदह पूर्वधर बालक बन कर प्रभु को प्रार्थना करते हैं कि चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदि बाह्य पदार्थ देते हैं, वह भी चिन्तन करने के पश्चात् देते हैं, परन्तु हे प्रभु ! तेरा यह समकित तो अचिन्त्य चिन्तामणि है । बिना विचारे इसके द्वारा पार्थिव नहीं, अपार्थिव गुण मिलते हैं; भौतिक नहीं, आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त होती है ।

हे प्रभु ! पूर्ण भक्ति से भरे हृदय से मैं तेरे समक्ष प्रार्थना करता हूं । देव ! मुझे भवोभव बोधि देना ।

भवोभव साथ चले ऐसा यह बोधि है, सम्यग् दर्शन है । चारित्र साथ नहीं चलता ।

प्रभु ! भवोभव मुझे तेरे चरणों की सेवा प्रदान कर । प्रभु के चरणों की सेवा अर्थात् सम्यग् दर्शन ।

* पुरुषार्थ तो हम बहुत करते हैं, परन्तु फलता क्यों नहीं है ? क्योंकि भक्ति नहीं है, इसलिए । इसीलिए मैं भक्ति पर, समर्पण पर बल देता हूं । भगवान की भक्ति सम्मिलित हो जाये तो ही अपना पुरुषार्थ फलता है ।

(हिन्दी भाषी लोको के कारण से पूज्यश्री ने हिन्दी में शुरु किया ।)

नाम आदि भगवान की शाखाएं हैं ।

मोतीलाल बनारसीदास वाले नरेन्द्रप्रकाशजी को पूज्यश्री ने पूछा, "आपकी शाखाएं कहां कहां हैं ?



दक्षिण भारत में प्रतिष्ठ प्रसंग

७-७-२०००, शुक्रवार
आषाढ़ शुक्ला-६ : पालीताणा

* स्वाध्याय बढ़ने के साथ ज्ञान बढ़ता है । ज्ञान बढ़ने पर गिरिगज को पहचानने लगते हैं, प्रभु पहचानने लगते हैं । प्रभु को पहचानना सिखाये, वही सच्चा ज्ञान है ।

* गिरिगज की स्पर्शना मात्र से भव्यता की छाप लगती है । प्रभु के स्नात्र-जल में या पुष्पों में जिस प्रकार भव्य जीव होते हैं, वैसे ही यहां भव्य जीव ही आ सकते हैं ।

यहां पर्वत नहीं, परन्तु कंकर-कंकर पर सिद्ध दिखाई देने चाहिये । अभी दस वर्षों के बाद वलभीपुर के बाद प्रथम बार गिरिगज के दर्शन हुए, हृदय में आनन्द की लहरे उठी, परन्तु ऐसे भाव सदा के लिए स्थायी नहीं रहते । यदि स्थायी रहें तो किसी शास्त्र अथवा उपदेश की आवश्यकता भी नहीं पड़े ।

यहां छोटे बालकों से लगा कर बड़ों तक सब अपने शुभ भाव व्यक्त करके जाते हैं - “देखी मूर्ति ऋषभ जिननी नेत्र मार ठरे छे” इस प्रकार स्तुति गाते छोटे बालक के अन्तर में भी अपार भाव होते हैं । ये सब शुभ विचारों के परमाणु यहीं एकत्रित होते रहते हैं । इसीलिए यह क्षेत्र अधिकाधिक पवित्र बनता रहता है

और साधक का मन तुरन्त ध्यान में लीन हो जाता है । यहां शुभ ध्यान में मन लीन हो जाता है, इसीलिए कहा गया कि इस गिरिराज की स्पर्शना दुर्गति को रोकती है ।

* यह वाचना किस लिए है ? मैं आपके लिए नहीं, अपने लिए देता हूं । किसी पर प्रभाव न पड़े तो भी मैं निराश नहीं होऊंगा । अपना बोला हुआ मैं स्वयं तो सुनता ही हूं न ? यहां जो कहा जा रहा है, उसे मैं अपने जीवन में उतार कर कहता हूं अथवा जीवन में उतारने का प्रयत्न करता हूं ।

यहां मैं अनेक बार आया, परन्तु प्रत्येक बार प्रभु के समक्ष प्रार्थना करता ही हूं । बचपन में भी मैं प्रभु को प्रार्थना करता - 'प्रभु ! मेरे योग्य कुछ अवश्य दें ।'

ये सब शास्त्र की बातें मैं जिस प्रकार समझा हूं, उस प्रकार आपको परोसने का प्रयत्न करता हूं । इस जिनवाणी को आदर पूर्वक सुनें ।

सम्यग्दर्शन मिल जाये तो सुना हुआ सार्थक है । यह नहीं तो मार्गानुसारी में आ जायें अथवा प्रथम दृष्टि में प्रवेश हो जाये तो भी सुना हुआ सार्थक है ।

* सूर्य, चन्द्रमा, बादल अथवा नदी इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वे अन्यो के लिए उपकारी बनते हैं । आप अपने स्वयं के लिए कितना करते हैं ? यह महत्त्वपूर्ण नहीं है । आप दूसरों के लिए कितना करते हैं, यही महत्त्वपूर्ण है । परोपकार की प्रधानता अधिक, उस प्रकार लोगों में आपकी आदेयता अधिक । इसी कारण से अरिहंत सिद्धों से प्रथम गिने गये हैं । अरिहंत के पास परोपकार की उत्तम सम्पदा है ।

* विशेषावश्यक भाष्य में लिखा है कि जोर से छोड़े गये शब्द चार समय में सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं । अनन्त वीर्यवान् भगवान् बोलते होंगे तो अनायास ही उनके बोले हुए वचन अखिल विश्व में फैल ही जाते होंगे । हमें भी इन पवित्र पुद्गलो का स्पर्श हुआ ही होगा, परन्तु यह भाव समझने के लिए 'पाण्डित्य' चाहिये । ज्ञानियों की दृष्टि में हम 'बालक' हैं । लोगों की दृष्टि में भले चाहे जितने योग्य पण्डित गिने जाते हों । बड़ा व्याकरण का ज्ञाता

भी यदि न्याय का अध्ययन नहीं कर पाया हो तो नैयायिक की दृष्टि में बालक ही गिना जाता है। (अधीत - व्याकरण - काव्यशास्त्रः अनधीतन्यायशास्त्रः बालः) उस प्रकार ज्ञानी की दृष्टि में हम बाल हैं। उनकी महत्ता समझने के लिए उनके जितनी ऊंचाई पर चेतना को लाना पड़ता है।

* जिसे भव का भय न हो, मोक्ष की इच्छा न हो, समर्पण-भाव न हो, ऐसे व्यक्ति को दीक्षित करने की कदापि भूल न करें, अन्यथा पश्चाताप का पार नहीं रहेगा। आप स्वयं परेशान होओगे और दूसरों को भी परेशान करोगे तथा शासन की भी अपभ्राजना होगी। दीक्षा देनी अथवा नहीं देनी यह आपके हाथ में है, परन्तु दीक्षा देने के पश्चात् आपके हाथ में कुछ नहीं रहता।

* “मैं नहीं समझूँ ऐसा कोई श्लोक दुनिया में है ही नहीं।” इस मिथ्याभिमान के कारण ही कट्टर जैन-विरोधी हरिभद्र भट्ट ने प्रतिज्ञा ली थी कि “मैं जिन श्लोक का अर्थ न समझता होऊँ, उसका अर्थ जो समझायेगा उसका मैं शिष्य बनूँगा।”

चाहे अभिमान से ली हुई थी यह प्रतिज्ञा, परन्तु उस प्रतिज्ञा को भी निष्ठापूर्वक पाली तो उनका जैन दर्शन में प्रवेश हुआ और हमें हरिभद्रसूरि मिल गये।

हरिभद्रसूरि सच्चे अर्थ में जिज्ञासु थे, सत्यार्थी थे। अतः दृष्टिराग छोड़कर मिथ्या धर्म में से सम्यग् धर्म में प्रविष्ट हुए।

हरिभद्रसूरिजी ने परोपकार की भावना इतनी भावित की कि सम्पूर्ण जीवन उन्होंने परोपकार में लगा दिया। लोगों के उपकारार्थ ही उन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की।

सूर्य किसके लिए उगता है ?

बादल किसके लिए बरसता है ?

नदी किसके लिए बहती है ?

अपने लिए नहीं, परोपकार के लिए।

केवल स्वयं को छोड़कर सभी कुछ न कुछ उपकार करते हैं।

एक बात समझ लें स्वार्थवृत्ति ही सहजमल है। यही मिथ्यात्व है। यह न मिटे तब तक धर्म का प्रारम्भ नहीं होगा।

स्वार्थ-वृत्ति मिथ्यात्व है ।

परमार्थवृत्ति समकित है ।

समकित का अर्थ है - स्व-पर जीव को जीव के रूप में स्वीकार करना, उसके प्रति श्रद्धा करना । ऐसा श्रद्धालू दूसरों के दुःख-दर्द के समय निष्क्रिय कैसे रह सकता है ?

चार प्रकार के धर्मों में प्रथम दान धर्म है, जो परोपकार का महत्त्व बताता है ।

अनुग्रहार्थ स्वस्याऽतिसर्गो दानम् ।

- तत्त्वार्थ ७-३३

जब परोपकार का भाव चरम सीमा पर पहुँचता है तब सर्वविरति उदय में आती है, सर्वविरति की लालसा जगती है ।

एक दिन के मेरे भोजन के लिए असंख्य जीव बलिदान देते हैं । इस प्रकार प्रत्येक भव में हमने समस्त जीवों का ऋण लिया है । अब यह ऋण तब ही उतरेगा, यदि संयम ग्रहण करके उन समस्त जीवों को अभयदान दिया जाये ।

मैं गृहस्थ-जीवन में था । जीवविचार का अध्ययन करने के पश्चात् सब्जी लाने - समारने में त्रास होता - 'अरेरे ! क्या इन जीवों का मैं इस प्रकार संहार करूँ ? क्या यह जीवन इसके लिए है ? यह संहार न हो ऐसा एकमात्र संयम जीवन है । परिवार में कुछ मनुष्यों का विरोध होने पर भी मैं संयम-जीवन ग्रहण करने के लिए अडिग रहा । संयम जीवन के बिना सम्पूर्ण साधना सम्भव नहीं हो सकती, ऐसी मेरी श्रद्धा दृढ़ हो गई थी ।

* चार केवली हैं - सर्वज्ञ, श्रुत केवली, सम्यग्दृष्टि एवं श्रद्धापूर्वक कन्दमूल आदि का त्यागी ।

कन्दमूल जीव है । उसे तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता । यह बात तर्कगम्य नहीं है, केवल श्रद्धागम्य है । प्रभु पर श्रद्धा रख कर कन्दमूल का परित्याग करनेवाला भी अपेक्षा से केवली कहलाता है ।

* एक जीव को समकित बना लो तो चौदह राज लोक में अमारि का डंका बजाया कहलायेगा । ऐसा क्यों कहा गया ? क्योंकि वह जीव अब अपार्थ पुद्गल परवर्त में मोक्ष में जायेगा ।

एक जीव मोक्ष में जाये अर्थात् उसने जगत् के समस्त जीवों को अभयदान दिया, अपनी ओर से होने वाली पीड़ा सदा के लिए बंध की। क्या वह कम बात है ?

इसी अपेक्षा से साधु उत्कृष्ट दानी है। “गृहस्थ जीवन में थे तब दान आदि धर्म कर सकते थे। अब दान आदि कुछ भी नहीं हो सकता।” यह सोच कर दुःखी होने की या निराश होने की आवश्यकता नहीं है। यहां आप अभयदान दे सकते हो जो कोई गृहस्थ नहीं दे सकता।

* अपार्थिव आनन्द आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन आते ही उस आनन्द की झलक मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। साधना में ज्यों ज्यों आगे बढ़ते जायें, त्यों त्यों आनन्द बढ़ता जाता है। सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशविरति में अधिक आनन्द है। साधुता में उससे भी अधिक आनन्द है, क्षपकश्रेणि में उससे अधिक आनन्द है, केवलज्ञान में उससे अधिक आनन्द है और उससे भी मोक्ष में अधिक आनन्द है। सम्यग्दर्शन से प्रारम्भ होने वाला आनन्द मोक्ष में परकाष्ठा पर पहुंचता है। मोक्ष अर्थात् आनन्द का पिण्ड ! मोक्ष अर्थात् आनन्द का उच्च शिखर ! मोक्ष अर्थात् आनन्द का धूम मचाता महासागर। आनन्द के बिन्दु से प्रारम्भ हो चुकी यात्रा आनन्द के सिन्धु में पर्यवसित हो जाती है।

* प्रवर्तक एवं प्रदर्शक ये दो ज्ञान हैं। प्रवर्तक ज्ञान, साधना में सहायक है। प्रदर्शक ज्ञान साधना में बाधक है, अभिमान-वर्धक है। जिस ज्ञान से अभिमान नष्ट होता है, उससे ही यदि अभिमान बढ़े तो हद हो गई। यदि सूर्य से ही अंधकार फैले तो जाना कहाँ ?

मणबंध भी प्रदर्शक ज्ञान मोक्ष में नहीं ले जाता। प्रवर्तक ज्ञान का छोटा सा कण भी माषतुष मुनि की तरह आपका मोक्ष का द्वार खोल देगा।

ॐ ॐ ॐ



आषाढ शुक्ला-७ : पालीताणा

दुःखमयता संसार का स्वभाव है उस प्रकार
सुखमयता मुक्ति का स्वभाव है ।

बाह्य दुःख जितना पीड़ित नहीं करता, जितना भीतर का दुःख पीड़ित करता है जो कर्म एवं कषाय के कारण उत्पन्न होता है।

यह साधु-जीवन दुःखदायी कषायों का सामना करने के लिए

ही है। दस प्रकार के यति धर्मों में प्रारम्भ के चार, चारों कषायों को जीतने के लिए ही हैं।

ऐसा साधु-जीवन महा पुन्योदय से ही मिलता है, ऐसी प्रतीति आज भी होती है न ? कि अब महा पुन्योदय नहीं लगता ? जो वस्तु दैनिक बन जाती है उसका मूल्य नहीं लगता, अतः पूछता हूँ।

गुरु महाराज ने यदि अपना हाथ नहीं पकड़ा होता तो अपनी क्या दशा होती ?

हम दुःखमय संसार में कहीं भटकते होते।

विषय-कषायों को उकान तो संसार में है ही, परन्तु बाह्य दुःख भी कम नहीं है।

यहां नित्य दुःखी मनुष्यों की कतार बढ़ती है। किसी के बच्चे पागल होते हैं, किसी का पुत्र भाग गया होता है, किसी की पत्नी झगडालू होती है तो किसी का पति मार-पीट करता होता है।

ऐसे दुःखमय संसार से हम उगार गये, उसमें क्या गुरुदेव का उपकार प्रतीत होता है ? प्रत्यक्ष गुरु महाराज का उपकार स्वीकार न करे वह भगवान का परोक्ष उपकार किस प्रकार स्वीकार कर सकेगा ?

नमक के प्रत्येक कण में कड़वाहट है, उस प्रकार संसार की प्रत्येक घटना में दुःख है।

शक्कर के प्रत्येक कण में मिठाश (मधुरता) है, उसप्रकार मुक्ति की प्रत्येक साधना में सुख है। मुक्ति में तो सुख है ही, परन्तु मुक्ति की साधना में भी सुख है, क्या यह आपकी समझ में आता है ? हमारा कष्ट यह है कि मोक्ष में सुख प्रतीत होता है, परन्तु मोक्ष की साधना स्वयं सुख रूप है यह समझ में नहीं आता। साधना में यदि सुख प्रतीत हो तो उसमें कदापि पीछे न रहें।

ऐसे दुःखमय संसार-सागर में से बाहर निकालकर गुरुदेव ने हमें दीक्षा के जहाज में बिठा दिये, क्या यह याद आता है ?

यह तो द्रव्य दीक्षा हुई, यह कहकर बात निकाल मत देना।

द्रव्य दीक्षा में भी वह शक्ति है, जो भाव दीक्षा का कारण बन सकती है ।

गत वर्ष 'पंचवस्तुक' में बात आई थी, जिसमें हरिभद्रसूरिजी ने लिखा है कि दीक्षा के द्रव्य विधि-विधान में, चैत्यवन्दन आदि में भी वह शक्ति है जो द्रव्य दीक्षा को भाव दीक्षा में बदल दे ।

* चैत्यवन्दन जैसी वैसी क्रिया नहीं है । किस का चैत्यवन्दन करना है ? ऐसे महा करुणा-सिन्धु, त्रिलोक-पूजित भगवान का चैत्यवन्दन करने का सुअवसर मेरे जैसे पामर को मिला । ऐसे गद्गद् भाव चैत्यवन्दन से पूर्व आने चाहिये, ताकि चैत्यवन्दन फलदायी सिद्ध हो । प्रभु के प्रति प्रेम होना चाहिये, ऐसा प्रेम जो अन्य किसी पदार्थ पर न हो, केवल प्रभु पर ही हो । इसे ही प्रीतियोग कहा जाता है । यह प्रीतियोग ही भक्तियोग का मूलाधार है ।

प्रश्न - प्रेम है या नहीं, यह कैसे ज्ञात हो ?

उत्तर - चैत्यवन्दन आदि चलते हों, तब क्या अन्य कुछ याद आता है ? खाने का, पीने का या अन्य कुछ करने का याद आता हो तो समझें कि अभी तक प्रीतियोग जमा नहीं है ।

प्रीतियोग सुदृढ होने के पश्चात् ही भक्ति योग का विकास होता है । प्रीतियोग में प्रेम की प्रधानता है । भक्तियोग में पूज्यता की प्रधानता है ।

यह मार्ग पूर्व के महापुरुषों के द्वारा लिया गया है । उन्होंने ने इस मार्ग पर चलकर अनन्त सुख प्राप्त किया है । इस मार्ग पर मुझे चलने का अवसर मिला, यही मेरा सौभाग्य है । ऐसा सोचते-सोचते प्रति पल प्रभु-प्रेम बढ़ता रहना चाहिये ।

प्रभु-प्रेम इस प्रकार अरूपी है, परन्तु प्रभु-प्रेमी के बाह्य लक्षणों से दूसरों को भी इसका पता लगे ।

प्रभु-प्रेमी गुप्त ही रहे । लोगों में दिखावा करने का प्रयत्न न करे । लोगों में दिखावा करने से विघ्न आते हैं । लोक-सम्पर्क बढ़ता जाये । लोक सम्पर्क भक्ति में आने वाला बड़ा विघ्न है । सब्जी बेचनेवाले काछिये की तरह जौहरी कदापि अपने रत्नों को खुला नहीं रख देता । आजकल जो प्रदर्शन करने जाते हैं, वे लुट

रहे हैं, ये समाचार आप नित्य सुनते रहते हैं न ?

देव-गुरु-कृपा से कदाचित् गुणों का विकास हुआ हो तो भी गुप्त रखें, दुनिया को न दिखायें । दिखाने के लिए गये तो लुट जाओगे । अहंकार आदि आने में विलम्ब नहीं लगेगा ।

शास्त्र में एक दृष्टान्त है । यों तो मैं दृष्टान्त खास कदापि नहीं कहता, परन्तु आज कहता हूँ ।

जंगल में एक जैन मुनि योग की साधना कर रहे थे । उनकी योग-साधना के प्रभाव से सिंह आदि जंगली प्राणी भी शान्त वृत्ति वाले बन गये ।

धर्म प्राप्त किये हुए सन्तों का यह लक्षण है । उनके समीप आनेवाला उपशान्त बनता ही है ।

आप यह नहीं मानें कि भगवान मात्र बोल कर ही उपकार करते हैं उनके अस्तित्व मात्र से भी उपकार होता रहता है, यह समझना पड़ेगा ।

अभिमान की इन्द्रभूति मात्र भगवान का दर्शन करता है और एकदम शीतल हो जाता है, अभिमान का पर्वत चूर-चूर हो जाता है । यह प्रभु की समीपता मात्र का प्रभाव था ।

भगवान के पास ३६३ पाखंडी बैठते थे, परन्तु चूं भी नहीं कर सकते थे । यह प्रभु का प्रभाव था ।

पशु-पक्षी, मानव आदि भगवान के सामीप्य मात्र से धर्म पा जाते हैं । प्रभु के प्रभाव से उनका हृदय आनन्द से भर जाता है, मस्तक झुक जाता है तो समझो काम हो गया । बीजाधान हो गया । भगवान को देखकर प्रसन्न होना ही योग का बीज है ।

इसी प्रकार से जंगल में निवास करनेवाले योगी भी विश्व पर उपकार करते हैं । उनके अस्तित्व मात्र से उपकार होता रहता है ।

योगी से शान्त बना एक सिंह योगी का प्रभाव फैलाने के लिए समीप की एक पल्ली में गया । वहां के सरदार के तीर छोड़ने पर सिंह ने निशान चूका दिया और वह सिंह मानव भाषा में बोला, 'यदि ये योगी मुनि मुझे नहीं मिले होते तो मैं तुझे मार डालता ।'

चोरों का वह सरदार जंगल में योगी को देखने के लिए योगी के पास आया ।

ऐसे महान योगी के विषय में अन्य तो क्या विचारें । सुन कर आश्चर्य होगा कि ऐसे योगी भी माया और मान से घिर सकते हैं ।

पुष्प में सुगन्ध प्रकट होती है तब उसे फैलानेवाला वायु तैयार ही होता है । मानव में गुण प्रकट होते हैं तब उन गुणों की सौरभ फैलती ही होती है । इसके लिए किसी प्रकार के प्रचार की आवश्यकता ही नहीं पड़ती ।

उनके गुणों की सुगन्ध पिता के पास पहुंची । वे उन पुत्र-मुनि के पास गये । प्रशंसा करने पर कुछ फूलकर उन्होंने कहा, “मुझे क्या पूछते हो ? मेरे प्रभाव के विषय में जानना हो तो मेरे इस शिष्य को पूछो । अन्य के मुंह से अपनी प्रशंसा करने की इस वृत्ति से माया मृषावाद से वे योगी हार गये ।

आत्मा के मुख्य दो गुणों को (सम्यक्त्व एवं चारित्र) रोकने वाला मोहनीय मजबूत बैठा हो तब तक ज्ञानावरणीय का चाहे जितना क्षयोपशम हो गया हो, चाहे कोई नौ पूर्व तक का अध्ययन कर ले, परन्तु उसका संसार यथावत् रहेगा ।

दूसरे को रोकने के लिए एक ही कर्म-प्रकृति है, परन्तु दर्शन-गुण को रोकने के लिए सात प्रकृति हैं ।

‘मोह-पराजय’ शीर्षक नाटक पढ़ो तो इसका स्वरूप एकदम स्पष्ट रूप से ध्यान में आयेगा । उपमिति पढ़ो तो भी ध्यान आयेगा ।

* कषाय भी अत्यन्त शक्तिशाली है । जब वे आते हैं तब सपरिवार आते हैं । आगे किसी को करते हैं, दूसरे पीछे छिपे रहते हैं । उदाहरणार्थ अहंकार पीछे रहकर क्रोध को आगे करता है ।

जब तक हम सोते रहेंगे तब तक ही कषायों के ये चोर जीतते रहेंगे ।

सोना अर्थात् अज्ञान (अविद्या) दशा में सोना ।

जागना अर्थात् ज्ञान-दशा में रहना ।

प्रारम्भ में आप क्रोध आदि को हटा दो तो भी भरोसे

पर न रहें - मैं ज्ञानदशा में जग गया हूं, मुझे कोई चिन्ता नहीं है - ऐसे मिथ्याभिमान में न रहें । शहाबुद्दीन घोरी की तरह वे बार-बार चढ़ाई करेंगे । भरोसे पर रहनेवाले कितने ही 'पृथ्वीराज' यहां पराजित हो गये हैं ।

विशेषतः उपवास का पारणा हो, अपना चित्त व्यग्र हो, तब क्रोध आदि कषाय तुरन्त ही आक्रमण करते हैं । आपकी बात नहीं करता, मुझ पर भी आक्रमण करते हैं । वासक्षेप प्राप्त करने के लिए अधिक भीड़ हो गई हो, मन व्यग्र हो, तब मैं तनिक कषाय-ग्रस्त हो जाता हूं ।

राग-द्वेष एवं विषय-कषायों से ग्रस्त होकर हम एक नहीं, अनन्त जीवन हार गये हैं । अब यह जीवन इस प्रकार व्यर्थ नहीं खोना है, इतना निश्चित कर लो ।

ॐ ॐ ॐ

सफलता के सात सूत्र

१. व्यसनो से मुक्ति
२. व्यवसाय में नीति
३. व्यवहार में शुद्धि
४. व्यवस्था की शक्ति
५. वक्तृत्व में नमस्कृति
६. प्रतिकूलता में धृति
७. परमात्मा की भक्ति



पालिताना, वि.सं. २०५६

९-७-२०००, रविवार
आषाढ़ शुक्ला-८ : पालीताणा

* मुक्ति मार्ग में सहायक हों उस प्रकार भगवान हमेशा धर्मदेशना देते रहे और गणधर भगवान उनका संग्रह करते रहे । जिनवचनों के उस संग्रह को हम आगम कहते हैं । यदि ये आगम हमें नहीं मिले होते तो अपना क्या होता ?

श्री हरिभद्रसूरिजी के शब्दों में कहें तो...

‘हा ! अणाहा कहं हुंता न हुंतो जइ जिणागमो ।’

सूर्य-चन्द्र की अनुपस्थिति में छोट सा दीपक घर को ज्योतिर्मय करता है, उस प्रकार आगम अपने आत्म-गृह को ज्योतिर्मय करते हैं ।

आगम एवं जिन-बिम्ब दो ही इस कलिकाल में आधार रूप हैं ।

‘कलिकाले जिनबिम्ब जिनागम भवियणकुं आधारा...’

- पं. वीरविजयजी म.सा.

तीर्थ की स्थापना के समय ही दोनों का निर्माण हो जाता है । समवसरण में भगवान के चार रूप हुए और (तीन रूपों में) जिनबिम्ब का निर्माण हो गया । भगवान बोले और आगमों का निर्माण हो गया ।

* भगवान हमारे समक्ष ही हों फिर भी अपने हृदय में उपस्थित न हों तो क्या मतलब ? भगवान समक्ष न हों फिर भी आपके हृदय में उपस्थित हों तो 'सामने रहे हुए' ही कहलाते हैं। इसी लिए लोगस्स में 'अभिधुआ' लिखा। 'अभिधुआ' अर्थात् 'सामने स्थित भगवान की मैंने स्तुति की।' भगवान मानस प्रत्यक्ष हो तब ही ऐसा बोल सकते हैं।

भगवान का नाम केवल अक्षर नहीं है।

भगवान की मूर्ति केवल पत्थर का आकार नहीं है, परन्तु साक्षात् भगवान हैं। भक्ति-मार्ग में आगे बढ़ना हो तो यह सत्य समझना पड़ेगा।

हम नित्य भगवान की स्तुति में एक श्लोक बोलते हैं -

"मन्त्रमूर्ति समादाय, देवदेवः स्वयं जिनः।

सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः, सोऽयं साक्षात् व्यवस्थितः॥"

* भगवान सर्वज्ञ हैं और 'सर्वगः' भी हैं। 'सर्वगः' अर्थात् सर्वव्यापी। सर्वं गच्छति इति सर्वगः। सर्वत्र फैल जाय वह 'सर्वगः'।

एक ही शर्त है - मन स्वच्छ करो, पवित्र करो। मन स्वच्छ बना तो भगवान मन में आ गये ही समझें।

मन विषय-कषाय से मलिन बना हुआ है। ज्यों ज्यों विषय-कषाय घटते जायें, त्यों त्यों मन स्वच्छ बनता जाता है।

विषय-कषायों के कारण से अनादि काल से नित्य कर्म-बन्ध चालु ही है। इन कर्मों के कारण ही अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त ऐश्वर्य भीतर ही विद्यमान होने पर भी जीव जड़वत् बन गया है। अनन्त सुख पास में होने पर भी जीव बाहर भटक रहा है।

एक बार आत्मा ने अपना स्वरूप देख लिया, तो उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिए वह तैयार होगी ही।

साधु-जीवन यह स्वरूप प्राप्त करने के लिए ही हैं, यह न भूले।

गुरु महाराज ने अपने विनय एवं वैराग्य पर विश्वास करके हमें साधु-जीवन दिया, यह मान कर कि भले इस समय समझ नहीं है, परन्तु समझ आयेगी तब स्वरूप-प्राप्ति के लिए यह जीव

अवश्य प्रयत्न करेगा । साहुकार को उसकी साख पर विश्वास करके ही ऋण दिया जाता है ।

द्रव्य दीक्षा को आप कम लाभदायक न मानें ।

गोविन्द नामक पण्डित ने जैन-दर्शन को पराजित करने के लिए ही दीक्षा अंगीकार की थी, परन्तु यहां आने के पश्चात् उनका हृदय परिवर्तित हो गया और द्रव्य-दीक्षा भाव-दीक्षा में बदल गई ।

छठा-सातवां गुण-स्थानक मिले या न मिले, परन्तु चौथा गुणस्थानक सम्यग्दर्शन मिल जाये तो भी साधु-जीवन सफल बना मानें ।

सम्यग्दर्शन के लिए आनन्दधनजी के समान तड़प चाहिये ।

“दरिसण दरिसण रटतो जो फिरूं, तो रण-रोझ समान...”

नारदीय भक्तिसूत्र में कहा है -

“तस्मिन् (परमात्मनि) प्रेमस्वरूपा भक्तिः ।”

प्रभु के प्रति प्रेम बढ़ने पर प्रभु में तन्मयता बढ़ेगी ।

हम सीधे ही तन्मयता के लिए प्रयत्न करते हैं, परन्तु उससे पूर्व के दो सोपानों को भूल जाते हैं । तन्मयता से पूर्व प्रेम और पवित्रता चाहिये ।

पहले प्रभु पर प्रेम करो ।

प्रेम होने के पश्चात् पवित्रता आयेगी ।

उसके बाद तन्मयता आयेगी ।

सीधे तन्मयता लेने जाओगे तो दुर्दशा होगी । छस लेने के लिए जाओगे और दोणी खो बैठोगे । ‘लेने गई पूत, खो आई खसम’ जैसी दशा होगी ।

जो मनुष्य तन्मयता पाने के लिए सांस के निरीक्षण में ही पड़ गये, वे उभयभ्रष्ट बन गये हैं ।

भगवान जहां न हों वैसी किसी साधना में पड़े ही नहीं ।

* भगवान का नाम, भगवान का आगम, भगवान का संघ, भगवान के सात क्षेत्रों में सर्वत्र भगवान देखो ।

* कुछ अंशों में कर्म हलके हुए हों तब ही भगवान प्रिय लगते हैं । उससे पूर्व भगवान की ऐसी बातें बकवास लगेंगी । कोई श्रेष्ठ काल हो, कर्म हलके हुए हों, तब ऐसी बातें सुनते

ही भगवान के प्रति प्रेम होने लगता है । स्वाति नक्षत्र हो, सीप का मुंह खुला हो और वर्षा की एक बूंद गिरे और कैसा मोती बन जाता है ?

अनन्तानुबंधी कषाय पड़े हो तब तक मन में निर्मलता नहीं आती । निर्मल नहीं बने मन में प्रभु प्रतिबिम्बित नहीं होते ।

* प्रभु के प्रेम में लीन बना व्यक्ति सदा निर्भय होता है । भगवान अभय हैं और अभय के दाता भी हैं । भक्ति करनेवाला भक्त कदापि भयभीत नहीं होता । जब तक भय हो तब तक समझें कि अभी तक भक्ति जमी नहीं है ।

सम्पूर्ण उज्जैन नगरी भयभीत थी तब मयणा अकेली निर्भय थी । उसने सास को कह दिया, 'भगवान की भक्ति के प्रभाव से मैं कह सकती हूं कि आज आपके पुत्र (श्रीपाल) आने ही चाहिये ।'

मयणा की बात सचमुच सत्य हुई । भगवान की भक्ति के द्वारा मिलती निर्भयता का यह उत्कृष्ट नमूना है ।

* अनन्तानुबंधी कषाय सम्यग्दर्शन नहीं आने देते । अनन्तानुबंधी कषायों के साथ नियमा मिथ्यात्व होता है । जब तक मिथ्यात्व हो तब तक देहाध्यास दूर नहीं होता । देह में ही आत्मा के दर्शन होते हैं । मिथ्यात्व देव-गुरु में विश्वास करने नहीं देता । धन्वन्तरी जैसे वैद्य सामने हों, देह में दर्द भी हो, परन्तु रोगी वैद्य की बात मानने के लिए तैयार ही नहीं हो तो क्या करें ? मिथ्यात्वी की ऐसी दशा होती है ।

मारवाड़ प्रदेश में खुजली का एक रोगी जा रहा था । सामने से एक वैद्य जड़ीबूटियों का भार उठाकर आ रहा था ।

रोगी ने कहा, "मुझे घास की सली दो ।"

वैद्य - सली का क्या काम है ?

"मुझे खाज करने के लिए चाहिये ।"

"इसके बजाय यह पुड़िया ले । तेरी खाज मिट जायेगी । सली की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी ।"

"नहीं, खाज मिट जायेगी तो खाज करने का आनन्द कैसे प्राप्त कर सकूंगा ? अतः पुड़िया नहीं, सली चाहिये ।"

ऐसी ही दशा अपनी है ।

भगवान द्वारा बताई गई भाव-औषधि स्वीकार करने के लिए हम तैयार नहीं हैं, परन्तु विषय-तृष्णा बढ़ाने वाले पदार्थ हमें चाहिये ।

इसी का नाम मिथ्यात्व है ।

* कल मैंने जिस योगी की कथा कही थी, माया के कारण उसे आगामी जन्म में स्त्री (राजकुमारी) बनना पड़ा और वह शिष्य हरि विक्रम राजा हुआ ।

यह दृष्टान्त यह बताता है - ज्यों ज्यों आप साधना की ऊंचाई पर चढ़ते रहते हो, त्यों त्यों खतरा भी बढ़ता जाता है । लक्ष्य पूरा न हो तब तक कदापि पालथी लगा कर बैठना नहीं है । केवलज्ञान-मोक्ष न मिले तब तक लक्ष्य पूर्ण होनेवाला नहीं है ।

साधु-जीवन में कंचन-कामिनी का त्याग हो गया है, परन्तु कीर्ति ? समस्त लालसा कभी कीर्ति में एकत्रित हो जाती है । कंचन-कामिनी के त्यागी भी कीर्ति की लालसा का त्याग कर सकते नहीं हैं ।

प्रसिद्धि की अत्यन्त उत्कण्ठा जगे तो आत्मा को पूछें - आत्मन् ! क्या तू गुणों से पूर्ण है ? क्या समस्त गुण तुझमें आ गये ? यदि गुण नहीं आये हों तो प्रसिद्धि का मोह कैसा ? आत्म-प्रशंसा कैसी ? यदि तू समस्त गुणों से पूर्ण हो तो प्रसिद्धि का मोह क्यों ? क्योंकि गुणवान् को प्रसिद्धि का मोह होता ही नहीं है । प्रसिद्धि की लालसा ही स्वयं दोष है । यदि तू गुण-रहित हो तो आत्म-प्रशंसा की इच्छा रखने का अधिकार ही नहीं है ।

“गुणैर्यदि न पूर्णोऽसि, कृतमात्मप्रशंसया ।

गुणैरेवासि पूर्णश्चेत्, कृतमात्मप्रशंसया ॥”

- ज्ञानसार, १८-१

ॐ ॐ ॐ





११ दीक्षा प्रसंग, भुज, वि.सं. २०२८, माघ शु. १४

१०-७-२०००, सोमवार
आषाढ़ शुक्ला-९ : पालीताणा

* भगवान् कृत कृत्य हैं, फिर तीर्थ-स्थापना क्यों करें ? तीर्थकर नामकर्म का क्षय करने के लिए ही तीर्थ की स्थापना करते हैं, इतना सोचकर बैठ जाना पर्याप्त नहीं है । इस विचार से आपके अन्तर में भगवान् के प्रति भक्ति भाव नहीं जगता । भगवान् ने तो अपने कर्मों के क्षय के लिए तीर्थ की स्थापना की । इसमें करुणा कहाँ आई ? क्या ऐसा विचार भक्ति जगने देगा ?

भगवान् का अपना दृष्टिकोण हम अपना लें तो भक्ति-मार्ग में कदापि प्रवेश नहीं कर सकते ।

भगवान् ने परम करुणा करके अपने जैसों का उद्धार करने के लिए तीर्थ की स्थापना की है । यह विचार ही हृदय को कैसा गद्गद कर देता है ? ऐसे विचार के बिना भक्ति नहीं जगेगी, समर्पण-भाव नहीं जगेगा ।

* भगवान् की भक्ति के बिना कर्म नहीं पिघलते । कर्म पिघले बिना भीतर रहे परमात्मा नहीं प्रकट होंगे ।

हम पलपल कर्म बांधते ही रहते हैं । अब भी कर्मों का

नित्य बन्धन चालु ही है । कितनेक कर्म तो ऐसे होते हैं जो उदय में आकर क्षीण तो होते हैं, परन्तु सर्वथा जाते नहीं हैं । वे अपना स्थान अपने सजातीय कर्मों को देते जाते हैं । जैसे क्रोध मोहनीय कर्म के उदय से क्रोध आया तो क्या हुआ ? क्रोध मोहनीय कर्म की निर्जरा हुई वैसे उसका बन्ध भी हुआ ।

* हमारा उपदेश, हमारी प्रेरणा कर्मों में से आपको मुक्त करने के लिए ही होती है । हम आपको वासक्षेप किस भाव से डालते हैं ? आप चाहे दुकान, आरोग्य आदि के हजार प्रश्न लेकर वासक्षेप डलवाने आते हो, परन्तु हम क्या बोलते हैं ? नित्यार-पारगा होह । कर्मों का क्षय करके आप संसार से पार उतरें ।

* अब इतना निश्चय करो कि पुराने कर्मों का मुझे क्षय करना है और नये कर्म बांधने नहीं हैं । कदाचित् यह सम्भव न हो तो कर्मों के अनुबन्ध तो चालु रहने देना ही नहीं है । कर्मों के अनुबन्ध टूट जायें तो भी काफी काम हो जाये ।

* कर्मों का कानून कठोर है । त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में बंधे हुए कर्म ठेठ भगवान महावीर के भव में उदय में आ सकते हों. कर्म भगवान को भी नहीं छोड़ते हों तो हम कौन हैं ?

कर्म का कानून बदला नहीं जा सकता, परन्तु कर्म में से मुक्त हुआ जा सकता है । कर्मों से मुक्त होने के लिए देव-गुरु-धर्म की शरण में जाना पड़ेगा ।

कर्म-साहित्य का अध्ययन केवल कर्म प्रकृतियों को गिनने के लिए नहीं है, विद्वत्ता बताने के लिए नहीं है, परन्तु उन कर्मों का नाश करने के लिए है । यह बात विशेष तौर पर ध्यान में रखें ।

* जब तक तीव्र कषाय का क्षय अथवा उपशम न हो तब तक भीतर विद्यमान परम सत्ता की झलक नहीं दिखेगी ।

जिम निर्मलता रे रतन स्फटिक तणी, तिम ए जीव स्वभाव;
ते जिन वीरे रे धर्म प्रकाशियो, प्रबल कषाय अभाव ।"

- उपा. यशोविजयजी म. - १२५ गाथाओं का स्तवन

प्रबल कषाय अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय ।

संवत्सरी का प्रतिक्रमण अनन्तानुबंधी कषाय के नाश के लिए

ही है। केवल क्रोध की ही बात नहीं है, अनन्तानुबंधी चारों कषायों का नाश करना है।

अभिमान के कारण क्रोध आता है। अतः क्रोध के पश्चात् मान। भीतर खाली होते हुए भी मान-प्रतिष्ठा की आवश्यकता हो तो माया-प्रपंच करके मिथ्या छवि खड़ी करनी पड़ती है, अतः तीसरा कषाय माया है। माया करके मनुष्य धन-संग्रह करता रहता है, लोभ बढ़ाता रहता है। अतः चौथा कषाय है लोभ।

अनन्तानुबंधी कषायों के क्षय अथवा उपशम के बिना मिथ्यात्व नष्ट नहीं होता। मिथ्यात्व नष्ट हुए बिना सम्यग्दर्शन नहीं आता। सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा जैनत्व नहीं आता।

अनन्तानुबंधी कषाय रहेंगे तो अन्त समय में समाधि नहीं रहेगी।

* शरीर का परिवार, शरीर का भोजन याद आता है, परन्तु आत्मा का कुछ याद नहीं आता।

शरीर को भोजन नहीं मिले तो चिन्ता होती है। आत्मा को भोजन नहीं मिले तो क्या उसकी चिन्ता होती है ?

क्या आप यह समझते हैं कि भगवान की भक्ति, गुरु की सेवा, शास्त्र का स्वाध्याय इत्यादि आत्मा का भोजन है ?

पूर्व पुन्य के योग से इतनी और ऐसी सामग्री मिलने पर भी हम उदासीन रहें तो वह हमारी सबसे बड़ी करुणा गिनी जायेगी।

इतने अधिक दोष सेवन करके आप सबको यहां पालीताणा में क्यों रखा गया है ? ऐसा ही जीवन जीने के लिए आपको यहां रखा गया है कि कुछ परिवर्तन लाने के लिए ?

* 'ज्ञानसार' का रहस्य लोग बराबर नहीं समझ सकेंगे यह समझकर उपा. यशोविजयजी ने स्वयं उस पर गुजराती टबा लिखा है। छोट सा टबा भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

खरतरगच्छीय पू. देवचन्द्रजी ने उस पर 'ज्ञानमंजरी' नामक टीका लिखी। यहां कोई गच्छ का भेदभाव नहीं है। उन्होंने यशोविजयजी को भगवान के रूप में सम्बोधित किया है। यह सच्चा गुणानुराग है।

* लगभग डेढ़ वर्ष का बालक अचानक खड़े में गिर गया। वहां पड़े सांप को रस्सी समझ कर वह पकड़ने गया। इतने में

मां की नजर उस पर पड़ी । दौड़ती-दौड़ती आती हुई माताने यह देखते ही बालक को एकदम खींच लिया । बिचारे बालक को खरोंचें लग गई और वह रोने लगा । यहां माता ने उचित किया या अनुचित ? बालक को इच्छित वस्तु नहीं लेने दी यह उचित किया या अनुचित ?

गुरु भी मां है । कई बार गुरु इच्छित कार्य न करने दें, खरोंचें लें वैसे वचन सुनायें । उस समय भी गुरु हित के लिए ही ऐसा करते हैं, यह सोचें । जो व्यक्ति गुरु में 'माता' के दर्शन करेंगे वे तर जायेंगे ।

कभी क्रोध करते, कभी कड़वा उपालंभ देते, कभी कठोर बनते गुरु में यदि आप माता के दर्शन करोगे तो उनके हृदय में रही अपार करुणा दृष्टिगोचर होगी ।

यह देखने के लिए आपके पास बालक का हृदय चाहिये और भक्त की आंख चाहिये ।

* नवकार मंत्र के प्रभाव से उस मुसलमान ने पानी निकाल दिया । वणिक् ने उक्त गुप्त विद्या देने का आग्रह किया तब उस मुसलमान ने सद्गुरु द्वारा प्रदत्त नवकार मंत्र सुनाया । "यह तो हमें आता है । यह कोई विद्या है ? यह तो नवकार है ।" वणिक् ने उत्तर दिया ।

अपनी दशा भी उस वणिक् जैसी है । जानते हैं बहुत, परन्तु हृदय में श्रद्धा नहीं है । इसमें क्या ? यह तो आता है । यह कहकर निकाल देते हैं ।

निद्राधीन व्यक्ति को जगाया जा सकता है, पर जागृत व्यक्ति को किस प्रकार जगायें ? अज्ञानी को बताया जा सकता है, परन्तु जानकार को कैसे बता सकते हैं ? इस दृष्टि से जाननेवालों की सभा में व्याख्यान देना अत्यन्त कठिन है ।

* अपना अन्तरंग परिवार अपने पास होते हुए भी हम उनके साथ सम्बन्ध जोड़ नहीं सकते, क्योंकि भगवान के साथ सम्बन्ध जोड़ा नहीं है ।

“तुम न्यारे तब सब ही न्यारा,
अन्तर कुटुंब उदार;

तुम ही नजीक-नजीक सबही हैं,

ऋद्धि अनंत अपारा ।"

भगवान जब समीप होते हैं तब अपना आंतर कुटुंब समीप होता है ।

भगवान दूर तो सब दूर ।

भगवान निकट तो सब निकट ।

अन्त समय में माता, पिता, भाई, बंधु, मित्र, पुत्र अथवा पत्नी कोई काम नहीं आते । केवल अंतरंग-परिवार, मात्र भगवान का प्रेम ही काम आयेगा ।

भगवान महावीर का निर्वाण हुआ तब गौतम स्वामी रोये । आदिनाथ गये तब भरत रोये । ये आंसू उन्हें केवलज्ञान के मार्ग पर ले गये । इन आंसुओं की प्रत्येक बूंद में प्रभु के प्रेम का सिन्धु छलकता था ।

दूसरों का प्रेम मारता है !

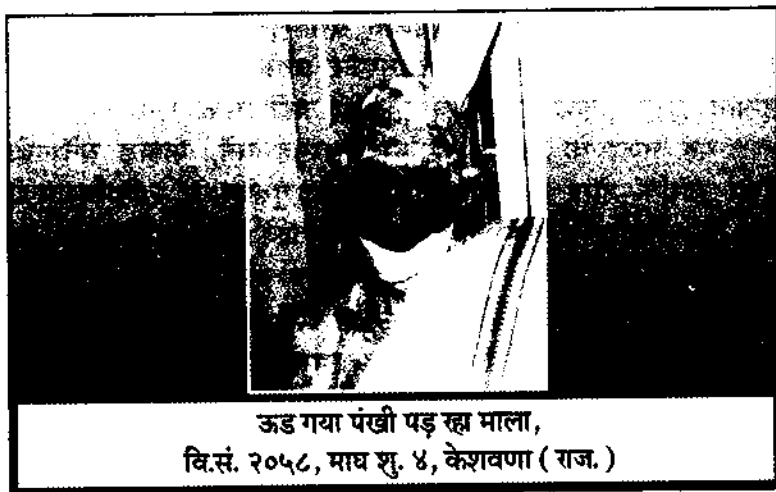
प्रभु का प्रेम तारता है !!

* संयम में आवश्यकता हो वह उपकरण है । उससे अधिक वह अधिकरण है । यदि यह सूत्र याद रखोगे तो अधिक संग्रह करने की इच्छा कदापि नहीं होगी ।

हमारे गुरुजी (पू. कंचनविजयजी म.) एकदम फक्कड़ थे । अत्यन्त निःस्पृही थे । उनके स्वर्गवास के पश्चात् उनकी उपधि में केवल दो ही वस्तु रही थी - संथारा एवं उत्तरपट्टा ।

उनके कारण हम में भी कुछ अंशो में ऐसी वृत्ति आ गई । हम पांच (पू. कमलविजयजी म., पू. कलापूर्णसूरिजी म., पू. कलहंसविजयजी म., पू. कलाप्रभवविजयजी म. तथा पू. कल्पतरु-विजयजी म.) विहार करते तब कोई श्रमिक या सेवक साथ नहीं रखते थे । वैसे ही निकल पड़ते थे । एक बार श्रमिक देरी से आने के कारण पोटले की वस्तुएं स्वयं उठा ली और तब से श्रमिक को सदा के लिए बिदाई दे दी ।

चाहे जितना संग्रह करो । मृत्यु के समय कुछ भी साथ नहीं आयेगा । यह तो हम जानते ही हैं न ? या गृहस्थों को कहने के लिए ही जानते हैं ?



ऊड़ गया पंखी पड़ रहा माला,
वि.सं. २०५८, माघ शु. ४, केशवणा (राज.)

११-७-२०००, मंगलवार
आषाढ़ शुक्ला-१० : पालीताणा

* तारता है वह तीर्थ है । जिसके आलम्बन से तरा जा सके वह तीर्थ है । द्वादशांगी, चतुर्विध संघ एवं प्रथम गणधर तीर्थ हैं ।

इस समय इन तीनों में से गणधर भले ही नहीं हैं, परन्तु उनका परिवार विद्यमान है ।

इस तीर्थ की सेवा करो, मोक्ष हथेली में है ।

‘तीर्थ सेवे ते लहे, आनंदघन अवतार ।’

- पू. आनंदघनजी

* एक ओर हम आनन्द के लिए भटकते हैं, परन्तु आनन्द-दायक उपायों से दूर रहते हैं ।

वास्तव में तो आनन्द का पिण्ड अपने भीतर ही पड़ा है । एक ही आत्म-प्रदेश में इतना आनन्द है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में नहीं समाये, परन्तु हम उसे देख नहीं सकते, अनुभव नहीं कर सकते । इसीलिए अन्यत्र भटक रहे हैं ।

* उद्यान अथवा वाटिका पानी की नीक के बिना हरे-भरे नहीं रहते, उस प्रकार श्रद्धायुक्त ज्ञान न हो तो आत्म-गुणों

का उद्यान हरा-भरा नहीं रह सकता ।

आत्मा पर पड़े कर्म के समूह ज्यों ज्यों कम होते जायें त्यों त्यों आन्तरिक आनन्द की रुची बढ़ती है, भीतर की पूर्णता प्रकट करने की इच्छा होती है ।

पूर्णता का खजाना भीतर पड़ा ही है, प्रकट करें उतनी देरी है ।

“परम निधान प्रगट मुख आगले,
जगत उलंघी हो जाय;
ज्योति विना जुओ जगदीशनी,
अंधो अंध पुलाय ।”

- पू. आनंदघनजी म.सा.

इस काल में भी इस पूर्णता का खजाना कुछ अंशों में प्राप्त किया जा सकता है । जिन्होंने ने कुछ अंशों में उसे प्राप्त किया है, उनके ये उद्गार हैं ।

* प्रभु अन्तर्यामी है, घट-घट में रमण करने वाले हैं । स्तवन में भी हम बोलते हैं - “अन्तर्यामी सुण अलवेसर” यह स्तवन अनेक बार बोलने पर भी भगवान अन्तर्यामी किस प्रकार है, उस पर हम कदापि विचार नहीं करते ।

परम चेतनारूप प्रभु भीतर ही है । केवल नेत्र खोलकर देखने की आवश्यकता है ।

इसीलिए प्रतिदिन प्रभु के दर्शन करने हैं । प्रभु को देख-देख कर भीतर विद्यमान प्रभु को प्रकट करना है ।

“तुझ दरिसण मुझ वालहो, दरिसण शुद्ध पवित्र;
दरिसण शब्द नये करे, संग्रह एवम्भूत ।”

- पू. देवचन्द्रजी म.सा.

* स्थापना के रूप में रहे प्रभु के दर्शन अपने भीतर के प्रभु को प्रकट करने का कारण हैं । इसे ही अजैन लोग आत्म-दर्शन कहते हैं । आत्मदर्शन होते ही विश्व का सम्यग्दर्शन होता है, विश्वदर्शन होता है ।

अन्तर्यामी अर्थात् अन्तर को जाननेवाले । ‘या’ धातु का अर्थ जानना भी होता है । प्रभु भीतर विद्यमान हैं तथा भीतर के ज्ञाता भी हैं ।

प्रभु 'अन्तर्यामी' हैं अर्थात् घट-घट में विद्यमान हैं, विश्वव्यापी हैं । प्रभु अन्तर्यामी हैं अर्थात् सर्वज्ञ है । सब का सब जानने वाले हैं ।

यह बात यदि निरन्तर नजर के समक्ष रहे तो प्रभु की प्रभुता के प्रति कितना बहुमान उत्पन्न हो ?

समुद्घात की बात मैं अनेक बार कह चुका हूँ । समुद्घात के चौथे समय में प्रभु सचमुच अन्तर्यामी बनते हैं, विश्वव्यापी बनते हैं । उनकी चेतना सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैल जाती है । मानो प्रभु अन्त में सब जीवों को मिलने के लिए आते हैं, सन्देश देने के लिए आते हैं -

“प्रिय बन्धुओ ! मैं जाता हूँ । आपको अन्तिम समय मैं मिलने के लिए आया हूँ । आप सभी मैं जहाँ जा रहा हूँ वहाँ आये ।”

भगवान इस प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड को पवित्र बनाते हैं । उस समय भगवान द्वारा छोड़े गये पवित्र कर्म पुद्गल इसी ब्रह्माण्ड में फैल जाते हैं । प्रभु के वे पुद्गल हमारे भीतर पवित्रता का संचार कर रहे हैं - यह कल्पना भी कैसी हृदयंगम है ?

इस समस्त घटना में भगवान की करुणा देखो । करुणा-सागर प्रभु से प्रार्थना करो - भगवन् ! आपकी कृपा से ही मैं निगोद से बाहर निकलकर ठेठ यहाँ तक पहुँचा हूँ । अब आपको ही मेरा उद्धार करना है । अब आप उपेक्षा करोगे तो नहीं चलेगा ।

आप मुँबई से यहाँ वाहन से आये हैं, पैदल चलकर नहीं आये । उसी प्रकार से यहाँ तक आप प्रभु की कृपा के बल से आये हैं, आप अपनी शक्ति से नहीं आये; परन्तु आपको अन्य सब दिखाई देता है, केवल भगवान की करुणा नहीं दिखाई देती । पानी में आप भारी लकड़ा खींच लेते हैं, जिसमें पानी भी सहायक होता है न ? यहाँ भगवान भी सहायक बनते हैं, क्या यह समझ में आता है ?

वाहन के बिना तो फिर भी आप यहाँ आ सकते हैं, परन्तु प्रभु की कृपा के बिना आप यहाँ तक (मानव भव तक) नहीं आ सकते हैं ।

भगवान की करुणा आप को नहीं समझ में आती, इसी-

लिए भक्ति उत्पन्न नहीं होती । भक्ति नहीं जागने से धर्म में प्राण नहीं आता, चेहरे पर प्रसन्नता की लालिमा नहीं आती । अपना धर्म सूखा-सूखा लगता है ।

हमें ही नहीं, कई बार बड़े विद्वानों को भी भगवान की करुणा समझ में नहीं आई, सिद्धार्थ जैसे विद्वान को भी समझ में नहीं आई थी । इसीलिए वे बौद्ध दर्शन के प्रति आकर्षित हुए थे । बुद्ध महान् कारुणिक दिखाई दिये, अरिहंत मात्र वीतराग ही दिखाई दिये ।

यह तो भला हो 'ललित विस्तर' का कि जिसके योग से उन्हें भगवान की परम कारुणिकता समझ में आई और वे जैन-दर्शन में स्थिर हुए ।

भला हो पूज्य पं. भद्रंकरविजयजी महाराज का कि जिन्होंने हमें इन 'ललित विस्तर' आदि ग्रन्थों के द्वारा भगवान की करुणा समझाई, अन्यथा, पता नहीं हम कहां होते ?

करुणा-सिन्धु प्रभु की करुणा निरन्तर नजर के समक्ष रखोगे तो आपके हृदय में भक्ति की लहर उठे बिना नहीं रहेगी, सचमुच यदि भीतर 'हृदय' नामक वस्तु होगी तो । पत्थर में तरंगे उत्पन्न नहीं होती, परन्तु पानी में तरंगे उत्पन्न न हो, यह कैसे होगा ? हमारा हृदय पत्थर है या पानी ?

पानी के समान मृदु हृदय में ही भक्ति का जन्म होगा । भक्ति का जन्म होगा तो ही धर्म प्राणवान बनेगा ।

जब तक प्रभु के दर्शन न हों तब तक चैन से न बैठें । प्रभु को पुकारते ही रहें, प्रार्थना करते ही रहें ।

ये दयालु प्रभु आपको निश्चित रूप से दर्शन देंगे ।

यहां से नहीं मिलेंगे तो कहां से मिलेंगे ? यहां से नहीं मिले तो कहीं से भी नहीं मिलेंगे । अनन्य भाव से शरणागति करें । भक्ति में सातत्य रखें, फिर फल देखें । अपनी कमजोरी यह है कि सातत्य नहीं होता । सातत्य के बिना कोई भी अनुष्ठान सफल नहीं होता ।

* भक्त को प्रभु के समक्ष सब प्रकार से प्रार्थना करने की स्वतंत्रता है । माता के समक्ष बालक चाहे जैसे चोचले करता ही है न ? भक्त कभी उपालम्भ देता है, कभी अपनी व्यथा व्यक्त

करता है, कभी भगवान के समक्ष कोई समस्या प्रस्तुत करता है, कभी "भगवान से भी मैं बड़ा हूँ" ऐसी विचित्र उक्ति भी करता है। भक्ति को सब स्वतन्त्रता है।

परन्तु ऐसा करने की इच्छा कब होती है ? जब भीतर प्रभु की अदम्य उत्कण्ठा उत्पन्न हो तब।

इस समय अपनी क्या क्या उत्कण्ठाएं हैं ? संसार की सभी उत्कण्ठाएं हृदय में भरी हुई हैं। एक मात्र प्रभु की उत्कण्ठा को छोड़कर। अदम्य उत्कण्ठा के बिना प्रभु कैसे रीझेंगे ?

पानी में डुबकी लगा कर व्यक्ति बाहर निकलने के लिए छटपटाता है अथवा पानी से बाहर पड़ी मछली पानी के लिए तड़पती है, वैसी छटपटहट, तड़पन हमारे हृदय में उत्पन्न होनी चाहिये।

प्रभु-दर्शन का चिन्ह क्या है ? आनन्द की लहर...

वर्षा बरसने के पश्चात् जैसे शीतल पवन की लहर आती है, उस प्रकार प्रभु की करुणा का स्पर्श होते ही भक्त के हृदय में प्रसन्नता एवं आनन्द की लहर उठती है।

"करुणा दृष्टि कीधी रे, सेवक ऊपरे।"

- पू. मोहनविजयजी

यह पंक्ति प्रभु की बरसी हुई करुणा से होती प्रसन्नता को व्यक्त करती है।

परन्तु प्रभु की करुणा-वृष्टि कब होती है ? जब हृदय में प्रभु की प्रीति प्रकट हो तब। इसीलिए लिखा है -

"प्रीतलडी बंधाणी रे अजित जिणंद शुं"

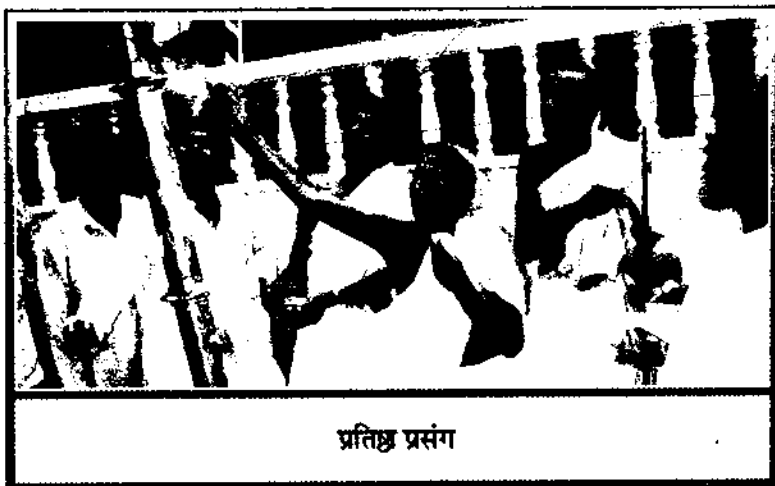
क्या प्रभु के साथ प्रीति हुई है ? प्रभु के साथ प्रीति हो, हुई हो तो प्रगाढ़ बने, इसीलिए ही यह स्तवन मैं बार बार बोलता हूँ, दिन में चार बार बोलता हूँ।

* अध्यात्म की, भक्ति की अनेक बातें पू. देवचन्द्रजी म.सा. करते थे, परन्तु सुने कौन ? उस समय भी (ढाई सौ वर्ष पूर्व) अध्यात्म रुचिवाले जीव बहुत कम थे।

देखें, उनके ही उद्गार -

"द्रव्य क्रिया रुचि जीवडा रे, भाव धर्म-रुचि हीन;

उपदेशक पण तेहवा रे, शुं करे लोक नवीन ?"



प्रतिष्ठ प्रसंग

१२-७-२०००, बुधवार
आषाढ़ शुक्ला-११ : पालीताणा

समस्त आचार्य भगवंतों का सामूहिक प्रवेश
(तलहटी में सामूहिक चैत्यवन्दन के पश्चात्)
पूज्य आचार्यश्री विजय कलापूर्णसूरिजी
(चातुर्मास - खीमईबेन धर्मशाला)

‘उपसर्गः क्षयं यान्ति’ । भगवान की भक्ति का यह प्रभाव है - उपसर्गों का क्षय हो जाये, विघ्नों की बेलों का विदारण हो जाये और चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो जाये ।

प्रसन्नता एक मात्र भगवान से ही प्राप्त होती है, संसार के किसी बाजार में प्रसन्नता नहीं मिलती । प्रसन्नता एवं आनन्द के फव्वारे के समान आदीश्वर दादा यहां बैठे हैं ।

* दादा की कृपा से समस्त आचार्य भगवंतों के प्रवेश से यहां आनन्द का कैसा माहौल (वातावरण) जमा है ? भिन्न-भिन्न समुदायों के आचार्य, साधु यहां एकत्रित हुए हैं, परन्तु क्या कहीं भिन्नता प्रतीत होती है ? चिन्ता न करें । पांचो महिने इसी तरह शान्ति से समस्त कार्य होंगे ।

पू. आचार्यश्री विजय जगवल्लभसूरिजी

(चातुर्मास - दादावाडी)

अरिहंत तुल्य देव, शाश्वत गिरि तुल्य तीर्थ और नवकार तुल्य मन्त्र... यह सब प्राप्त करके हम निष्क्रिय कब तक रहेंगे ? निष्क्रियता छोड़कर सक्रिय बनना है। केवल सक्रिय बनने से भी कार्य नहीं होगा। सत्क्रिय बनना है। (सत्क्रिय अर्थात् शुभ क्रियावाला) अन्त में अक्रिय बनकर सिद्धशिला पर अनन्त सिद्धों के साथ मिल जाना है।

पूज्य आचार्यश्री हेमचन्द्रसागरसूरिजी

(चातुर्मास - पन्नारूपा)

इस गिरिराज के प्रभाव का क्या वर्णन करें ?

पांच वर्ष पूर्व यहां जंबूद्वीप में हमारा चातुर्मास था, तब यहां आये हुए हिन्दु संन्यासियों को हमने पूछा था, “आप यहां किस लिये आये हैं ? आप तो दत्तात्रेय को मानते हैं। उनका स्थान तो गिरनार पर है।”

“गुरुदेव ! इस क्षेत्र के प्रभाव की आपको क्या बात करें ? गिरनार पर जो सिद्धि प्राप्त करने में ६ महिने लगते हैं, यहां पर वह सिद्धि छः दिनों में प्राप्त हो जाती है।”

आज भी इस गिरिराज पर अदृश्य गुफायें हैं। हमें गुफायें खोजने की आवश्यकता नहीं है। समस्त गिरिराज ही हमारे लिए पवित्र हैं।

पूज्य मुनिश्री धुरन्धरविजयजी महाराज

(चातुर्मास - सर्वत्र)

यहां आने का क्या प्रयोजन ? जिन दादा ने हमें बुलाया है, वे दादा प्रयोजन जानें। दादा यजमान हैं। हम सब अतिथि हैं। उत्तरदायित्व यजमान का होता है, अतिथि को क्या ?

एक आत्मा भी जहां समस्त कर्मों का क्षय कर के मोक्ष में जाती है वहां का क्षेत्र सिद्धात्मा द्वारा छोड़े गये तेजस शरीर के कारण परम पावन बन जाये, तो जहां अनन्तकाल से अनन्त अनन्त आत्मा समस्त कर्मों का क्षय करके सिद्ध हो चुके हों, वह क्षेत्र कितना पवित्र होगा ? कितना चार्ज किया हुआ फील्ड (क्षेत्र) होगा, उसकी आप तनिक कल्पना तो करें।



अग्नि में विलीन होता हुआ पूज्यश्री का पार्थिव देह व
अंतिम दर्शनार्थ लोगों की भीड़, शंखेश्वर, वि.सं. २०५८

१२-७-२०००, बुधवार
आषाढ़ शुक्ला-११ : पालीताणा

* प्रायश्चित्त ग्रन्थों को संक्षिप्त करके जिनभद्रगणि ने 'जीतकल्प' बनाया। द्रव्य आदि के ज्ञाता वे महापुरुष थे। सूत्रों को संक्षिप्त करने के साथ उन्होंने प्रायश्चित्तों को भी संक्षिप्त किया।

शिष्य तो गुरु से आलोचना ले लें, परन्तु गुरु को आलोचना कहाँ लेनी? स्वगुरु न हों तो स्वयं से ज्येष्ठ-वयस्क विद्यमान हों उनके पास लेनी चाहिये। वे भी न हों तो छोटे के पास ले लेनी परन्तु स्वयं नहीं लेनी चाहिये। वैद्य कदापि अपनी औषधि स्वयं नहीं लेता। यहाँ भी ऐसा है।

इस तरह प्रायश्चित्त से शुद्ध होने पर सद्गति होती है।

सद्गति का आधार वेष अथवा बाह्याचार नहीं, परन्तु आन्तर-परिणाम है।

शुभ ध्यान से सद्गति !

अशुभ ध्यान से दुर्गति !

* श्रावक कुल में जन्म प्राप्त करनेवाले माता-पिता अर्थात् सन्तानों के सच्चे अर्थ में कल्याण-मित्र ! अपनी सन्तान को वे कदापि दुर्गति में नहीं जाने देंगे। सन्तानों के ही क्यों? साधुओं

के भी माता-पिता हैं ।

चार प्रकार के श्रावक कहे गये हैं ।

माता-पिता, भाई, मित्र एवं सौतन जैसे (सौतन जैसे श्रावक साधुओं के मात्र दोष ही देखते रहते हैं ।)

आज भी श्री संघ में श्रमण संघ के प्रति इतना सम्मान विद्यमान है कि ऐसे भयंकर काल में भी जैन साधुओं को खाने, पीने, रहने या पहनने की चिन्ता करनी नहीं पड़ती ।

यह तीर्थंकरों का प्रभाव है । उनकी आज्ञा अमुक अंशों में भी पालन करते हैं, उसका प्रभाव है; इस तरह निरन्तर लगना चाहिये ।

ऐसा भी होता है कि वहोगने वाले पहले तर जायें और लेने वाले रह जायें । कुमारपाल का मोक्ष निश्चित है, हेमचन्द्रसूरिजी का मोक्ष अनिश्चित है । कौन पहला ? कौन अन्तिम ? यह तो अन्त में आन्तर परिणाम पर आधारित है ।

* आंखें देखती है परन्तु देखने वाला कौन है ?

कान सुनते है परन्तु सुनने वाला कौन है ?

पांव चलते है परन्तु चलने वाला कौन है ?

देखने वाले, सुनने वाले, चलने वाले उस आत्मा को ही हम भूल गये हैं । देह के पोषण में आत्मा का शोषण हो रहा है, कुछ समझ में आता है ?

आत्मा के भोजन के लिए कभी सोचा है ?

आत्मा के भोजन के लिए तृप्ति अष्टक पढ़ें...

प्रथम श्लोक ही देखो -

पीत्वा ज्ञानाऽमृतं भुक्त्वा क्रिया सुरलताफलम् ।

साम्यताम्बूलमास्वाद्य, तृप्तिं याति परां मुनिः ॥

- ज्ञानसार, १०-१

पैतालीस आगम पढ़ने से भी हमें जो न मिले (क्योंकि हमारे पास वैसी दृष्टि नहीं है) वह इस एक श्लोक में मिल जाता है ।

भोजन में मिठाई नहीं मिले तो नहीं चलता, तो यहां ज्ञान एवं भक्ति के बिना कैसे चले ? भक्ति एवं मैत्री आत्मा की मिठाई है ।

वि. संवत् २०१६ में आधोई के उपधान में 'गुलाब जामुन'

जैसी मिठाई होने पर भी नहीं चली क्योंकि किसी ने देखी नहीं थी । सबको लगा कि बकरी के गोबर जैसे ये क्या हैं ? पड़े रहे, परन्तु एक बार चखने के पश्चात् उसका असली स्वाद मालूम हुआ । आत्मा का स्वाद एक बार मिल जाये, फिर बाहर का सब फीका लगेगा ।

“तुज समकित रस स्वादनो जाण,
पाप कुभक्ते बहु दिन सेवियुं जी;
सेवे जो कर्मने जोगे तोहि,
वांछे ते समकित अमृत धुरे लिख्युं जी ।”

- उपा. यशोविजयजी म.सा.

* बाहर का भोजन अथवा पानी अधिक लिया जाये तो अजीर्ण हो जाता है, परन्तु यहां अधिक हो जाये तो भी अजीर्ण नहीं होता ।

“अति सर्वत्र वर्जयेत्” - यह उक्ति अन्यत्र सत्य होगी, यहां नहीं । पिओ, जितना ज्ञान का अमृत पी सको । खाओ, जितने खा सको किया सुलता के फल । अजीर्ण हो जाये तो जवाबदारी मेरी !

आत्मा तृप्त हो, इसके लिए ही तो हम सब एकत्रित हुए हैं ।

आज तलहटी में दृश्य देखा न ? सभी समुदायों के महात्मा कैसे प्रेम से एकत्रित हुए थे ? शासन अपना है । यहां कौन परया है ? यह उदार दृष्टि रखें ।

कई बार दो वर्ष हमारे पास अध्ययन करने के पश्चात् कोई मुमुक्षु कहता है - ‘अब मैं वहां दीक्षा लूंगा ।’

मैं उसे प्रेम से आज्ञा देता हूं । चाहे जहां दीक्षा ले । आखिर शासन एक ही है न ?

* आज प्रातः सबको दस मालाएँ गिनने की शपथ दी थी । यहां बैठे महात्माओं को भी दस माला गिनने का अनुरोध करता हूं । यह भी एक अभ्यंतर तप है ।

पांच प्रहर का स्वाध्याय नहीं कर सकते हो तो २० माला गिन लो । आपकी गिनती बकुश - कुशील में नहीं होगी । इसमें

समय नष्ट नहीं होगा । समय का सदुपयोग होगा । समय तो वैसे ही नष्ट हो रहा है ।

जाप की संख्या बढ़ने पर उसकी शक्ति भी बढ़ती है, अपनी चेतना-शक्ति बढ़ती है, आन्तर ऊर्जा बढ़ती है ।

कलिकाल सर्वज्ञ, समर्थ साहित्यकार श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने उनकी माता साध्वी पाहिनी के अन्त समय में एक करोड़ नवकार के जाप का पुण्यदान दिया था । उनको समय मिल जाये, परन्तु आपको समय नहीं मिलता ।

दादा की निश्रा में एकत्रित हुए हैं तो इतना अवश्य करें ।

सभी महात्मा इतना जाप करें तो अभ्यन्तर बल कितना बढ़ जाये ?

* समस्त आगम, वेद, पुराण, त्रिपिटक आदि समस्त शास्त्रों का सार एक 'ज्ञानसार' में समाविष्ट है । अधिक न हो सके तो एक 'ज्ञानसार' का अध्ययन तो कर ही लें - सूत्र, अर्थ एवं तदुभय से ।

दूसरों को पढ़ाने के लिए अथवा दूसरों को प्रभावित करने के लिए प्राप्त किया हुआ ज्ञान आत्म-कल्याणकर नहीं बन सकता ।

“भिन्नोद्देशेन विहितं कर्म कर्मक्षयाऽक्षमम् ॥”

- ज्ञानसार

उद्देश्य भिन्न होगा तो फल भी भिन्न मिलेगा ।

* 'ज्ञानसार' में ज्ञान के लिए तीन अष्टक हैं । आज कितने ही महात्मा ऐसे हैं जो अध्ययन में अत्यन्त ही आलसी हैं । अन्य समस्त प्रवृत्तियाँ वे इतने रस से करते हैं कि सब भूल जाते हैं, परन्तु पढ़ते समय ही 'समय नहीं' का बहाना बनाते हैं । “समय नहीं मिलता” यह बहाना भी सचमुच तो ज्ञान की अरुचि बताता है । रूचि हो तो चाहे जैसे करके भी मनुष्य समय निकालता है । क्या आप भोजन के लिए समय नहीं निकालते ?

* आप १० माला गिनें तो 'नमो' कितनी बार आता है ? छः हजार बार आता है । देववन्दन में 'नमुत्थुणं' छः बार आता है । एक 'नमुत्थुणं' में दो बार 'नमो' आता है । एक 'नमो'

शब्द में इच्छा, शास्त्र एवं सामर्थ्य - तीनों योग आ जाते हैं ।
'नमो' को आप साधारण न मानें ।

नवकार को चौदह पूर्व का सार वैसे ही नहीं कहा । नवकार का दूसरा नाम भी कितना उत्तम है - "श्री पंच मंगल महाश्रुत-स्कंध ।" अन्य सब श्रुतस्कंध परन्तु यह है महाश्रुतस्कंध ।

नवकार का यह नाम 'महानिशीथ' में मिलता है । 'महानिशीथ' के अन्त में लिखा है कि "बहुत साहित्य नष्ट हो गया । आज तो जो दीमक द्वारा खाये हुए पत्ते मिले हैं उनका संयोजन करके जमाया गया है ।

मध्यकाल में मुसलमानों ने अनेक ग्रन्थ जला दिये और मूर्ति तोड़ डाली । अंग्रेजों ने प्रलोभन देकर बहुत सारा साहित्य ले लिया, अन्यथा तो यहां न मिले और वहां मिले, यह कैसे होता ?

* 'पंचवस्तुक' में 'स्तवपरिज्ञा' ग्रन्थ हरिभद्रसूरिजी ने रख दिया । आचार्य-पदवी के समय अपूर्वश्रुत देना तो कौन सा अपूर्वश्रुत ? उस स्थान पर 'स्तवपरिज्ञा' रखा गया है ।

* वि. संवत् २०३१ में प्रारम्भ में पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. बोलते और मैं लिखता, परन्तु मुझे रास न आने के कारण मैंने मात्र सुनना और उनका जीवन देखना प्रारम्भ किया । व्याख्यान के समय उनके पदार्थ दृष्टि के समक्ष रखकर बोलता था । धीरे धीरे रास आ गया ।

गुरुकुल-वास को क्यों इतना महत्त्व दिया ? क्योंकि गुरुजनों को देखकर ही ये सब गुण सीखे जाते हैं । गुरु आदि के गुण देखते-देखते वे गुण हमारे भीतर संक्रान्त होते हैं । गुरुकुल-वास का यही रहस्य है ।

दोषों का संक्रमण भी इसी प्रकार से होता है । कुसंगति से दोषों का संक्रमण होता है ।

दोषों का संक्रमण शीघ्र होता है, गुणों का नहीं । पानी को ऊपर चढ़ाना हो तो परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु नीचे ले जाना हो तो ? अनाज के लिए परिश्रम करना पड़ता है, परन्तु घास के लिए ? बगीचा बनाने के लिए श्रम करना पड़ता है परन्तु 'धूरा' (उकरड़ा) बनाना हो तो ?

पांचों परमेष्ठियों को गुणों के भंडार होने के कारण ही नमस्कार किये गये हैं । अरिहंत - सिद्ध क्षायिक गुणों के भण्डार हैं । अन्य तीन को क्षायिक गुण मिलनेवाले हैं । खिचड़ी चूल्हे पर चढ़ गई है, पक जाने की तैयारी में है ।

अधिक कहूं तो आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु में भी भगवान ही हैं ।

पांचो परमेष्ठियों का समावेश एक अरिहंत में होता है । इसीलिए एक साधु की आशातना अरिहंत की आशातना है । एक जीव की आशातना अरिहंत की आशातना है ।

प्रश्न - आशातना बड़ों की होती है । छोटों की आशातना किस तरह ?

उत्तर - बड़ों को भक्ति भावपूर्वक नहीं देखना आशातना है । छोटों को वात्सल्य नहीं बताना भी आशातना है । ऐसा नहीं होता तो -

“सत्त्वप्पाणभूअजीव सत्ताणं आसायणाए ।” नहीं लिखा होता...

* ‘लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव, त्वं शाश्वतं मंगलमप्यधीश ।

त्वामेकमर्हन् शरणं प्रपद्ये, सिद्धर्षिसद्धर्ममयस्त्वमेव ॥’

- शक्रस्तव

इस श्लोक के अर्थ के रहस्य में अरिहंत में अन्य तीनों मंगल छिपे हैं । (“सिद्धर्षिसद्धर्ममयस्त्वमेव” सिद्ध + ऋषि + सद्धर्म) ऋषि अर्थात् मुनि ।

* मात्र क्षयोपशम भाव के गुणों से नहीं चलता, उसका अनुबंध चाहिये । तो ही वे गुण स्थायी बनेंगे । सानुबंध गुणों में अमृत तुल्य आस्वादन मिलता है । ऐसे गुण विषयों से विमुख करते हैं और शासन के सम्मुख लाते हैं ।

* छोटी-बड़ी कोई भी वस्तु लेते समय पुंजने की इच्छा होती है ? मुझे तो तुरन्त याद आ जाता है ।

सोते समय संकल्प करें कि बीस मिनट से अधिक नहीं सोना है । आप देखें । बीस मिनटों में ही नींद उड़ जायेगी । मध्याह्न में बराबर २० मिनट होती है और मैं जग जाता हूं ।

किसी भी गुण के लिए ऐसा संकल्प चाहिये ।

* कई बार ऐसा होता है - दीक्षा लेने के पश्चात् शिष्य पश्चाताप करता है - कैसे सोचे थे और गुरु कैसे निकले ? गुरु को भी होता है - कैसा शिष्य सोचा था और कैसा निकला ? दोनो पश्चाताप करते हैं - ऐसा होता है ?

भौरा वृक्ष पर बैठे पोपट की चोंच को केसूडा का फूल समझकर चूसने गया । भौरा को देखकर पोपट को भी हुआ - 'यह जामुन आकर गिरा है ।' उसने उसे खाना प्रारम्भ किया ।

आप कल्पना कर सकते हैं - क्या हुआ होगा ? दोनों पेट भरकर पछताये ही नहीं, परन्तु परेशान हुए ।

यहां गुरु-शिष्य दोनों पछताते नहीं न ?

बहुत संभालकर गुरु बनें । गुरु नहीं बनोगे तो मोक्ष नहीं मिलेगा, ऐसा नहीं है । गुरु बनने की अपेक्षा शिष्य बनने का प्रयत्न करोगे तो अपने आप गुरु बन जाओगे ।

शिष्यत्व की पराकाष्ठा मतलब गुरुत्व !

ॐ ॐ ॐ

सफलता के सूत्र

झगड़ा हो वैसा बोलना नहीं ।
पेट खराब हो वैसा खाना नहीं ।
लोभ हो वैसा कमाना नहीं ।
कर्जा हो जाये वैसा खर्चना नहीं ।
मन खराब हो वैसा सोचना नहीं ।
जीवन बिगड़े वैसा आचरना नहीं ।
आता हो उतना बोलना नहीं ।
देखें उतना मांगना नहीं ।
सुनें उतना मानना नहीं ।
हंस सकें उतना हंसना नहीं ।

भ्रष्ट जीव होगा ।

और उन मुनिवर ने उसके योग्य तीन शब्द उसे दिये ।

ये शब्द सुनते ही चिलातीपुत्र चिन्तन में डूब गया । - ये जैन महात्मा कदापि असत्य तो नहीं ही कहेंगे । निश्चय ही इन्होंने मेरे योग्य ही शब्द दिये हैं । मुझे इन पर चिन्तन करना चाहिये । तीन शब्दों के चिन्तन से तो उसके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन हो गया ।

* अग्नि में शीतलता मिले तो गृहस्थ-जीवन में शान्ति मिले । राग-द्वेषमय गृहस्थ-जीवन में शान्ति मिलने की बात ही वृथा है ।

सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहता अवश्य है, परन्तु उसके मन में संसार नहीं होता । तप्त लोहे के गोले पर पांव रखने पड़े तो मनुष्य कैसे रखे ? उस प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार की प्रवृत्तियां करता होता है ।

भरत चक्रवर्ती सम्यग्दृष्टि थे । वे संसार में रहे परन्तु उनके मन में संसार नहीं था ।

“भरतजी मन में ही वैरागी”

पूर्व जन्म में भरतजी बाहु नामक साधु थे । उन्होंने ने ५०० साधुओं की उग्र सेवा की थी । उसके प्रभाव से इस जन्म में अनासक्ति पूर्वक की चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्त हुई थी । योंही इन्हें आरीसा भुवन में केवलज्ञान नहीं मिला था ।

* हण्टर देह पर लगता है परन्तु वेदना आत्मा को होती है क्योंकि जीमने में जगला, मार खाने में भगला !

देह के पीछे पागल बने हम आत्मा का कोई विचार नहीं करते ।

“तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वंति मत्तंसि”

- आचारांग...

“जिसको तू मारता है वह तू ही है ।”

दूसरों की मृत्यु करनेवाला सचमुच तो अपनी ही भावी मृत्यु तैयार करता है । एक भी जीव की आपके द्वारा मृत्यु हुई जिससे कम से कम आपकी दस मृत्यु निश्चित हुई ।

इस प्रकार प्रत्येक जन्म में हमने अन्य जीवों को बहुत दुःखी किये हैं। वास्तव में तो सुखी करने चाहिये क्योंकि प्रत्येक जीवका हम पर उपकार है। उस उपकार का ऋण चुकाने के बदले हम अपकार करते रहें ये कैसा ?

संसार में रहेंगे तब तक पर-पीड़न अवश्य है। मोक्ष में जाने के बाद ही सर्वथा पर-पीड़न बन्द होता है।

जितना मोक्ष में विलम्ब उतना अन्य जीवों को अधिक त्रास ! निगोद के अनन्त जीव राह देख कर बैठे हैं - स्थान खाली करो। आपके स्थान पर आकर साधना करके हमें मोक्ष में जाना है।

हम मोक्ष में जायेंगे तो ही कोई निगोद में से बाहर निकलेगा।

जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक जीवन परोपकार-परायण रहना चाहिये। परोपकार ही सच्चे अर्थ में स्वोपकार है। स्वोपकार (स्वार्थ) करनेवाला सच्चे अर्थ में स्वोपकार भी कर ही नहीं सकता। स्वोपकारी (स्वार्थी) सचमुच तो स्व-अपकारी ही है।

हमें जीवित रखने के लिए वायु, जल आदि के - असंख्य जीव अपना निरन्तर बलिदान देते रहते हैं। यदि यह विचार दृष्टिगत रखें तो आवश्यकता से अधिक जल आदि प्रयुक्त करने की कदापि इच्छा नहीं होगी।

* राजा के ज्योतिषी को भविष्य पूछने पर उत्तर मिला कि इस वर्ष भयंकर अकाल पड़नेवाला है।

राजा आदि स्तब्ध रह गये। सेठ लोगों ने तुरन्त अनाज आदि संग्रह करना प्रारम्भ किया, परन्तु अषाढ़ महिना आते ही मूसलधार वर्षा हो गई। अकाल की बात मिथ्या हुई।

ज्योतिषी को पूछने पर वह बोला, 'ग्रहों के आधार पर अब भी मैं कहता हूँ कि अकाल ही पड़ेगा, परन्तु वर्षा क्यों हुई ? मुझे भी यह समझ में नहीं आता। किसी ज्ञानी को पूछें तो पता लगे।

केवलज्ञानी को पूछने पर वे बोले - 'ज्योतिषी अपने ज्ञान के अनुसार गलत नहीं है, परन्तु ज्योतिष से धर्म का प्रभाव अत्यन्त ही उच्च है, जो ज्ञानी के अतिरिक्त कोई समझ नहीं सकता।

आपके नगर में सेठ के घर जिस पुन्यवान् बालक का जन्म हुआ है, उसके प्रभाव से देश में से अकाल सुकाल में परिवर्तित हो गया है। इस जीव ने पूर्व जन्म में अत्यन्त ही जीवदया का पालन किया था। उसके प्रभाव से ऐसा हुआ है।

एक व्यक्ति का पुन्य क्या काम करता है ? परोपकार क्या कार्य करता है ? इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

आप के घर-परिवार में देखते ही हैं न ? कोई पुन्यशाली व्यक्ति घर में आ जाता है तो घर का वातावरण कैसा बदल जाता है ? एक अनुपमा के कारण वस्तुपाल-तेजपाल का क्या हुआ ? यह हम जानते हैं।

इससे भी तनिक भिन्न प्रकार का एक दूसरा दृष्टान्त मैं कहता हूँ -

नाव में २१ व्यक्ति बैठे थे। समुद्र में तूफान, आकाश में बादलों की गर्जना और बिजली की चकाचौंध होने लगी। बिजली गिरने जैसा ढंग हो गया।

वे लोग समझे कि हम २१ में से कोई पापी होगा, इसलिए बिजली फड़क रही है और अभी गिरे, अभी गिरे ऐसा ढंग हो रहा है।

सब एक के पश्चात् एक अलग हो गये, परन्तु बिजली फिर भी फड़क रही थी। सब समझे - यह इक्कीसवा व्यक्ति ही पापी है। इसे अलग कर दें तो बिजली इस पर गिरेगी। हम बच जायेंगे।

उस इक्कीसवे व्यक्ति के अलग होते ही शेष बीस व्यक्तियों पर बिजली गिरी। बीसों व्यक्ति मर गये। सचमुच वह एक पुन्यशाली था, जिसके कारण बिजली उन पर गिर नहीं सकती थी।

*** चक्रवर्ती सुभूम हो अथवा सिकन्दर जैसा कोई बादशाह हो, सब पर समान रूप से मृत्यु का प्रकोप होता है।**

इंच-इंच भूमि के लिए लड़नेवाला, हजारों को मौत के घाट उतार देनेवाला सिकन्दर भी छोटी उम्र में चल बसा।

मृत्यु के समय (एकत्रित की हुई) कोई वस्तु सहायता नहीं करती। सहायता करेंगे तो केवल भावित किये हुए गुण, भावित

किये हुए धर्म के संस्कार ।

* ऊपर की (सात राज की) सिद्धशिला दूर नहीं है, भीतर रही हुई सिद्धशिला ही दूर है । आप भीतर की सिद्धशिला पर बैठे, भीतर मोक्ष प्रकट करें, फिर ऊपर की सिद्धशिला कहां दूर है ? यह तो केवल एक समय का कार्य है । भीतर के मोक्ष को प्रकट करने का प्रयत्न किये बिना हम बाहर के मोक्ष के लिए प्रयत्न करते रहते हैं ।

* 'मन की शक्ति केवलज्ञान जितनी है ।' ऐसा हरिभद्र-सूरिजी ने कहा है । केवलज्ञान से भी बढ़कर मनकी शक्ति है ।

प्रश्न - केवलज्ञान से मन कैसे बढ़ता है ?

उत्तर - भोजन का मूल्य अधिक या तृप्ति का ? भोजन करे तो तृप्ति कहां जायेगी ? महत्त्व की बात भोजन की है । भोजन प्राप्त हो जाये तो तृप्ति दौड़ती हुई आयेगी । इसीलिए हम तृप्ति के लिए नहीं, भोजन के लिए प्रयत्न करते हैं । मुक्ति की साधना भोजन है । केवलज्ञान और मुक्ति तृप्ति हैं ।

मुक्ति की साधना में मुख्य सहायक मन है । मन के बिना क्या केवलज्ञान मिल सकता है ? इस अपेक्षा से केवलज्ञान से भी मन बढ़कर है ।

पू.पं. कल्पतरुविजयजी म. - केवलज्ञान के लिए तो मन से भी पर होना पड़ता है ।

पूज्यश्री - मन से पर होने से पूर्व मन चाहिये ही, यह क्यों भूलते हैं ? मन रहित प्राणी मन से पर नहीं हो सकते, यह जानते हैं न ?

मारवाड़ में आवश्यक निर्युक्ति में पढ़ा था कि 'केवलज्ञान से भी मन अधिक शक्तिशाली है ।' तब मैं अत्यन्त प्रसन्न हो गया था ।

मन यदि इतना शक्तिशाली हो तो इसे ही क्यों न पकड़ लें ? परन्तु याद रहे कि मन पकड़ने से पूर्व काया एवं वचन पकड़ने पड़ेंगे । सीधा ही मन हाथ में नहीं आयेगा । पहले काया एवं वचनों को पवित्र एवं स्थिर करें । उसके बाद मन पर ध्यान केन्द्रित करें ।

‘मनहुं किमही न बाझे...’ इस प्रकार आनन्दधनजी कहते हैं तब मन साधना कितना कठिन है ? यह ध्यान में आयेगा । ऐसा दुर्जय मन केवल प्रभु के चरणों में जोड़ने से ही स्थिर बनता है । मन को स्थिर करने के लिए मोह का त्याग आवश्यक है । मोह के त्याग के लिए ज्ञान चाहिये । इसीलिए ही तो ‘ज्ञानसार’ में स्थिरता के पश्चात् मोह-त्याग और उसके बाद ज्ञानाष्टक रखा है ।

मन का भी वीर्य होता है । कई बार अशक्त शरीरवाले का भी मन अत्यन्त दृढ़ होता है क्योंकि उसका मनोवीर्य अत्यन्त ही जोरदार होता है । अनेक हृष्टपुष्ट मनुष्य भी मन के निर्बल होते हैं, क्योंकि उनका मनोवीर्य अत्यन्त ही निर्बल होता है ।

अडियल अश्व की अपेक्षा भी अत्यधिक उदंड इस मन को प्रभु में लगायें ।

ऐसा करोगे तो आत्मवीर्य पुष्ट होगा और फल स्वरूप आत्म-तृप्ति मिलेगी ।

संसार के धन, सत्ता आदि से मिलने वाली तृप्ति मिथ्या है । अनेक व्यक्ति कहते हैं - हमारे लीला-लहर हैं; मकान, दुकान, सन्तान आदि सब बराबर है ।

यह तृप्ति स्वप्नवत् मिथ्या है, मान ली गई है ।

आत्म-वीर्य-वर्धक तृप्ति ही सच्ची है ।

उपवास का पारणा होते ही एक ताजगी की अनुभूति होती है । यह देह की तृप्ति है । उसी तरह से कभी कभी प्रभु-भक्ति आदि से आत्म-तृप्ति की अनुभूति होती है ।

अपना आत्मवीर्य इतना निर्बल है कि मन-वचन-काया के पास अपना कुछ भी चलता नहीं है । आत्मा विवश होकर शरारत पर उतरे तीनों योगों को देख रही है । घोड़े (अश्व) इधर-उधर भटक रहे हैं, घुड़सवार (अश्वारोही) विवश है ।

सच्ची करुणता यह है कि यह विवशता समझ में भी नहीं आती । विवशता समझ में आये तो उसे दूर करने का मन हो न ?

ॐ ॐ ॐ



अग्नि संस्कार शोक सभा, शंखेश्वर, वि.सं. २०५८

१४-७-२०००, शुक्रवार
आषाढ़ शुक्ला-१३ : पालीताणा

(साध्वी परमकृपाश्रीजी, नम्रनिधिश्रीजी, जिनांजनाश्रीजी, परम करुणाश्रीजी, नम्रगिरिश्रीजी, जिनांकिताश्रीजी की बड़ी दीक्षा के प्रसंग पर ।)

पूज्य गणेश्री मुनिचन्द्रविजयजी -

नवकार का शास्त्रीय नाम पंचमंगल महाश्रुतस्कंध, लोगस्स का नामस्तव, नमुत्थुणं का शकस्तव, पुक्खरवरदी का श्रुतस्तव नाम है। उस प्रकार बड़ी दीक्षा का शास्त्रीय नाम छेदोपस्थापना है।

छेद + उपस्थापना = छेदोपस्थापना।

पूर्व पर्याय का छेद करके चारित्र की स्थापना करना छेदोपस्थापना है। हमारा दीक्षा-पर्याय बड़ी दीक्षा से गिना जाता है।

पूज्य आचार्य भगवन्त की दीक्षा वि. संवत् २०१० की वैशाख शुक्ला-१० को हुई थी। बड़ी दीक्षा वि. संवत् २०११ की वैशाख शुक्ला-७ को हुई थी। बड़ी दीक्षा में लगभग एक वर्ष व्यतीत हो गया; इतने समय में मान लो कि किसीने दीक्षा ली हो, और बड़ी दीक्षा पहले हो गई हो वे बड़े गिने जायेंगे।

पांच प्रकार के चारित्र में आज दो ही चारित्र (सामायिक और छेदोपस्थापना) विद्यमान हैं ।

दीक्षा ग्रहण करने के समय आजीवन सामायिक की प्रतिज्ञा दी जाती है । बड़ी दीक्षा के समय पांच महाव्रतों का आरोपण किया जाता है ।

पांच महाव्रत तन, मन, धन आदि का सुख देते हैं ।

तन, मन, धन, वचन एवं जीवन - ये पांचो व्यवस्थित हों तो मनुष्य सुखी कहा जाता है ।

अहिंसा से - तन (शरीर)

सत्य से - वचन

अचौर्य से - धन

ब्रह्मचर्य से - मन

अपरिग्रह से - जीवन सुन्दर बनता है ।

तन, मन, धन आदि में से कुछ भी उत्तम मिला हो वह पूर्व में अहिंसा आदि की आराधना का प्रभाव है, यह मानें ।

(पूज्य आचार्यश्री आदि पधारने के पश्चात्)

पूज्यश्री -

जिसे इन्द्र भी नमस्कार करते हैं, उस चारित्र की प्राप्ति इस मानवभव का उत्कृष्ट सौभाग्य है ।

यह सौभाग्य मिलने के पश्चात् उसका सम्यक् पालन नहीं हुआ तो वह सौभाग्य दुर्भाग्य में बदल जायेगा ।

‘ज्ञाताधर्मकथा’ में एक दृष्टान्त आता है -

एक सेठ ने भव्य महोत्सव (समारोह) करके चारों पुत्र-वधुओं को डांगर (एक अनाज का नाम) के पांच दाने संभालने के लिए दिये । पांच वर्षों के बाद सेठ ने वे दाने पुनः मांगे तब ज्येष्ठतम पुत्र-वधु उज्झिका ने कहा, वे तो मैंने फेंक दिये ।’

दूसरी पुत्र-वधु भक्षिका ने कहा, ‘मैं ने तो वे खा लिये ।’

तीसरी रक्षिका ने संभाल कर रखे दाने निकाल कर कहा, ‘ये रहे पांच दाने ।’

चौथी रेहिणी ने कहा, ‘मेरे पांच दाने मंगवाने के लिए बैल-गाड़ियां लानी पड़ेगी, क्योंकि बोते-बोते वे अनेक गुने हो गये हैं ।’

सेठ ने पहली पुत्र-वधु को नौकरों की नायक बनाई, दूसरी को रसोई घर का उत्तरदायित्व सौंपा, तीसरी को धन, भंडार की चाबी सौंपी और चौथी को घर का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सौंपा और महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने की सत्ता सौंपी ।

पाँच डांगर के दानों के स्थान पर ये पाँच महाव्रत हैं । ये प्राप्त कर के किसके समान बनना है ? उज्जिका की तरह पैकने वाला, भक्षिका की तरह खा जानेवाला, रक्षिका की तरह सुरक्षा करनेवाला या रोहिणी की तरह वृद्धि करनेवाला बनना है ?

रोहिणी बनने के लिए पुन्य चाहिये, परन्तु रक्षिका बनने के लिए तो पुरुषार्थ पर्याप्त है। पुन्य कदाचित् हाथ में नहीं है, परन्तु पुरुषार्थ तो हाथ में है। बन सको तो रोहिणी या रक्षिका बनें, परन्तु उज्जिका या भक्षिका कदापि न बनें।

उज्झिका एवं भक्षिका बनकर अनन्त बार हम चात्रि हार चुके हैं। इस भव में इसकी पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिये।

✿ ✿ ✿

भगवान का पता

देश - सत्संग

नगर - भक्तिनगर

गली - प्रेम की गली

चौकीदार - विरह-ताप नामक चौकीदार

महल - प्रभु मन्दिर

सीढ़ी - सेवा की सोपान पंक्ति

यहां तक आने के बाद क्या करना होगा ? दीनता के पात्र में मन रूपी मणि को रखकर प्रभु को चढ़ाना ।

अहं भाव को एक ओर रखकर प्रभु का शरण स्वीकार करना ।



संभलकर चलते हुए पूज्यश्री

१४-७-२०००, शुक्रवार
आषाढ़ शुक्ला-१३ : पालीताणा

* जिनागम के प्रत्येक वचन का अध्ययन करें, त्यों त्यों नवीन आध्यात्मिक शक्ति उत्पन्न होगी, जिससे संयम का वीर्य प्रबल बनेगा । संयम-वीर्य ही ज्ञान का कार्य है, फल है ।

मुक्तिमार्ग में अधिक सहायक ज्ञान है । श्रुतज्ञान का मूल्य कितना ?

कल मैंने बात कही थी कि केवलज्ञान से भी मन बढ़कर है । इसका अर्थ यह न लगायें कि केवलज्ञान छोटा और मन बड़ा । स्याद्वाद दर्शन में सब बात सापेक्ष होती है । जिस समय जिस की मुख्यता हो, उसे आगे किया जाता है ।

यहां अपेक्षा से श्रुतज्ञान मूल्यवान है । वह आदान-प्रदान हो सके उस अपेक्षा से है । यह ज्ञान भी सफल तब ही बनता है यदि संयम-वीर्य प्रकट हो ।

हमारे तीनों योगों में वीर्य-शक्ति सम्मिलित हो जाये तो ही वह फलदायी बनती है ।

मन आपको अनुभव-ज्ञान तक पहुंचा दे, फिर स्वयं हट जाये और आपको अनुभव के समुद्र में धकेल दे, यही मन

का बड़ा उपकार है । फिर मन कह देता है - मेरा काम पड़े तब मुझे बुलायें ।

जब तक अनुभव-ज्ञान नहीं मिले तब तक मन और वचन आवश्यक हैं ।

* प्रभु भी जब बोलते हैं तब नय सापेक्ष बोलते हैं । एक नय को आगे करके दूसरे को गौण करके बोलते हैं । सब एक साथ नहीं बोलते, बोल भी नहीं सकते ।

आप नवपद के वर्णन में देखते हैं न ? जब सम्यग्दर्शन का दिन हो तब मुख्यतया उसका वर्णन होता है । जब सम्यग्ज्ञान होता है तब मुख्यतः उसका वर्णन होता है । इसमें कोई अप्रसन्न नहीं होता । किसी को ऐसा नहीं होता कि मैं छोटा हो गया ।

दो पांवों में ही देखो न, जब दाहिना पांव आगे होता है तब बायां पांव पीछे रहता है । बायां पांव आगे होता है तब दाहिना पांव पीछे रहता है । दोनों में कोई झगडा नहीं होता ।

इसे ही गौण और मुख्य कहते हैं ।

श्रुतज्ञान से भावित बना मन केवलज्ञान से भी बढ़ जाता है, यह कहा है । इसका अर्थ यह है कि ऐसा मन हो तो ही केवलज्ञान प्राप्त होता है ।

* 'चंदाविज्झय' की अब केवल पांच गाथा ही बाकी रही हैं ।

इसमें विशेष परामर्श दिया है कि चाहे जैसे करके मृत्यु में समाधि बनाये रखनी है । आज, इसी समय मृत्यु आ जाये तो भी तैयार रहना है । इसके लिए निःशल्य बनकर चार की शरणागति स्वीकार करनी है, सभी जीवों के साथ क्षमापना करके एकत्व भावना भानी है ।

"उद्धरिअभावसल्लो सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ।" ॥ १७० ॥

द्रव्यशल्य (लोहे की कील अथवा कांट आदि) तो हम तुरन्त ही बाहर निकाल देते हैं, परन्तु भावशल्य के लिए कोई विचार ही नहीं आता । यदि भावशल्य भीतर रह गया तो सद्गति नहीं होगी ।

'महानिशीथ' में कहा है - 'तनिक परिवर्तन कर के या कोई बहाना बनाकर भी आप प्रायश्चित्त करोगे तो भी आराधक नहीं बन सकोगे ।'

इसके लिए लक्ष्मणा साध्वीजी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है ।

आप छेदसूत्रों के ज्ञाता हो तो भी आप स्वयं प्रायश्चित्त नहीं ले सकोगे, अन्य के पास ही प्रायश्चित्त लेना होगा ।

परसक्खिआ विसोही, कायव्वा भावसल्लस ॥ १७१ ॥

कुशल वैद्य भी अपने रोग का स्वयं उपचार नहीं करता, उस प्रकार साधु भी स्वयं उपचार नहीं करता ।

गुरु तो माता-पिता है । उनके समक्ष कुछ भी बताने में लज्जा कैसी ?

कोई योद्धा यदि अपना सम्पूर्ण शल्य वीरता के अभिमान से नहीं बताये तो वह शल्य-रहित नहीं बन पायेगा । उस प्रकार अभिमानी व्यक्ति गुरु को पूर्ण रूप से नहीं बताये तो वह शल्य-मुक्त बन नहीं सकेगा ।

शल्य-रहित मुनि मृत्यु के समय हायतोबा नहीं करता । शल्य नहीं निकाला जाये तो मृत्यु के समय वह कांटे की तरह खटकता है, मन समाधि में नहीं लगता ।

किसी कारणवश यदि आप अपनी बात गुरु को नहीं कह सकते हो तो भगवान को कहें, वनदेवता को कहें, वे सीमंधर स्वामी को पहुंचाये वैसे निवेदन करें । परन्तु मन में रखकर शल्ययुक्त जीवन न जियें ।

शल्ययुक्तता आपको शान्ति नहीं देगी । यदि शल्य रह गया तो सद्गति नहीं होगी । देवगति मिलेगी परन्तु व्यन्तर या भवनपति में जाना पड़ेगा ।

अभी ही 'भगवती' में जमालि प्रकरण में आया कि देव, गुरु, संघ, कुल, गण आदि की आशातना करनेवाला किल्बीषिक देव बनता है ।

डोरा-धागा करने वाले साधुओं को आभियोगिक (नौकर) देव बनना पड़ता है ।

* अभी मैंने दस माता की बात की थी । गृहस्थों को यदि हम प्रेरणा दें तो हमें कुछ नहीं करना है ?

पू.पं. भद्रंकरविजयजी महाराज ने दूसरों को प्रेरणा दी, उससे पूर्व स्वयं के जीवन में नवकार उतारा (मात्र गिना नहि पर उतारा) भावित बनाया । कितने ही करोड़ नवकार गिने होंगे, यह भगवान

* देव, गुरु एवं धर्म अपनी भक्ति करने के लिए नहीं है। देव आपको देव और गुरु आपको गुरु बनाना चाहते हैं और धर्म आपको धर्ममय बनाना चाहते हैं।

* आप कहते हैं कि भगवान पर प्रेम करो, परन्तु भगवान हैं कहां ? किस प्रकार प्रेम करें ? कैसे मिलें ? ऐसे प्रश्न आज ही नहीं, पहले भी थे। पू. देवचन्द्रजी महाराज के प्रथम स्तवन में यही फरियाद (शिकायत) है और उसका वहां उत्तर भी है।

मेरा विशेष आग्रह है -

आनन्दघनजी, यशोविजयजी और देवचन्द्रजी - इन तीन महात्माओं की स्तवन चौबीसी विशेष कण्ठस्थ करें। आपको साधना में अनेक जगह मार्ग-दर्शन मिल जायेगा।

उन्होंने करुणा करके इन चौबीसियों की रचना करके हम पर उपकार किया तो उनका रहस्य यदि अपने पास आया हो तो दूसरों को दें, दूसरों को सिखायें।

मैं समस्त साधु-साध्वीजियों को पूछता हूँ कि आप जो सीखे हैं वह दूसरों को (छोटों को) सिखाते हैं ?

विनियोग के बिना आपको मिला हुआ गुण आपके साथ नहीं चलेगा। प्रकृति का नियम है कि दोगे तो ही मिलेगा।

* समाधि-मरण का यह प्रकरण लगभग पूर्ण होने की तैयारी में है। इस ग्रन्थ में विनय आदि सात द्वार हैं।

अषाढ कृष्णा-३ से 'ललित विस्तार' प्रारम्भ होगा।

इस 'चंदाविज्ञय' में विशेष करके विनय पर बल दिया है। विनीत गुणवान शिष्य एवं गुणवान गुरु दोनों का योग अत्यन्त ही दुर्लभ है।

* इस संघ के पास सभी कला है, एक ध्यान की कला नहीं है। ध्यान के बिना अनुभव तक नहीं पहुंचा जा सकता।

* कई बार व्यक्ति विनय करता है सही, परन्तु अपना मतलब सिद्ध करने के लिए करता है जैसे विनयरत्न। ऐसा विनय यहां अभिप्रेत नहीं है।

केवल बातों में विनयी न रहें। उसका निग्रह होना चाहिये। विनय-निग्रह अर्थात् विनय पर नियन्त्रण जो कदापि जाये नहीं।



१६-७-२०००, रविवार
आषाढ़ शुक्ला-१५ : पालीताणा

* मध्यकाल के साधुओं को प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन ही आवश्यकमय होता है। हम रहे वक्र एवं जड़, अतः आवश्यकमय जीवन जीना होने पर भी हम उनसे दूर रहकर जीवन जीते हैं। इसीलिए अपने लिए प्रतिक्रमण अनिवार्य किया।

दीक्षा ग्रहण की तब सामायिक की प्रतिज्ञा ली थी, परन्तु प्रतिज्ञा लेने मात्र से सामायिक आती नहीं है। इसके लिए निरन्तर अन्य पांच आवश्यकों में परिश्रम करना पड़ता है।

इन छः आवश्यकों से ही अपने तीनों धन (ज्ञान-धन, श्रद्धा-धन और चारित्र-धन) बढ़ते रहेंगे।

* भगवान अप्राप्त गुणों को प्राप्त करानेवाले और प्राप्त गुणों की रक्षा करनेवाले होते हुए भी हममें गुण नहीं आये अथवा नहीं आते; क्योंकि हमने प्रभु से याचना ही नहीं की। 'अहं' को मिटाकर दीन-हीन भाव से कदापि याचना नहीं की।

* कोई प्रश्न हल नहीं होता तब पूज्य पं. भद्रकरविजयजी महाराज आगन्तुकों को कहते - 'कोई चिन्ता नहीं, कार्य नहीं होता,

क्योंकि अपना पुन्य कमजोर है । अब पुन्य बढ़ाओ । पुन्य बढ़ने पर प्रश्न अपने आप सुलझ जायेंगे ।

पूर्व जन्म में नागकेतु को उसकी सौतेली माता संतप्त करती थी । उसके उपाय के लिए उसके मित्र ने क्या कहा ? पुन्य बढ़ा, आर्यबिल कर, सब ठीक होगा ।

कमजोर पुन्य लेकर हम आकाश जितनी इच्छाएँ पूर्ण करने के लिए प्रयत्नशील हैं । इच्छाएँ पूरी नहीं होने पर हम निराश हो जाते हैं । हम अपने पुन्य या अपनी योग्यता की ओर नहीं देखते । अतः हम दुःखी-दुःखी हो जाते हैं । पुन्य बढ़ाने के बदले हम अन्य अन्य कुछ करने लग जाते हैं ।

पुन्य बढ़ाओ, अरिहंत की आराधना करो । अरिहंत की आराधना से पुन्य बढ़ता है । क्योंकि अरिहंत पुन्य के भण्डार हैं ।

* मैं नमस्कार करनेवाला कौन हूँ ? मुझ में क्या सामर्थ्य है कि मैं प्रभु को नमस्कार करूँ ? इसीलिए भगवान की स्तुति करते समय गणधर कहते हैं - नमोऽस्तु । नमुत्थुणं । नमस्कार हो । 'नमस्कार करता हूँ' ऐसा नहीं । ऐसे उपकारी प्रभु को कैसे भूलें ? ऐसे उपकारी प्रभु की भक्ति में क्या थकान आयेगी ? मुझे तो घंटो तक नहीं आयेगी, क्योंकि मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जो मिला है वह भगवान से ही मिला है । जो मिलेगा वह भी भगवान से ही मिलेगा ।

भले मैं अशक्त होऊँ, परन्तु मेरे भगवान बलवान हैं । उनका बल मुझे काम आयेगा । ऐसी श्रद्धा भक्त के हृदय में निरन्तर प्रवाहित रहती है ।

यदि आप 'ललित विस्तरा' पढ़ेंगे तो ये सभी पदार्थ व्यवस्थित रूप से समझ में आयेंगे ।

कल देववन्दन किया उसमें 'नमुत्थुणं' कितनी बार आया ? कुल ३० बार 'नमुत्थुणं' आया । (आदिनाथ आदि पांच के दो दो १० + अन्य १९ = २९ और १ शाश्वत - अशाश्वत का इस तरह = ३०)

कोई रहस्य होगा तो 'नमुत्थुणं' बार-बार आता होगा न ? यदि उसका रहस्य जानना हो तो 'ललित विस्तरा' ग्रन्थ पढ़ना ही पड़ेगा ।

ये भगवान समर्थ हैं। डरें नहीं, भले कितनी ही बड़ी सेना सामने हो, परन्तु आपको डरना नहीं है। आपकी जीत ही है क्योंकि अनन्त शक्ति के स्वामी भगवान आपके साथ हैं।

“तप-जप-मोह महातोफाने, नाव न चाले माने रे;”

मोहराजा के आक्रमण हुए होंगे तब ही उपा. यशोविजयजी महाराज ने ऐसा गाया होगा न ? उत्तम-उत्तम साधकों के जीवन में भी मोह के आक्रमण होते हैं। उन्हें भगवान की सहायता लेकर परास्त कर सकते हैं, ऐसा वे अनुभव से बताते हैं।

पं. वीरविजयजी म. कहते हैं -

“मोह लड़ाई में तेरी सहाई...”

वाचक उदयरत्नजी म. कहते हैं -

“मोहराज नी फौज देखी, केम धुजो रे;

अभिनंदन नी ओठे रखीने, जोरे जूझो रे...”

उपा. यशोविजयजी म. कहते हैं -

“वाचक जस कहे मोह महा अरि, जीत लियो मैदान में...”

इसका अर्थ यह हुआ कि ‘मोहराजा को भगवान के अतिरिक्त दबाया नहीं जा सकता। भगवान का शरण है तो मोह से डरने की आवश्यकता भी नहीं है, यह भी समझना पड़ेगा।

* आवश्यकों पर ७५ हजार श्लोक प्रमाण पू. हरिभद्रसूरिजी की वृहद् वृत्ति थी, ऐसा सुना है। इस समय तो मध्यम वृत्ति उपलब्ध है।

* जिस श्लोक का अर्थ मैं नहीं जानूँ, उसे समझानेवाले व्यक्ति का मैं शिष्य बन जाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा के कारण कट्टर जैन-विरोधी ब्राह्मण होते हुए भी हरिभद्र भट्ट को जैन धर्म में दीक्षित किया गया।

ग्यारह गणधर, भद्रबाहु स्वामी, स्थूलभद्र स्वामी, सिद्धसेन-दिवाकरसूरि, अभयदेवसूरि आदि ब्राह्मण थे।

पुन्य हो तो कुल परम्परा में धर्म नहीं मिला हुआ हो तो बाद में भी मिल सकता है। इस अपेक्षा से हम कितने पुन्यशाली हैं ? जन्म लेते ही जैन धर्म मिला, फिर भी अपनी योग्यता के अनुसार ही हम ग्रहण कर सकते हैं।

मार्ग में जाते समय “चक्रिदुगं हरिपणगं” श्लोक सुनकर वे उसका अर्थ समझने के लिए साध्वीजी के पास गये । साध्वीजी ने उन्हें साधु महाराज के पास भेजा ।

इन्हें सच्चे अर्थी कहा जाता है । अर्थी अर्थात् जिज्ञासु । जिज्ञासा जितनी बढ़ती है, उतना ज्ञान बढ़ता है ।

जिज्ञासा अर्थात् जानने की इच्छा ।

सुश्रुषा अर्थात् सुनने की इच्छा ।

एक श्लोक का अर्थ समझने के लिए कट्टर विरोधी जैन धर्म के मुनि के पास पहुँच जाना, यह कितनी अगाध जिज्ञासा होगी ? ऐसा बताते हैं ।

ॐ ॐ ॐ

माला का प्रभाव

हरी माला से रोग नष्ट होता है ।

लाल माला से लक्ष्मी प्राप्त होती है, शत्रु नष्ट होते हैं ।

पीली माला से यश प्राप्त होता है, परिवार बढ़ता है ।

- पुष्पावती चरित्र



मनफरा (कच्छ) में अंतिम पदार्पण, वि.सं. २०५६

१७-७-२०००, सोमवार
श्रा. कृष्णा-१ : पालीताणा

* दीर्घ काल तक जीव धर्म-शासन प्राप्त करे, उस तीर्थ-स्थापना के पीछे भगवान का लक्ष्य है। यह लक्ष्य पूर्व के तीसरे भव में ही निर्धारित हो चुका था।

जो आनन्द मैंने प्राप्त किया है, वह दूसरे भी क्यों न प्राप्त करें? मुझ में आनन्द है, उस प्रकार सभी जीवों में भी आनन्द है ही, फिर भी जीव दुःख में रहें यह कितनी करुणता है? "मैं सबको भीतर रहे हुए आनन्द के भण्डार का बोध कराऊँ - ऐसी भव्य भावना के योग से भगवान ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है।

* हमें आनन्द-प्राप्ति की इच्छा होती है, क्योंकि अपना मूलभूत स्वरूप आनन्दमय है। भीतर आनन्द न हो तो आनन्द की इच्छा नहीं होती।

* आनन्द अपने भीतर से ही आयेगा, परन्तु फिर भी गुरु या भगवान के द्वारा प्राप्त हुआ कहा जाता है। इसमें कृतज्ञता है।

* हम आनन्दमय होते हुए भी इस समय दुःखी हैं, क्योंकि भीतर रग-द्वेष की आग लगी है। हम स्वभाव से हटकर विभाव

में बसे हैं ।

* हम दूसरों को कब दे सकेंगे ? यदि अपने जीवन में होगा तो ही दूसरों को दे सकेंगे ।

अभी सभी समुदायों के महात्मा आये थे कि सामुदायिक प्रवचन का विषय क्या रखा जाये ? मैंने बताया कि मैत्रीभाव से प्रारम्भ करो, बाद में भक्ति पर रखना ।

इतना याद रखना कि हममें भावित हुआ होगा तो ही लोगो को असर कर सकेगा ।

* जगत् के समस्त ध्यान-ग्रन्थों से बढ़कर 'ध्यान-विचार' ग्रन्थ अपने पास होते हुए भी अधिकतर लोगों का ध्यान उस ओर गया ही नहीं, यह भारी करुणता है । 'ध्यान-विचार' ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है, परन्तु ढूँढे ही कौन ?

कोई मुनि व्याकरण में, कोई काव्य में, कोई न्याय में अथवा कोई आगमों में अटक जाता है परन्तु ध्यान तक पहुंचने वाले विरले होते हैं ।

भाषाकीय ज्ञान के लिए व्याकरण है । भाषाकीय ज्ञान से साहित्य का ज्ञान, साहित्य के ज्ञान से आगम-ज्ञान और आगमों के ज्ञान से आत्म-ज्ञान बढ़कर है ।

ध्यान के बिना आत्मा तक पहुंचने का कोई मार्ग नहीं है । आत्मा तक नहीं पहुंच सके तब तक सब अधूरा है ।

* हिंसा आदि को उत्पन्न करनेवाले क्रोध आदि हैं । इसीलिए हिंसा आदि से क्रोध आदि खतरनाक है ।

क्रोध से हिंसा, मान से मृषा, माया से चोरी और लोभ से काम-परिग्रह बढ़ते रहते हैं ।

क्रोध मूल है, हिंसा फल है ।

मान मूल है, मृषावाद फल है ।

माया मूल है, चोरी फल है ।

लोभ मूल है, अब्रह्म-परिग्रह फल है ।

* भैस के समक्ष भागवत पढ़ने के लिए कौन तैयार होगा ? अधिक बोलने का स्वभाव हो और कोई श्रोता न हो वैसा मूर्ख ही कदाचित् तैयार होगा ।

हा, भैस सिर बहुत हिलाती है, परन्तु समझती कितना है ? सामने की सभा समझदार होनी चाहिये । सभा यदि व्युत्पन्न हो तो तदनुसार, अज्ञानी हो तो तदनुसार सुनाना पड़ता है ।

वि. संवत् २०२४ के फलोदी चातुर्मास में गांधी चौक में मेरा जाहेर प्रवचन था । मेरी तो इच्छा नहीं थी खुला प्रवचन रखने की, परन्तु “अपोणा अखेराजजी बापजी आइया है, गांधी चौक में जाहेर वख्यान रखणो ज चइजे ।” यह सोचकर ओसवालों ने जाहेर व्याख्यान का आयोजन किया था, परन्तु ब्राह्मणों से यह कैसे सहन होता ?

एक ब्राह्मण ने व्याख्यान के बीच में खड़े होकर पूछा, ‘दूसरा तो सब ठीक है, परन्तु यह तो बताओ कि पाप का बाप कौन है ?’

मैंने कुमारपाल चरित्र में इस सम्बन्ध में पढ़ा था, अतः तुरन्त उत्तर दिया, ‘पाप का बाप लोभ है ।’

उसे ‘पाप का बाप मिथ्यात्व’ तो नहीं कहा जाता । तदनुरूप उत्तर होना चाहिये ।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने ‘तक्रं पीतम् ?’ छस पी ली ? ऐसे प्रश्न का उत्तर कितना सुन्दर दिया था - “तक्रं श्वेतम्, न तु पीतम्” । छस सफेद होती है, पीली नहीं ।

परन्तु तबसे मुझे लगा कि समझे बिना कदापि जाहेर व्याख्यान रखने नहीं । बाद में पूज्य पंन्यासजी म.की भी ऐसी ही राय आई थी ।

★ जीव में आलस योंतो भरी हुई ही है, परन्तु विशेष करके जब आत्म-कल्याण करना हो तब सर्व प्रथम आलस चढ़ बैठती है ।

जीव को आत्म-कल्याण में अत्यन्त आलस आती है । दूसरे-दूसरे कार्य करने में कभी भी आलस नहीं, परन्तु आत्म-कल्याणकारी अनुष्ठानों में भरपूर आलस ।

★ भीतर बैठा हुआ मिथ्यात्व मोह तो अत्यन्त जोरदार है । वह आपको यहां आने ही नहीं देता । कदाचित् आने की आज्ञा दे तो कान में फूंक मार देगा, कि देखना, वहां जाकर सब सुनना, परन्तु कुछ भी मानना मत । जैसे हो वैसे ही रहें, तनिक भी बदलना मत ।”

* देखो, चार महिने यों चुटकी बजाते निकल जायेंगे । समय तनिक भी आपकी रह देखकर बैठा नहीं रहेगा । वह तो सरकता ही रहेगा । सरकता रहे वही समय कहलाता है । आजकल तो दिन तनिक बड़ा है, परन्तु फिर तो बहुत छोटा होता जायेगा । आपके पास तनिक भी समय नहीं रहेगा । यदि इस समय का सदुपयोग नहीं किया तो पश्चाताप के बिना कुछ नहीं बचेगा ।

* पू. हरिभद्रसूरिजी का प्रथम परिचय पू.पं.श्री भद्रंकरविजयजी महाराज ने कराया । वि. संवत् २०१३ के मांडवी चातुर्मास के समय उनका कच्छ में आगमन हुआ । उस समय मुझे विशेष सलाह दी कि यदि आपको अध्यात्म में रुचि हो तो पू. हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ अवश्य पढ़ें ।

तबसे मैंने उसे पढ़ने का संकल्प किया । मैं उसे पढ़ता गया और हृदय नाचता गया । 'हा अणाहा कहं हुंता ।' इन शब्दों को तनिक बदलकर यह कहने का मन हो जाये - 'हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ नहीं मिले होते तो अपना क्या होता ?'

इस बार हरिभद्रसूरि कृत 'ललित विस्तर' ग्रन्थ पर वाचना रखनी है ।

पू. पंन्यासजी म. के साथ बेड़ा के चातुर्मास के उपधान में इस ग्रन्थ पर वाचना रही । उसके बाद भी अनेक बार वाचना रही हुई है ।

* भगवान की भक्ति हृदय में आने के पश्चात् यदि मैत्री नहीं जगे तो मेरी जिम्मेदारी । मैत्री ही नहीं, समस्त गुण आ जायेंगे । समस्त दोषों को नष्ट करनेवाली और समस्त गुणों को लानेवाली प्रभु-भक्ति है, यह निश्चित मानें ।

"य एव वीतरागः स देवो निश्चीयतां ततः ।

भविनां भवदम्भोलिः स्वतुल्यपदवीप्रदः ॥"

- योगसार, १-४६

'योगसार' में भगवान को संसार को काटने में वज्र-तुल्य और स्व-तुल्य पदवी-प्रद कहा है । यह यों ही नहीं कहा । भगवान अपने हृदय में आकर गुणों का प्रकटीकरण एवं दोषों का उन्मूलन करते हैं ।

ऐसे प्रभु के कीर्तन आदि का फल बोधि एवं समाधि है, यह उत्तराध्ययन में कहा है ।

भगवान की भक्ति विशेष करके चार घाती कर्मों का नाश करती है । ऐसे भगवान के पास जाकर आप पन्द्रह मिनट में चैत्यवन्दन करके आ जाओ तो कैसे चलेगा ? ऐसे चैत्यवन्दन के समय भी आपका मन चंचल होता है या स्थिर ?

पञ्चक्खाण पारते समय 'जगचिन्तामणि' का चैत्यवन्दन बोलना होता है । आपको कितनी मिनट लगती हैं ? वापरने की (गौचरी की) अत्यन्त शीघ्रता होती है ।

यह 'जगचिन्तामणि' तो भावयात्रा का सूत्र है । जंगम एवं स्थावर तीर्थ की यात्रा में आप इस सूत्र को गाड़ी की तरह लुढ़काकर पूरा कर दें तो कैसे चलेगा ?

ये सभी सूत्र तो गन्ने के समान हैं । इसे चबाओ तो रस मिलता है । परन्तु यहां चबाने का कष्ट ही कौन करे ?

“सूत्र अक्षर परावर्तना, सरस शैलडी दाखी;

तास रस अनुभव चाखिये, जिहां छे एक साखी ।”

- उपा. यशोविजयजी म.सा.

* सर्व प्रथम प्रभु को चाहो । (प्रीतियोग)
फिर प्रभु को समर्पित हो जाओ । (भक्तियोग)
फिर प्रभु की आज्ञा पालन करो । (वचनयोग)
फिर प्रभु के साथ एकात्म हो जाओ । (असंगयोग)
इतने में सम्पूर्ण मोक्ष-मार्ग आ गया । जब भी मोक्ष में जाना हो तब इसी मार्ग पर चलना पड़ेगा ।

* आज के दिन, एक वर्ष पूर्व हमारे समुदाय के वयोवृद्ध साध्वीजी लावण्यश्रीजी का कालधर्म हुआ था । वे अत्यन्त शिक्षित थीं ।

आणंदश्रीजी, चतुरश्रीजी, रतनश्रीजी आदि का जीवन पढ़कर आप उसमें से प्रेरणा लें, तो भी बहुत सीखने-जानने को मिलेगा ।

इन सब में भव-भीरुता थी । क्या आज है ?

साध्वीजी भी शासन की सम्पत्ति हैं । यहां संख्या अधिक है अतः उपेक्षा करने योग्य है, यह न मानें ।



अग्नि संस्कार की तैयारी, शंखेधर, वि.सं. २०५८

१८-७-२०००, मंगलवार
श्रा. कृष्णा-२ : पालीताणा

* जिनागम अमृत हैं । इनका पान करनेवाला अमर हो जाता है । इस काल में आत्म-कल्याण करना हो तो आगमों का अध्ययन करना ही पड़ेगा । आगमों के अध्ययन से विषयों का विष नहीं चढ़ता । अमृत का पान करनेवाले को विष का भय कैसा ? चंडकौशिक के विष का भगवान महावीर पर कहां प्रभाव हुआ था ? भगवान प्रेम-अमृत के सागर थे ।

आप यदि प्रेमामृत से भरे हुए हों तो इस काल में भी विषैले प्राणी आपको कुछ न करें, न काटे । आपका चेहरा देखकर ही उनके वैर-विष का शमन हो जाता है ।

* पू. मानतुंगसूरिजी म. आगम-प्रेमी थे । उनके पास बीस वर्ष पूर्व यहां हमने पाठ लिया था । महाराष्ट्र भुवन से नित्य सांडेशव भुवन में भगवती पाठ के लिए हम जाते थे ।

इस बार आपको उत्तम योग मिला है । जहां जाओ वहां अमृत ही अमृत है । पेट भरकर पीयो ।

आगमों को आप पियोगे तो वे आगम आपको एक दिन आत्मा के अमृत का प्याला पिलायेंगे । चिदानंदजी आदि की कृतियाँ

पढ़ेंगे तो यह बात समझ में आयेगी ।

“सगुरा है सो भर-भर पीवें, नगुरा जावे प्यासा ।”

यह सब पढ़ने से वर्तमान समय में भी आगमों के द्वारा आत्मा का अमृत मिल सकता है - ऐसा विश्वास तो हो सकता है । हमने तो उस ओर देखना ही छोड़ दिया । यह तो घोर कलियुग है । इसमें हमसे क्या हो सकता है ? - ऐसा मान कर हम बैठ गये ।

* छ'री पालक संघ में (सीधाडा, फागुन शुक्ला-५) प्रारम्भ हुआ ये आगम (चंदाविज्झय पयत्ता) आज पूर्ण होता है । वास्तव में तो तब ही पूर्ण होता है जब वह तदुभय से हमारे जीवन में आये । सूत्र एवं अर्थ से तो ग्रन्थ कदाचित् करते हैं, परन्तु तदुभय से नहीं करते । तदुभय अर्थात् वह वस्तु जीवन में उतारनी । यदि सूत्र अर्थ एवं तदुभय से आगम आत्मसात् न करें तो ज्ञानाचार में अतिचार लगता है । वह जानते हो न...?

वणिक् कदापि धनराशि वैसे ही नहीं रख देता । वह निरन्तर उसे फिगता रहता है, तो ही धन बढ़ता है । उस प्रकार ज्ञान भी पढ़कर रख नहीं देना है । उसे पुनरावृत्ति के द्वारा फिग कर बढ़ाना है और तदनुसार जीवन जीना है ।

पहले कहां घडियां थी ? मुनिगण स्वाध्याय के द्वारा ही समय जान लेते थे । इतनी गाथा कण्ठस्थ कर ली, अतः इतना समय होना ही चाहिये । ऐसा उन्हें ज्ञान था । जिस प्रकार आज हम जानते हैं कि १२-१३ मिनट तक चलो, अतः एक किलोमीटर होना ही चाहिये, चाहे 'माइल-स्टोन' न भी हों ।

आगमों से ही आत्मध्यान का पता लगेगा । ध्यान के खड्ग से ही मोह-महाभट परस्त हो सकेगा ।

* ध्यान-क्षेत्र में आगे बढ़ने का मन हो, वे 'ध्यान-विचार' ग्रन्थ अवश्य पढ़ें ।

* ध्यान के लिए प्राथमिक योग्यता है - प्रभु का प्रेम, प्रभु-भक्ति और प्रभु की आज्ञा का यथा-शक्ति पालन ।

इसी कारण से ही हरिभद्रसूरिजी ने देशविरति एवं सर्वविरति-धरों को ही योग के सच्चे अधिकारी कहे हैं ।

देशविरतिधर भी योग के अधिकारी हैं । इसीलिए भगवान ने आनन्द श्रावक एवं कामदेव श्रावक जैसे श्रावकों की प्रशंसा की है । इससे कोई गौतम स्वामी जैसे अप्रसन्न नहीं होते - हम बड़े बैठे हैं और छोटे की प्रशंसा क्यों ?

* यह चारित्र कोई ऐसे ही मिला होगा ? आपने गृहस्थ जीवन में प्रभु की भक्ति की ही होगी । मैं ने स्वयं ने इस चारित्र के लिए कितने ही वर्षों तक भगवान के समक्ष प्रार्थना की है तब ही ये प्रार्थना फली है । संसार हमें कोई वैसे ही छोड़ता है ?

* आज प्रातः पत्रा-रूपा में जाना हुआ । वहां व्याख्यान देना पड़ा । मैंने वहां व्याख्यान में कहा, 'कहीं ये मत मानना कि भगवान अनुपस्थित है । भगवान भले मोक्ष में गये, परन्तु इस समय भी वे जगत् को नाम-स्थापना आदि के द्वारा पवित्र कर रहे हैं ।'

* आगमों को आगे रखे अर्थात् भगवान को आगे रखे । भगवान आगे होते हैं वहां मोह डर जाता है । भगवान के भक्तों को मोह कुछ भी नहीं कर सकता ।

* नाम भगवान ही है । मूर्ति भगवान ही है । कोई अन्तर नहीं है भगवान में और भगवान के नाम-मूर्ति में । यदि अन्तर होता तो समवसरण में तीन दिशाओं में रूप नहीं होते । तीन रूपों को लोग मूर्ति की तरह नहीं, भगवान की तरह ही देखते हैं ।

साक्षात् भगवान विद्यमान हों तब भी भगवान के नाम तथा मूर्ति की आराधना चालु ही होती है । भगवान तो फिर भी बदल जायें, परन्तु शाश्वत प्रतिमा कहां बदलती है ? वह तो सदा के लिए है ही । भगवान आदिनाथ से ही नहीं, अनादिकाल से नाम प्रभु एवं मूर्ति प्रभु की उपासना चालु है ।

जिसने नाम में भगवान देखे, उसने स्थापना में भी भगवान देखे । जिसने स्थापना में भगवान देखे, वह आगमों में भी भगवान देखेगा । प्रमाण दूं क्या ?

“नामजिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंद पडिमाओ ।”

यह गाथा याद है न ? क्या अर्थ होता है ?

एवंभूत नय भले यह माने कि देशना देते भगवान, भगवान

कहलाते हैं, परन्तु नैगमनय तो तीर्थंकर नाम कर्म के निकाचन के समय से ही भगवान मानता है ।

* शकस्तव में भगवान के विशेषण हैं, वे सभी भगवान की भिन्न-भिन्न अचिन्त्य शक्तियों को व्यक्त करते हैं । ये विशेषण हम किसी को दें वैसे केवल कहने के लिए नहीं, वास्तविक हैं ।

‘सर्वदेवमयाय, सर्वध्यानमयाय, सर्वतेजोमयाय ।’ क्या अद्भुत विशेषण हैं ?

‘चतुरशीति लक्ष जीवयोनि प्राणनाथाय’ इस विशेषण से समग्र जीवराशि में भगवान दिखाई देंगे । फिर किसी की हिंसा या आशातना करने का मन नहीं होता ।

भगवान यदि इतने व्यापक हों तो उन्हें कैसे भूल सकते हैं ?

भगवान के स्मरण एवं अनुसन्धान से ही अपनी क्रिया अमृत क्रिया बनती है । एक काजा लेने की भी क्रिया करो तब याद करो - यह क्रिया मेरे भगवान द्वारा कथित है तो कैसा भाव आये ?

भगवान को प्रत्येक क्रिया में जोड़ दे तो ही वह क्रिया कर्म क्षय करने वाली बन सकती है ।

हम भले ही भगवान को भूल जाये, परन्तु हमें माता-पिता ही ऐसे मिले हैं कि जो हमें भगवान याद करा दे; जैसे नौकारसी पारनी है, क्या करेंगे ? मुट्ठी बंध करके नवकार गिनना पड़ेगा न ? नवकार में भगवान हैं ।

आप चाहे भगवान याद न करें परन्तु व्यवस्था ही ऐसी हुई है कि आपको भगवान याद आयेंगे ही, यदि थोड़ा उपयोग उन क्रियाओं की ओर जाये ।

* निक्षेप अर्थात् वस्तु का स्वरूप, वस्तु का पर्याय । वस्तु का स्वरूप एवं वस्तु का पर्याय वस्तु से भिन्न होता है ?

अब सुनो, भगवान का नाम भगवान से कैसे भिन्न होगा ? व्याकरण-शास्त्री भी नाम-नामी का अभेद मानते हैं । ‘घड़ा लाओ’ ऐसा बोलो तो घड़ा ही आयेगा । भगवान का नाम बोलने पर भगवान ही आयेंगे । भगवान की मूर्ति याद करते ही भगवान ही आयेंगे ।

यह घड़ी (हाथ में घड़ी दिखाकर पूज्यश्रीने कहा) और घड़ी

यह नाम एक न हों तो धड़ी बोलते ही यह याद आयेगी ?

पत्र आपने लिखा, परन्तु एड्रेस पर नाम लिखना भूल गये तो डाक पहुंच जायेगी ? गाडी में बैठे, परन्तु गांव का नाम भूल गये तो क्या आप उस गांव में पहुंच सकोगे ? व्यवहार में भी नाम कितना उपयोगी है ?

भाव तीर्थकर के रूप में भगवान महावीर ने ३० वर्ष तक उपकार किया परन्तु नाम एवं मूर्ति के रूप में कितने वर्षों तक उपकार करेंगे ?

तीर्थकर कब तक रहेंगे ? उनके आयुष्य की मर्यादा होती है, परन्तु उनका नाम और मूर्ति सदा रहेंगे ।

तीर्थकर भले बदलें, नाम भी भले ही बदलें परन्तु याद रहे कि नाम दो प्रकार के हैं - सामान्य एवं विशेष । विशेष नाम भले ही बदल जायें, सामान्य नाम कहां जायेंगे ?

‘ऋषभदेव’ विशेष नाम है । ‘अरिहंत’ सामान्य नाम है । अब प्रस्तुत पर आते हैं ।

* ग्रन्थकार कहते हैं - जीवन में विनय आ गया तो सब आ गया । विनय गया तो सब गया । विनय नहीं देखने से ही स्थूलभद्रजी को भद्रबाहु स्वामीजी ने पाठ देने का इनकार कर दिया था ।

विनय जाने पर अविनय आयेगा । विनय यदि समस्त गुणों का प्रवेश-द्वार है तो अविनय समस्त दोषों का प्रवेश-द्वार है । इसीलिए इस ग्रन्थ में प्रथम द्वार ‘विनय’ है । विनय किसका करना चाहिये ? आचार्य का करना चाहिये । इसी कारण से आचार्य के गुणों का दूसरा अधिकार आया ।

कौन सा शिष्य आचार्य का विनय करता है ? अतः तीसरा अधिकार शिष्य के गुणों का कहा है ।

विनय से आदर बढ़ता है, चित्त में निर्मलता बढ़ती है, जिससे दूसरों के गुण हमें दिखाई देते हैं ।

आचार्य के गुण इसलिए बताये हैं कि शिष्य को पता लगे मुझे कैसे गुरु बनाने हैं ?

शिष्य के गुण इसलिए बताये हैं कि उसे कैसा जीवन जीना

चाहिये उसका ध्यान आये ।

गुरु बने हों इससे कोई शिष्य मिट नहीं जाते । सच्चा शिष्य ही गुरु बनता है, ऐसा इस ग्रन्थ में उल्लेख है ।

यह ग्रन्थकार समझाते हैं कि ज्ञान नहीं सीखना है, विनय सीखना है ।

यह बात समझाने के लिए 'विनय-निग्रह' नामक चौथा अधिकार बताया । विनय एवं भक्ति में कोई अन्तर नहीं है ।

विनय एवं सम्यग्-दर्शन में कोई अन्तर नहीं है । इसीलिए सम्यग्-दर्शन का वर्णन अलग नहीं किया । विनय आने पर सम्यग्-दर्शन आ ही गया समझो । अविनय आने पर मिथ्यात्व आया ही समझें । गोशालक, जमालि आदि में अविनय और मिथ्यात्व साथ ही आये थे । गुरु कुलवास छोड़ दिया तो विनय छोड़ दिया । सम्यग्-दर्शन छोड़ा, मिथ्यात्व स्वीकार किया । चालू स्टीमर में उसे छोड़ देनेवाले के लिए समुद्र में डूबने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है, उस प्रकार गुरुकुलवास को छोड़ देनेवाले के लिए संसार में डूबने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रहा ।

विनय से ही सच्चा ज्ञान आता है, यह बताने के लिए फिर पांचवा ज्ञान अधिकार रखा ।

ज्ञान दीपक है । आपके हृदय में वह जलता होगा तो अन्य हजारों दीपकों को जला सकेगा । आप अन्य हजारों दीपकों को प्रज्वलित करोगे न ? अधिक नहीं तो कम से कम एक दीपक प्रज्वलित करें ।

आपकों जो मिला है वह मुक्त हस्त से दूसरों के दें ।

ज्ञान और विनय जितने विकसित होंगे, उतना चारित्र आयेगा ।

अतः चारित्र-गुण छठा अधिकार रखा ।

इन सबके फल स्वरूप अन्त में समाधि मिलती है, अतः सातवां अन्तिम अधिकार 'मरण-गुण' रखा ।

अन्त में ग्रन्थकार कहते हैं कि हम अनादिकाल से पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र में फिरते रहते हैं । अब ऐसा प्रयत्न करें कि वह चक्र बन्द हो जाये । आत्मा स्व में स्थिर हो जाये ।

कल से 'ललित विस्तर' का स्वाध्याय प्रारम्भ करेंगे । मैं

अकेला नहीं, हमें सब मिलकर साथ-साथ स्वाध्याय करना है ।

जिन भगवान के लिए हम नित्य सात बार चैत्यवन्दन करते हैं, उन भगवान को यदि अच्छी तरह समझना हो तो 'ललित विस्तार' ग्रन्थ पढ़ना ही होगा ।

भगवान को जानो, सब जान जाओगे ।

भगवान को हृदय में लायें, सभी मंगल आ जायेंगे ।

भगवान सब से ऊंचा मंगल है ।

ॐ ॐ ॐ

वाक्यों में तारतम्य

'दे' जघन्य वाक्य ।

'नहीं है' उससे भी अधम वाक्य ।

'लो' वाक्यों का राजा ।

'नहीं ही चाहिये' वाक्यों में चक्रवर्ती ।

अखण्ड ज्योत

उबलक दूध (जीव) साधु का समागम पाकर शान्त हो गया, तब अवसर पाकर साधु ने उसमें समकित का 'मेलवण' डाला और दही बनाया ।

उपाध्याय भगवन्त ने मंथन (अनुप्रेक्षा) कर के मक्खन निकाला ।

आचार्य भगवन्त ने उसे तप की अग्नि से तपाकर घी बनाया ।

घी बोला, 'अब मुझे भगवान के पास जाना है । कहां है भगवान ?'

'भगवान तो मोक्ष में गये । हां, मन्दिर में स्थापना के रूप में वे अवश्य प्रतिष्ठित हैं ।'

'तो मैं वहां जाऊंगा ।'

भगवान के पास रही अखण्ड ज्योति के कोडिये में रहकर घी जल-जलकर ऊपर (सिद्धशिला पर) जाने लगा ।

भगवान के बिना इस संसार में कहीं भी वह रह नहीं सकता था ।

ॐ ॐ ॐ

सहनशक्ति का रहस्य

'आप में इतनी अधिक सहनशक्ति कहां से आई ?'

'ऊपर, नीचे और बीच में देखने से ।'

'मतलब ?'

'ऊपर देखता हूं तो मोक्ष याद आता है । नीचे देखता हूं तो धरती दिखाई देती है । और मैं सोचता हूं - मुझे कितने फूट जमीन चाहिये ? व्यर्थ झगड़े किस बात के ? और आसपास देखता हूं तो वे लोग दिखाई देते हैं, जो मुझसे भी अधिक कष्ट सहन कर रहे हैं । यह है मेरी सहनशक्ति का रहस्य ।'

(जिज्ञासुओं के द्वारा अप्रतिम सराही गई पुस्तक)

- कहे कलापूर्णसरि - २**

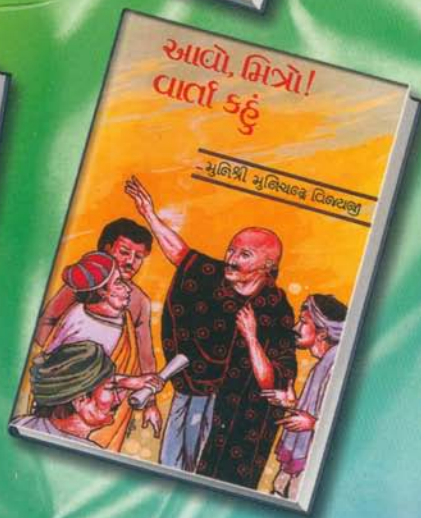
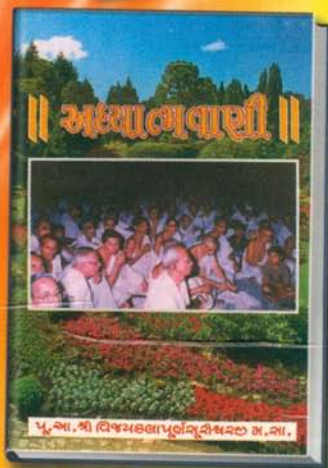


બેંગ્લોર ચાતુર્માસ - પ્રવેશની ઝલક - વિ.સં. ૨૦૫૧

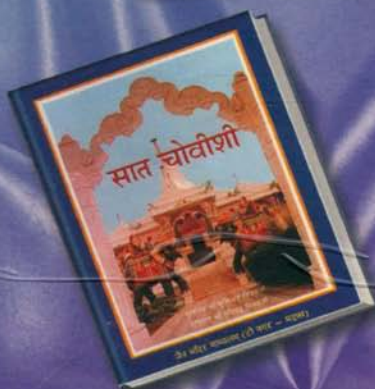
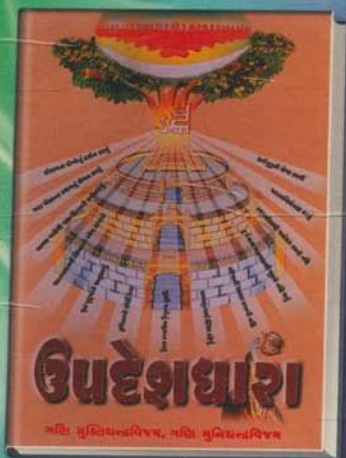
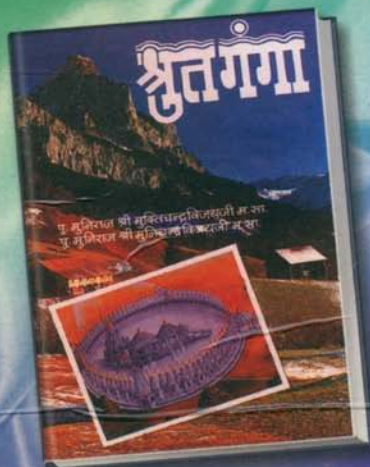
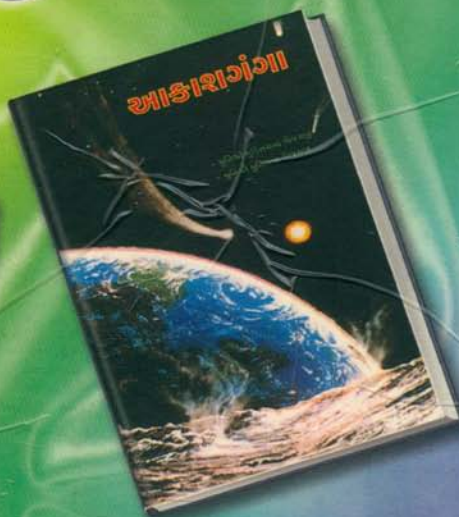


‘અધ્યાત્મ-વાણી’ પુસ્તકનું વિમોચન - બેંગ્લોર - વિ.સં. ૨૦૫૧

પૂજ્ય બંધુ-યુ



લનું સાહિત્ય



मैं तो लाउड स्पीकर का भोंपू हूँ।
भोंपू बोलता नहीं है, किसी का बोला हुआ
केवल आपके पास पहुँचाता है। मैं भगवान
द्वारा कहा हुआ केवल आपके पास पहुँचाता
हूँ। यहां मेरा कुछ भी नहीं है।

- कहे कलापूर्णसूरि-२, पेज-३
पोष सुद. १४, गुरुवार
दि. २०-१-२०००, अंजार (कच्छ)

